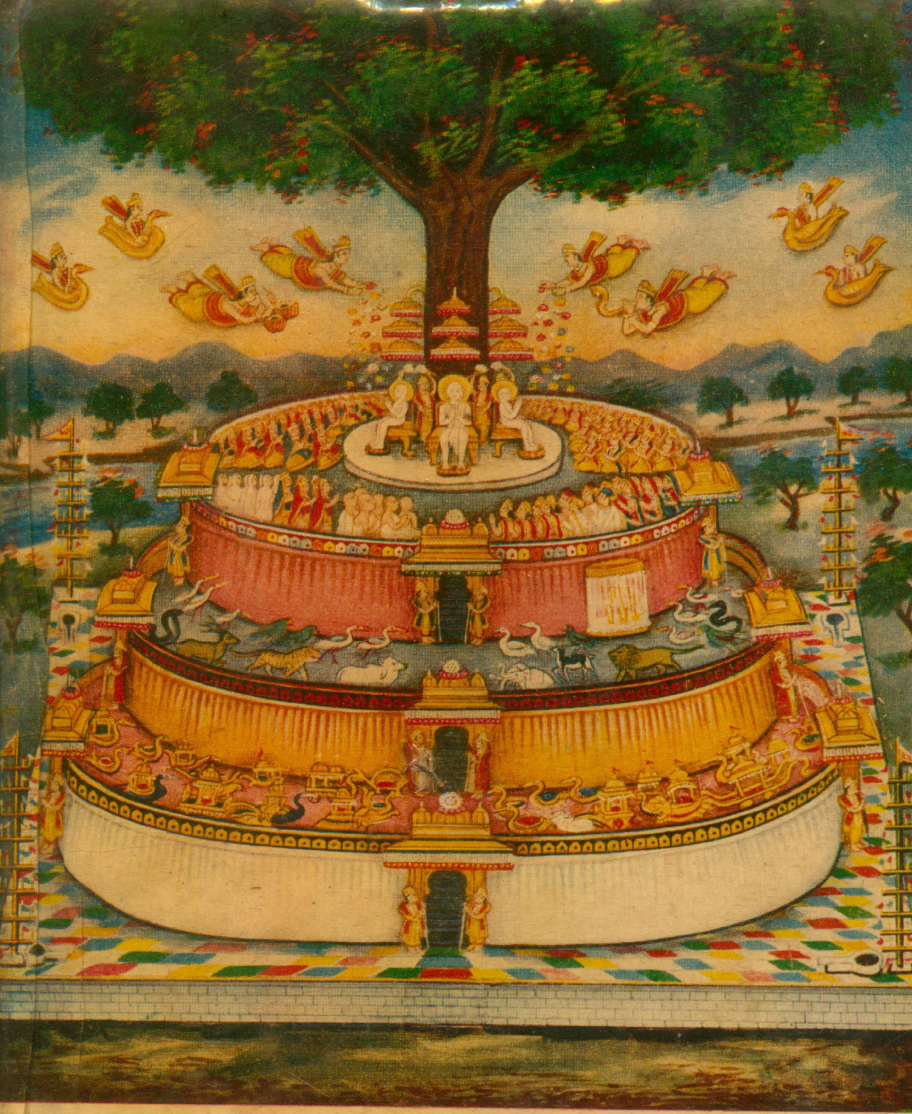

श्री भगवतीसूत्र सार संग्रह

भाग तीसरा (हिन्दी) शतक-१२-२०

ॐ ह्री अर्हं नमः

शासनपति श्री महावीरस्वामिने नमः

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरीश्वराय नमः

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह

[हिन्दी भाषा]

(भाग तीसरा शतक १२ से २० तक)

मूललेखक :

स्व. शासनदीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के शिष्यरत्न

न्याय–व्याकरण–काव्यतीर्थ

पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण)

卐 卐 卐

अनुवादक :

झवेरचंद जी. गाला

मुंबई समाचार (तंत्रीविभाग)

प्रकाशक :

श्री जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह
C/o. श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला,
पोस्ट : साठंबा (साबरकांठा) वाया धनसुरा A. P. Rly.

●●

प्रथमावृत्ति गुजराती २००० प्रति
प्रथमावृत्ति हिन्दी १००० ,,

वीर संवत	विक्रम संवत	धर्म संवत	इ. संवत
२५०९	२०३९	६१	१९८३

मूल्य : १५-०० रुपये

●●

मुद्रक :
कमलकांत आर. तिवारी
संगीता प्रिंटिंग प्रेस,
५, कपूर काटेज, छठवां रास्ता
सांताक्रुझ (पूर्व,) बम्बई-५५.

जैनी वाणी स्तुति

जीयाद् जीयाद् सदा जीयात् जैनीवाणी जगत्त्रये ।
संसारतापदग्धानां जीवानां सौख्यदायिनि ॥१॥

महाधीरा च गम्भीरा त्रिलोकी द्रव्यसाधिका ।
वाणी तीर्थकृतां मान्या देवदानवमानवैः ॥२॥

अर्हद्वक्त्रप्रसूता या कर्मौघदाहने क्षमा ।
मोहक्षोभशमे मुख्या मोक्षमार्गविधायिका ॥३॥

मन्मतिज्ञान लाभार्थं भाषानुवाद गुम्फिता ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिः पूज्या सा. पूर्णानन्दं ददातु मे ॥४॥

जैनीवाणी प्रथयतु सुखं मादृशेभ्यो जनेभ्यः ।
"पूर्णानन्दा" जिनवरमुखे शोभमाना सदैव

पापासक्तैर्विनयरहितैः क्रोधमायासुबद्धैः
सेव्या पूज्या नहि भवति या दुर्जनैः सा सतीव ॥५॥

" विजयधर्मसूरि स्तुति "

जातो यन्मुखभाभरैरभिभवाद् म्लानोऽन्तरिन्दुः शुचा
यद्देहद्युतितोऽजलक्षतितरां भस्मीबभूव स्मरः ।

यद् भाग्यार्जनचिन्तया सुरगणोऽस्वप्नोऽविनिद्रोऽभवन्
ज्ञानाद्वैतमतं पुनः प्रकटितं व्याप्तेर्भुवो यद्धिया ॥१॥

प्रौढप्रतापभाजो जगदुपकारा जयन्ति ते गुरवः ।
शास्त्रविशारदजैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीन्द्रः ॥२॥

प्रमाणपरिभाषाग्रन्थ टीकाकारः

स्व. मुनिराज श्री न्यायविजयजी म.

न्यायविशारद, न्यायतीर्थ

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्री.

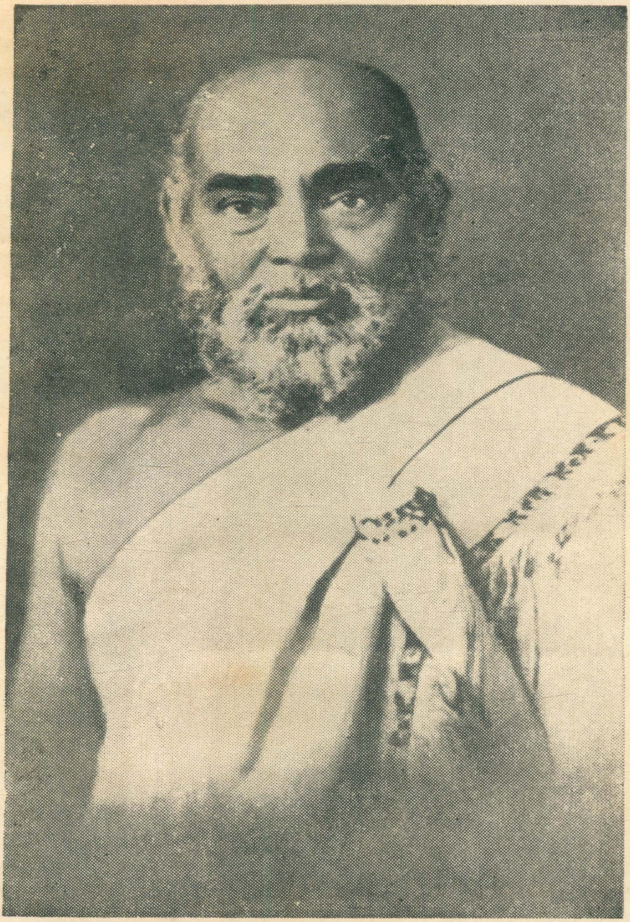

श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरजी म. सा.

A. M. A S. B. H. M. A. S. I. H. M. G. O. S..

जन्म सं. १९२४	दीक्षा सं. १९४३	स्वर्गगमन सं. १९७८
महुवा (सौराष्ट्र)	भावनगर	शिवपुरी (म. प्र.)

लेखक के गुरुवर्य
शासनदीपक, स्व. मु.
श्री १००८
श्रीमद्विद्याविजयजी म.
स्वर्गगमन : सं. २०११
मागसर कृष्ण १२
शिवपुरी (म. प्र.)

समर्पण

—ब्रम्हचर्य की साधना से, मन-वचन तथा शरीर प्रबल पुरुषार्थमय थे।

—अनुभव, ज्ञान द्वारा प्रवृत्तिशील होने पर भी अपने आध्यात्मिक जीवन में सुव्यवस्थित थे।

—स्वार्थ त्यागपूर्वक जो परार्थव्यसनी थे।

—वाणी में मिठास, आंखों में ओज, ललाटपर चारित्र की चमक, हृदय में दया, ओष्ठ पर सरस्वती और हाथों में लक्ष्मीदेवी का वास था।

—अहिंसा का प्रचार, संयम का स्थापन, तप का आराधन ही उनका ध्येय था, लक्ष्य था।

वे परमपूज्य गुरुदेव १००८ श्री

विद्याविजयजी महाराज

के करकमलों में इस आगमीय ग्रन्थ को समर्पित कर मुझे आनन्द है।

वरली बम्बई ४०००१८
२०३९ संवच्छरी

लि. चरणसेवक
पूर्णानन्द विजय

शासनदीपक श्रीविद्याविजय गुरुवन्दना

आबाल्यं ब्रह्मचर्यं जिनवचनबलात् पालयन्तस्त्रिधायै,
निष्णाता आगमाब्धौ जनिमृतिभयदं मोहशत्रुं जयन्तः ।
त्यक्त्वा स्वार्थं परार्थे सुविमलहृदये धर्मध्यानं दधाना,
जीयासुस्ते हि विद्याविजयगुरुवराः भूतले ज्ञानपूर्णाः ॥१॥

यद्वाचामृतपानलुब्धमनसः प्राज्ञाः सदोपासते,
ये भव्यान् प्रतिबोधयन्ति वचनैः सद्धर्मतत्त्वं मुदा ।
तत्त्वातत्त्व विचारणैकपटवो विद्याब्धिपारं गताः,
ते विद्याविजया जयन्तु भुवने चारित्ररत्नाकराः ॥२॥

येऽजस्रं परित्यज्य स्वार्थमखिलं लोकोपकारोद्यतः,
येषां नो हृदये सदा स्वपरता येषां कुटुम्ब जगत् ।
हेयादेय समस्त वस्तु निवहं ये बोधयन्तां जनान्,
तद्विद्याविजयांघ्रिपद्मयुगले ध्यायामि मे मानसे ॥३॥

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीभगवतीसूत्र सारसंग्रह के चारों गुजराती भागों में, भगवतीसूत्र का इतना सुन्दर, स्पष्ट विवेचन प्रकाशित करने का लाभ हमारे साठंबा संघ को प्राप्त हुआ है, उसमें परमदयालु परमात्मा की भक्ति, कुछ कर फिटने की आन्तरिक इच्छा के साथ पूज्य पंन्यासजी महाराज की कृपा ही फलवती है। इतने पवित्र सूत्र का हिन्दी अनुवाद हो, यह भावना इसलिए थी जिससे, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मेवाड़ उत्तर प्रदेशादी के भाग्यशाली भी लाभान्वित हो सके। आज हिन्दी में तीसरे भाग को प्रकाशित कर रहे हैं। चौथे भाग का अनुवाद चालू है।

केवल नाममात्र की हमारी संस्था का ध्येय व लक्ष्य पवित्र होने से निःस्वार्थ भाव से कुछ अच्छी सेवा करने के आशय से ही हम आगे बढ़ सके है। हमारे पास न फंड है, न उसकी इच्छा है फिर भी संघों की तथा ज्ञानप्रेमी भाग्यशालीओं की मेहरबानी होनेसे समय समय पर काम पूरा हो जाता है। अतः इस प्रकाशन में भी उदारदिल पुण्यशालीओं ने उदारतापूर्वक रकम दी है, उन्हे धन्यवाद देते हैं।

संगीता प्रेस सांताक्रुझ के मालिक कमलकान्त तिवारीजी का हम शुक्रिया मानते हैं, जिन्होंने शीघ्रता से काम पूर्ण किया है। अन्त में शासनमाता श्री पद्मावतीदेवी से यही प्रार्थना है कि हमारे आगे बढ़ने में हमें मददगार बने रहे। द्वादशांगी का दशमा अंग श्री प्रश्नव्याकरण छपने को प्रेस में जाने की तैयारी है।

जीवनसुखी कैसे बने भाग-१ का हिन्दी प्रकाशन भी तैयारी में है।

-प्रकाशक

लेखकीय निवेदन

शतक १२ से २० पर्यंत विस्तृत तथा सर्वग्राह्य विवेचन से पूर्ण 'भगवती-सूत्र सारसंग्रह' का तीसरा गुजराती भाग वि. सं. २०३५ में प्रकाशित हुआ था, आज उसको हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने पर मुझे अतीव प्रसन्नता है। ४६ वर्ष के चारित्र पर्यायों में जिनेश्वरदेव की द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ इस सूत्र की यथाशक्ति सेवा कर सका हूँ, तथा पंडितों से लेकर सर्वसामान्य जिज्ञासुओं को एक उत्तमोत्तम भेंट दे रहा हूँ तदर्थ इस पवित्र कार्य में मुझे आनंद क्यों नहीं होगा ? फिर भी इस भगीरथ कार्य में बाह्य तथा आन्तर दृष्टि से जिनका सहकार मिला है, उन सबों का मैं ऋणी हूँ।

(१) स्वप्न में भी श्रद्धेय, ध्येय, स्मरणीय, परमपूज्य, गुरुदेव श्री विद्या-विजयजी म. का असीम आशीर्वाद मेरे क्षयोपशम का मुख्य कारण बना है उसके बिना मेरे जैसा निसहाय तथा प्रमादी को उत्साह नहीं आ सकता है।

(२) स्व. मनसुखलाल, ताराचंद मेहता, तथा अन्यान्य भगवतीसूत्र के प्रकाशक व लेखक, तथा समय समय पर द्रव्य सहायक बननेवाले संघ व भाग्यशालीओं का स्मरण भूला नहीं जाता।

(३) मेरी विनंती को मान्यकर प्रेसकोपी का चेकिंग तथा प्रस्तावना लिखकर देनेवाले परमपूज्य जैनाचार्य श्री विजयकीर्तिचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज का उपकार कैसे भूल सकता हूँ।

(४) मुझे भगवतीसूत्र के योगोद्वहन करानेवाले शान्तमूर्ति, जैनाचार्य श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी व सुबोधसूरीश्वरजी सदैव स्मरणीय हैं।

(५) मेरे विवेचन में मूलसूत्र तथा टीका की मदद शतप्रतिशत ली गई है। मेरी यथामति प्रत्येक विषयों को न्याय देने में मैंने प्रमाद नहीं किया है, फिर भी मतिज्ञानावरणीय कर्म से या मुद्रणदोष के कारण क्षति दिखे उसे शुद्धिपत्रक में से सुधारें, और मुझे क्षमा करें आखिर में सब प्रकार से सहायक बननेवाले वडिलों का अभिनन्दन तथा दूसरों का अभिनन्दन को विराम लेता हूँ।

शासनमाता, श्री पद्मावतीमाता से मेरी प्रार्थना है कि चतुर्थ भाग का हिन्दी प्रकाशित करने में सहायक बने। अन्त में परमदयालु परमात्मा से यही प्रार्थना है

एकेन्द्रियादि संसारो, मया प्राप्तोप्यनेकशः
अधुना प्रार्थये देव न देयं तत्र जन्म मे।
प्राप्नुयां शासनं जैनं, वाणी भागवतीं पुनः
चरणं देवदेवस्य भवान्तरेऽप्यनेकशः

२०३९ श्रावण पूर्णिमा
वरली बम्बई-१८

लि. संवघशंवद
पं. पूर्णानन्द (कुमार श्रमण)

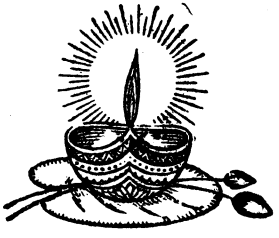

प्रस्तावना
(गुजराती का अनुवाद)

ले. लब्धिलक्ष्मण शिशु पू. विजयकीर्तिचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह के दलदार ग्रन्थ भाग १–२ प्रकाशित हो चूके हैं। आज लगभग ६०० पृष्ठों का यह तीसरा भाग जिज्ञासुओं के करकमल में हजिर हो रहा है।

तात्त्विक विषयों को भी सरल तथा सीधी भाषा में अनुवाद करने की कला हस्तगत किये हुए विद्वर्य पंन्यासजी श्री पूर्णानन्दविजयजी गणिवर (कुमार श्रमण) के हाथ से लिखा गया यह तीसरा भाग तत्वजिज्ञासुओं को जरुर जरुर पसंद पड़ेगा इसमे शंका नहीं है।

श्री भगवतीसूत्र द्रव्यानुयोग का अजोड़ खजाना है, जिसमें मुख्यत: द्रव्यादि पदार्थों की तात्त्विक चर्चा विचारणा की गई है, तथापि गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग तथा कथानुयोग के विषय भी स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं परंतु वे गौण हैं।

इसमें तथा प्रथम द्वितीय भाग में प्रथम शतक से बीस (१–२०) शतकों का विशद विवेचन किया गया है। जहां पर जिस तरह विवेचन करना होता है वहां पर वैसे ही किया है। जहां संक्षेप से चाहिए वहां संक्षेप से किया है।

श्री भगवतीसूत्र के जटिल तथा गहन विषयोंपर कलम चलाना सरल

काम नहीं है, तो फिर लोकभोग्य तथा विद्वद्भोग्य शैली में, शास्त्र के वफादार रहकर, विशिष्ट तथा बोधदायी रस शैली में निरुपण-प्ररुपण-विवेचन करना बहुत ही जटिल व कठिन कार्य है, इस तथ्य को साधारण जनता समझ न सके वह स्वाभाविक है इसीलिए कहा गया है कि :-

विद्वान् एव हि जानाति - विद्वज्जन परिश्रमम् ।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥

ऐसे भगीरथ कार्य में गुरुकृपा (आशीर्वाद), शारदा मैया की कृपादृष्टि ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम, अविरत परिश्रम, खंत लगनी, तथा कुछ भी करने की तमन्ना उपरांत हार्दिक उत्साह होता है। तभी तो ऐसे शुभकार्य निर्विघ्न पूर्ण होते हैं अन्यथा 'अच्छे कार्यों में हजार विघ्न' प्रारंभ किया हुआ कार्य भी अधूरा रहता है।

गहनातिगहन प्रस्तुत आगम ग्रन्थ की विवेचन पद्धति में निरर्थक भाषा का आडंबर तथा पंडिताई का दिखावा देखने में नहीं आयेगा, जभी तो भाषा शैली सरल गंगानदी के प्रवाह जैसी स्वच्छ तथा सुंदर बनने पाई है। जो इस ग्रन्थ के विषय की पिपासा तथा जिज्ञासा रखनेवालों के लिए आशीर्वाद तुल्य बनेगी यह मैं निःसंदेह कह सकता हूँ।

माता जिस प्रकार अपने बालक को वात्सल्यभाव से भोजन का कवल तैयार कर उसके मुंह में रखती है और बच्चा बड़े प्रेमसे उसे गटागट कर लेता है उसी प्रकार लेखक ने भी वाचक जिज्ञासु तथा तत्वपिपासुओं पर अनहद करूणा भावसे इतने गहरे विषयों को भी सीधी तथा सरल भाषा में हाजिर किये, जिससे अत्यन्त आसानी से सब कोई समझ सके और लाभान्वित हो सके।

वर्तमान काल में तात्विक तथा सात्विक विषयों की जिज्ञासा में

बड़ी कमी आई हुई है। जनता को भी कथा डिक्टेटिव काल्पनिक श्रृंगार रस पूर्ण नोवेल उपन्यास आदि में रस आता है, जिससे जनमानस ज्यादा से ज्यादा विकृत बना और उन्मार्ग पर प्रस्थान कर पाया है। फलस्वरूप होटल - हास्पीटल - कालेज - होस्टेल, टेलीविजन, सिनेमा, क्रिकेट फेशनालिटी के शिकार बनने पाई है। जिसके कड़वे फलों की बक्षीस ही कुटुंब-समाज तथा देश के भाग्य में रहने पाई। जब कि पाश्चात्यदेश का 'आइन् स्टाइन' जैसे विद्वान "आत्मा" को मानने के लिए तैयार हुए है। विज्ञान का विकास जैसे जैसे हुआ है, तद्नुसार वे भी संसार के संचालन में 'चेतन' नाम के पदार्थ को मान रहे हैं। समय की सूक्ष्मता तथा परमाणु के शोध में लगे हैं। जब इन सब तत्वों की चर्चा जिस भारत में हुई है, वे भारतीय फेशनालिटी में डूबकर धर्म के स्थानों से अलग दिशा में जा रहे हैं।

द्रव्य गुण और पर्याय का सम्पूर्ण व सूक्ष्मज्ञान, सर्वज्ञ भगवंतों के सिवाय दूसरे किसी के पास नहीं हो सकता है, इसीलिए सर्वज्ञ परमात्मा वीत्तरागदेव ही उपास्य है, आराध्य है, तथा उन्हीं के वचन टंकशाली तथा शतप्रतिशत सत्य तथा प्रमाणी भूत है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा ही सम्यगज्ञान का फल है।

ऐसे विषमय विषम काल के विषमवातावरण में साधु-सन्तों को भी जागृत बनने की आवश्यकता है। कहीं पर सुखद व प्रशस्य प्रयत्न हो रहे हैं उसका आनन्द है, तो भी पुनः अपने माने हुए चौके में चले गये तो परिणाम अच्छा नहीं रहेगा। "साक्षरा यदि विपरीताः स्युः तर्हि राक्षसा भवन्ती" ऐसी दशा न हो जाय, उसके लिए 'नमो लोए सव्वसाहूणं' मित्तिमें सव्वभुएसु को जैन शासन का मूलमंत्र समझकर पक्ष विपक्ष का आग्रह - कदाग्रह और एकाग्रह में प्रवेश न करे उसका पूरा ध्यान सबों को रखने का है।

लेखक पंन्यासजी ने, समाज के चोकीदार बनके 'जागते रहो जागते रहो' का नारा लगाकर समाज को जगाने का प्रयत्न किया है।

द्रव्यानुयोग का विषय ही इतना सुंदर तथा सरस है, कि आत्मा उसके चिंतन मनन तथा निदिध्यासन में तन्मय बन जाता है। इसीलिये सहस्रावधानी सूरिपुरंदर श्री मुनिसुन्दरसूरीश्वरजी महाराजने, मायावी, भौतिक पदार्थों में भटकते चित्त को, मन को तथा बुद्धि को स्थिर करने के उपायों में 'स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु' अर्थात स्वाध्याय धर्म ही मन आदि को एकाग्र करने का अमोघ साधन कहा है। श्रीमाषतुषमुनिजी स्वाध्याय में लीन होते ही केवलज्ञान प्राप्त कर सके हैं। क्योंकि स्वाध्यायधर्म, उत्कृष्ट-तम आभ्यंतर तप होने से संवर तथा निर्जरा का मौलिक कारण है। इसी कारण से घड़ी-आध-घड़ी का समय निकालकर, इन्सानमात्र को स्वाध्याय करना लाजमी है, जिससे नये ज्ञान की प्राप्ति होगी व पहले के ज्ञान का परिवर्तन होगा। इसप्रकार ज्यों ज्यों सम्यगज्ञान बढ़ेगा, त्यों त्यों तत्व प्राप्ति की जिज्ञासा भी बढ़ेगी और अज्ञान की नाबुदी होगी। अतः कहा गया है कि, बड़े पुण्य से प्राप्त हुए सम्यगदर्शन तथा चारित्र को शुद्ध, निरतिचार तथा स्थिर करने का मुख्य कारण ही सम्यगज्ञान है।

प्रस्तुत तीसरा भाग बारहवे शतक से प्रारंभ हो रहा है, जिसके प्रथम उद्देशक में, परमात्मा महावीरस्वामी का श्रावस्तीनगरी में पधारना, जीव अजीव आदि का निरुपण तथा शंख और पुष्कली का अधिकार आता है। लेखक ने जीवाजीवादि नवें तत्वों की चर्चा संक्षिप्त फिर भी प्रमाणपुरःसर की है। तदन्तर, बुद्धजागरिका, अबुद्ध जागरिका तथा सुदर्शन जागरिका के वर्णन में केवलज्ञानी को प्रथम, सर्वविरतिवंतों को दूसरी तथा सम्यग-दृष्टि जीवों को तीसरी जागरिका का वर्णन है। उसी प्रसंग में कषायों की भयंकरता, उसके कटुतम फल का विवेचन असरकार व सुस्पष्ट तथा सुवाच्य शैली में किया है, जो हृदयस्पर्शी बनने पाया है। दूसरे उद्देशक

में उदयन राजा की बुआ (पितृभगिनी) शय्यातरी श्रीमती जयंती श्राविका के प्रश्नों तथा प्रभु ने दिये हुए जवाबों पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जो हृदयंगम करनेलायक है। प्रश्न तथा उत्तर जानने लायक है "लद्धट्ठा, गहिअट्ठा, पुच्छिट्ठा तथा विनिच्छिअट्ठा" इन वाक्यों का चरितार्थ इन प्रश्नोत्तर में साफ दिख रहा है।

प्रश्न ये हैं : जीव भारी कैसे बनता है? और हलका कैसे बनता है? जीवों का निद्राधीन होना अच्छा है? या जागना? जीवों को सशक्त या दुर्बल होना अच्छा है? दक्षता ठीक है या प्रमादिता? संसार एक दिन जीवरहित हो जायेगा क्या? भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक का विवेचन हृदयंगम बना है। तीसरे में नरक का वर्णन, विष्णुओं के भागवत में भी नरक के दुःखों का वर्णन कैसा है? चतुर्थ में पुद्गलों का परिणमन, उनकी विचित्रता, परमाणु का लक्षण, उसमें वर्ण-गंध-रस तथा स्पर्श चार या आठ स्पर्शों का वर्णन स्कंध किसे कहना? उसका संघठन, विघटन तथा वर्णादि का परिणमन कैसे होता है? पुद्गल परिवर्तन किसे कहना? पाचवें में कषायों, पापस्थानकों तथा लेश्याओं का विवेचन है। छठे में सुर्यचन्द्र के ग्रहण का रहस्य, वस्तुतः ग्रहण कहा है? पर्वराहु तथा नित्य राहु किसे कहना, उनके विमानों का वर्णन, ग्रहण अशुभ क्यों कहलाता है? उसका स्पष्टीकरण साथ चन्द्रबल व ताराबल का भी वर्णन है। सातवे उद्देशे में लोक का विस्तार, आकार, प्रकार, शाश्वत, नित्य स्थिति, नरकावास की स्थिति-संख्या, जीवों की रखडपट्टी क्यों? देवों के भोगविलासों का परिणमन, नागपूजा क्यों? द्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, भावदेव, तथा देवाधिदेव का स्वरूप, वैक्रिय शरीर की विचित्रता का वर्णन है।

तेरहवे शतक में सातों नरक के जीवों में लेश्याएं कितनी? नरकावास कितने? विभंगज्ञान किसे कहना? भवनपति के आवासों की

संख्या, व्यंतर-वाणव्यंतर देवों की उत्पत्ति, उद्वर्तन, सत्ता तथा लेश्याओं का वर्णन है। चार प्रकार की भाषा, द्रव्य तथा भाव मन। भाषा तथा मन रुपी है ? अरूपी है ? सचित्त है या अचित्त ? उसके बाद पांच प्रकार के शरीरों की बात है। छठ्ठे उद्देशक में पांच प्रकार की मृत्यु का विशद वर्णन है। आठवे में कर्मो की सत्ता, स्थिति-रस व प्रदेशबंध विवेचित हैं। कर्म प्रथम है ? या जीव ? रस बंध की विचित्रता का रोचक वर्णन है। तदुपरांत रसाघात, गुणसंक्रमण किसे कहना ? नववें उद्देशक में लगे हुए अविचारों की आलोचना तथा दोषों का परिमार्जन न किया गया तो ? प्रतिक्रमण की महत्ता पठनीय है। समुद्घात का विवेचन प्रथम भाग में देखा जाय। चौदहवें शतक में राजगृहीनगरी में भगवान पधारे, श्रेणिक राजा साडंबर आये। गौतमस्वामी भावित अणगार के मरणविषयक प्रश्न पूछते हैं।

अठारवे शतक में दसवें उद्देशक में सोमल द्विज के प्रश्न अन्त में लिए बारह व्रतों पर लेखक की कलम अच्छी तरह सफल बनने पाई है। १६-२० शतक में दूसरे बहुत प्रश्नोत्तर उपरान्त धर्मास्तिकायादि के पर्यायों की शास्त्रीय चर्चा खूब विस्तार से की गई है। अठारह पापस्थानकों की चर्चा जूदेजूदे आगमपाठ देकर बहुत ही गंभीरतापूर्वक पूर्ण की है। इस प्रकार नव शतकों से पूर्ण प्रस्तुत पुस्तक में यथाक्रम प्रत्येक प्रश्नों का संक्षेप तथा विस्तार से वर्णन करने में आया है। जिसका पठन करना ही लाभदायक है प्रस्तावना छोटी ही अच्छी यह समझकर प्रस्तुत पुस्तक की हृदयंगम करने की सिफारिश करता हूँ।

इस भाग में द्रव्यानुयोग का कितना ही भव्य तथा दिव्य खजाना स्थापित करने में आया है। आकर समान ऐसे आगमीय ग्रन्थों का चिंतवन मनन व निदिध्यासन करते करते कितने ही कर्मो की निर्जरा आसानी से हो सकती है, वह सहज में समझ सकते हैं।

तीसरा भाग प्रकाशित होने के बाद चौथे व पांचवे भाग की अभिलाषा बनी रहना स्वाभाविक हैं। विद्वान पंन्यासजी महाराजने अपने समय का कितना सदुपयोग किया है। कितने ही ग्रन्थोंका दोहन-अवलोकन किया होगा ? वस्तुत: वे साधु धर्म की क्रियामें आचार विचार में प्रवृत रहकर समयं मा पमायए' इस सूत्र को सत्य करके अपने जीवन को उज्वलित किया है। वे बम्बई जैसे शहर में भी भक्तों से दूर है।

आखिरी में विवेचन विशारद पंन्यासजी महाराज का पुन: पुन: अभिनन्दन करता हूँ। मुझे संशोधन की तक देकर स्वाध्याय का लाभ दिया तदर्थ आनन्द का अनुभव करता हूँ।

पंन्यास प्रवर पूर्णानन्द विजयजी (कुमारश्रवण) दीर्घायुष्य होकर शासन प्रभावना में साहित्य प्रचार में तात्विक लेखन कार्य में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा प्रगती साधते रहे "तथा साध्नोति स्वपर हितानि इति साधु" इस व्याख्या को चरितार्थ करे यही आनन्तर अभिलाषा !

दहीसर
२६-६-७०

लेखक
लब्धिलक्ष्मणशिशु कीर्तिचन्द्रसूरि

नोंध-गुजराती तीसरे भाग की प्रस्तावना हिन्दीकरण में छापी जा रही है। उसके बाद गुजराती चौथा भाग भी छप गया है जिसमें भगवती-सूत्र की पूर्णाहुति हुई हैं। हिन्दीकरण में १-२ भाग छपकर, आज तीसरा भाग समाज के करकमलों में आ रहा है।

--प्रकाशक

ग्रन्थलेखक : न्या. व्या. काव्यतीर्थ पन्यासश्री

श्रीमत् पूर्णानन्द विजयजी म. (कुमार श्रमण)

दीक्षा. वि. सं. १९९४ मागसुदि १० करांची (सिन्ध)

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की जीवनी

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी की ७४ वीं पाट को सुशोभित करने वाले नवयुगप्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज के प्रशिष्य, शासनदीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्यरत्न, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयश्री महाराज का जन्म, राजस्थान, पाली जिलान्तर्गत, सादड़ी शहर में हुआ था जो गगनचुंबी जैन मंदिरों तथा श्रद्धाशील श्रमणोपासकों से सुशोभित शहर है। उसके वडावास में रहनेवाले बाफनागोत्रीय सेठ नेमीचंदजी के वे संसारी पुत्र थे। माताजी का नाम मोंघीबाई तथा उनका संसारी नाम पुखराज था।

यौवन के प्रारंभकाल में उन्होंने संसार की निःसारता देखी और दीक्षा-लेने की भावना उत्पन्न हुई। मनस्वी पुरुष अपनी अच्छी भावनाओं को जीवन में उतारने में देर नहीं करते, जिससे वे सिन्ध करांची शहर में बिराजमान मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के पास जाकर अपनी भावना प्रकट की, और खूब धामधूम से विक्रम सं १९९४ के मागसर शुक्ल १० को ता. १३-१२-३७ के दिन दीक्षा ली, उनका नाम पूर्णानन्द विजयजी रखने में आया।

दीक्षित होने के बाद शिक्षित बनने के लिए अभ्यास में अपना मन स्थिर किया। गुरू के वचनों पर अतूट श्रद्धा होने से उनकी आज्ञानुसार पंचप्रतिक्रमण प्रकरण, कर्म, ग्रन्थ, तत्त्वार्थ सूत्रादि का अभ्यास पूर्ण करके

संस्कृत हैमलघु प्रक्रिया व्याकरण में प्रविष्ट हुए। थोडे ही समय में संस्कृतभाषा पर अच्छा काबू प्राप्त किया। फलस्वरूप करांची में ही हजारों इन्सानों के बीच कल्पसूत्र सुबोधिका के अमुक व्याख्यान वांचने में सफल हुए। तदन्तर लघुवृति द्व्याश्रय महाकाव्य आदि का अभ्यास किया। गुरूमहाराज के साथ शिवपुरी आये, और दादागुरू श्री विजयधर्मसूरि के समाधि मंदिर की पवित्र छाया में परीक्षा के माध्यम से वहां के विद्वान पंडितों के पास अभ्यास करने में दिनरात एक कर पाये। केवल छः वर्ष में लघुवृति, बृहद्वृति न्यायसंग्रह, क्रियारत्नसमुच्चय, पंचकाव्य, स्थाद्वाद मंजरी प्रमाण मीमासा, रत्नाकर अवतारिका तथा तत्त्वार्थ भाष्य के उंडे पठन-पाठन करने के साथ कलकत्ता संस्कृत एसोसीअेसन की डिग्री परीक्षाएं देकर न्याय व्याकरण काव्यतीर्थ के पदधारक बने, साथसाथ अन्य दर्शनग्रन्थों के उपरांत जैनागमों में भी प्रवेश कर चुके थे। अपने गुरूदेव की उपस्थिति में भगवतीसूत्र को व्याख्यान में वांच सके थे। पढ़ाने का शौक होनेसे कितने ही विद्यार्थिओं व्याकरणन्याय तथा काव्य के ग्रंथ पढ़ाने के उपरान्त ज्योतिष विषय में ताजिक जातक प्रश्न व आरंभ सिद्धि को भि पठन पाठन में प्रवेश करा चुके थे।

पूज्य पंन्यासजी का तथा मेरा संबंध विद्याक्षेत्र में गुरु शिष्य के रुप से रहा है। जिसे आज दिन तक उस संबंध को पंन्यासजीने सुरक्षित रखा है। इसीलिए मैं कह सकता हूँ कि आप सरल विद्याव्यासंगी तथा खूब परिश्रमी है। निकम्मा बैठना उनके भाग्य में नहीं होने से पढ़ना, लिखना, वांचना आदि में व्यस्त रहते हैं।

उनके आन्तरजीवन का ख्याल आवे तदर्थे २-३ प्रसंग बतलाना मुनासिब समझता हूँ।

(१) प्रतापगढ़ राजस्थान के गुमानजी के मंदिर में पंन्यासजी चातुर्मास बिराजे हुए थे! एक दिगम्बरमुनिजी भी वर्षावास के लिए पधारे हुए थे। कानजी स्वामी के मत प्रचारक एक यतिजी भी पधारे हुए थे। दिगम्बरमुनिके

विचार पंन्यास जी के साथ कुछ चर्चा करने का होने से २–३ बार उन्होने प्रेरित किया, परंतु अपनी लाक्षणिक ढब से पंन्यासजीने प्रत्युत्तर दिया कि "मैं चर्चा करने में सर्वथा निरुत्साही हूँ, क्योंकि आजदिन तक श्वेतांबर–दिगम्बर में चर्चा काफी हो चुकी है, जिसका फल कुछ भी नहीं रहा, बल्कि महावीर के संतान अपन दोनों बैर विरोध के मायाजाल में फंसकर बहुत कुछ सामाजिक हानी कर बैठे हैं। आपका और मेरा समाज, वणिग धर्मी होने से, वादविवाद होने में तथा बढ़ने में देर नहीं लगती, परन्तु उसका समाधान बड़ा भारी कठिन है। अतः मेरी सलाह है कि अपन दोनों मुनि एक ही पाटपर बैठकर व्याख्यान की योजना करे। प्रतापगढ़ में जैनसमाज की संख्या बहुत बड़ी हैं, साधारण जनता को श्वेतांबर दिगंबर का ख्याल होता नहीं है, इसलिए आपके प्रस्ताव के बदले मेरा व्याख्यान का प्रस्ताव तय किया जाय तो सामाजिक कायदा रहेगा, और समाज को सर्वथा अभूतपूर्व दृश्य देखने को मिलेगा, दिगंबर मुनि का मत हो गया था परंतु यतिजी ने उनके कान में कहा होगा कि श्वेतांबर महाराज का अभ्यास कम होनेसे चर्चा टाल रहे हैं। उसी समय पंन्यासजीने कहा कि, यतिजी ! मुझे कितना आता है और कितना नहीं ? इसे जानने की अपेक्षा आपके इन ज्ञान भंडार में से आपकी पसंदगी का कोई भी ग्रन्थ मुझे दीजिये और परसों से आप अभ्यास करना चालू करे यदि एक पंक्ति में भी भूल आवे तो मैं दिगंबर बनने को तैयार हूँ अन्यथा आपको श्वेतांबर बनना होगा ? सब निरुत्तर रहे और बातें – कोरी बाते ही रह गई। फिर तो हमारे दोनों मुनिओं के एकही साथ व्याख्यान हुए जिन्होंने यह दृश्य देखा हैं, वे आज भी भूलने नहीं पाये।

(२) मध्यप्रदेश के एक व्यापारी क्षेत्र में चातुर्मास में अधिक मास की वजह से खरतरगच्छ के पर्युषण प्रथम श्रावण मास में आये और संघ की विनंती से पंन्यासजी ने कल्पसूत्र व बारसासूत्र का वांचन किया। उस समय भावनगर से अभयचंद भगवानदास गांधी ने पंन्यासजी के गुरुजी का लिखा हुआ 'पर्युषणा-विचार' नामक पुस्तक को लालझंडी बतलाने के लिए भेजा। प्रत्युत्तर में पंन्यासजी

ने लिखा कि 'मेरे गुरु का पुस्तक केवल चर्चात्मक है, उसमें कल्पसूत्र या बारसासूत्र को दो दफे पढ़ने में पाप या पर्वाधिराज की विराधना होती हो ऐसा भाव इस पुस्तक में नही है। क्योंकि कल्पसूत्र में तीर्थंकर परमात्माओं के जीवन चारित्र ही हैं जिसके पठन पाठन से संयम पर्यायों की शुद्धि होती हैं। (३) वि. सं. २०१३ शुजालपुर मंडी के चातुर्मास दरमियान स्व. मनसुखलाल ताराचंद मेहता भी पर्वाराधन हेतु आये हुए थे। संवच्छरी के पहिले महाराज श्री ने सब साथ मिलकर वार्षिक प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया। और कुछ भी सोचे बिना सब मंजूर हो गये। तपागच्छ, खरतर गच्छ, अंचलगच्छ तथा एकाद तेरापंथी भाई भी प्रतिक्रमण में एकत्र हुए समय का भोग सबों ने दिया और अपूर्व मजा रह गई।

बम्बई आये मनसुखभाई ने पत्र में लिखा कि-

बम्बई अमरेली तथा दूसरे शहरों में वार्षिक प्रतिक्रमण खूब किये, परंतु जो आनन्द, हर्षोल्लास, मैत्रीभाव तथा वैरशमन के चित्र आपश्री की हाजरी में शुजालपुर मंडी में दिखने को मिले वैसा अब तक देखने में नहीं आया जन पत्रों में ये समाचार देने की आपकी मनाई से आपके आन्तर जीवन की सरलता साफ साफ दिखाई दे रही है। 'ज्ञानस्यफलं' विरतिः इस सूत्र को आपश्री ने चरितार्थ किया है, अतः मेरी भाववन्दना स्वीकार करे।

इससे अतिरिक्त मैत्री भावना कौनसी ?

समाज के एकीकरण का प्रस्ताव दूसरा कौनसा ?

अंत में पंन्यासजी गंभीर, विद्वान होनेपर भी उनका प्राकृतिक जीवन मित-भाषी रहा हुआ होने से भगवती का लेखन सफलतापूर्वक कर पाये हैं।

गुजराती प्रस्तावना का अनुवाद लि.

अमृतलाल ताराचंद दोसी (व्याकरणतीर्थ)

अभिप्राय :

भगवतीसूत्र जैसे महान आगम से आपकी विद्वता सामने प्रत्यक्ष है। राजस्थान गोडवासीयों व सभी को आपके सुलझे हुए विचारों के लिए भगवती के विवेचन में, आप सभी में अग्रणी हैं ऐसी (मेरी जानकारी अनुसार) मेरी मान्यता है! भगवती सूत्र के दो भाग पढ़े। पहले भाग में मातृस्वरुपा नारी को खूब महत्व दिया है आपने। दोनों भागों में अनेक अनेक उलझन पूर्ण प्रश्नों के उत्तरों से जो स्पष्टीकरण है वह प्रशंसनीय है जैसे महावीर गौतम पू. महावीर सुदर्शन शेठ का संवाद प्रमाणीभूत है। धर्म कर्म के विवेचनों के साथ उनके मर्म को भी बताया गया है। द्रव्य-क्षेत्र काल भाव का विवेचन खूब गहराई से लिखा गया है। विवेचन में 'सवीजीव करू शासनरसी, इसी भावदया मन उल्लसी' के विचारों से जैन शासन की विशालता प्रगट हुई है। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं ऐसे स्थानोंपर आपने सिद्धान्त के अनुसार अर्थ घटाया है। सम्प्रदाय में रहते हुए भी आप सम्प्रदायिकता में नहीं फंसे हैं। इसका ध्यान आपने अपनी रचनाओं में सर्वत्र रखा है। विद्वत्ता के साथ आपने आत्मीय गुणों का विकास किया है, अतः सर्व साधारण जीवों की दयनीय स्थिति को बतलाने में सफल हुए हैं। गुरुदेव श्री विद्याविजयजी महाराज के चरणों में आपने गहरा अभ्यास किया है, उसकी प्रतीति आपकी दिग्रियों से होती है। ब्रम्हचारी होने के साथ तपस्वी ज्ञानी ध्यानी व अभ्यासी है, जिसका प्रमाण आपके भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं, जिसमें भगवतीसूत्र सर्वेपरी लगता है। शासनदेव से प्रार्थना है कि आप चिरायु बनकर, शासन समाज के हितचिन्तक बने रहे। गोडवासियों की भूरि भूरि वन्दना स्वीकारे।

सादडी (राजस्थान)
२४-४-७९

फुलचन्द बाफना
भूतपूर्व मंत्री राज व सर्वोदय कार्यकर्ता

सादर वन्दना ! आपके प्रेषित भगवतीसूत्र सारसंग्रह का दूसरा भाग अभी प्राप्त हुआ, आपने समय निकालकर दूसरा भाग इतनी जल्दी तैयार करके छपवा दिया यह प्रसन्नता की बात है। यही तत्परता और सृजनशीलता आप में बनी रहे यही भावना।

बीकानेर
३१-१०-११

अगरचंद नाहटा

भगवतीसूत्र सार संग्रह के लिए आपश्रीने अच्छा परिश्रम किया है यह प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। लेखनकार्य चालु रखना। यह प्रवृति ज्ञान की आराधना, अपने विचारों की स्पष्टता, तदुपरान्त जो मूल आगम या उसकी टीका पढ़ने के लिए असमर्थ है, उनके लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी होगी और ग्रन्थकार के लिए तो अपने सद्विचारों की प्रेरणा-अर्थ, विशेष असाधारण है, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं करता हूं अभी तो ३० शतक शेष है, उसपर आप अच्छा प्रकाश डाल सकोगे।

१२/B, भारती निवास
सोसायटी, अहमदाबाद-६

पं. बेचरदास जीवराज दोसी

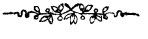

तदुपरांत-विजयधर्मसूरि यशोवियजी रामसूरि (केलावाला), भुवनचन्द्रसूरि विजय हेमचन्द्रसूरि, व सूर्योदयसूरि, वि. सुशीलसूरि, वि. सुबोधसूरि, वि. भुवनरत्नसूरि आदि के अभिप्राय गुजराती भाग में छपे हुए हैं।

भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग–३

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
श्रावस्ती नगरी (नवेतत्वों की विशद चर्चा)	१–८
शंखश्रावक की वक्तव्यता	९
जागरिका कितने प्रकार की है ?	१२
कषायों की भयंकरता (कषायों की शास्त्रीय चर्चा)	१२-२२
कौशाम्बीनगरी	२३
कौशाम्बी में भगवान का पुनीत आगमन	२४
जयंती श्राविका (जीव भारी किससे बनता है ?	२४–४१
भवसिद्धिकजीव, संसार जीवों से खाली होगा क्या ?	
संसार का सर्जक कौन ? सोना अच्छा या जागना ?	
सशक्त या अशक्त अच्छा ? दक्षता या प्रमाद अच्छा ?	
इत्यादि प्रश्नों की चर्चा हैं)	
श्रेणिक, परमात्मा की पधरामणी	४२
नरक के संबंध में खुलासा	४३
विष्णुभागवत में नारकों का वर्णन	४५
पुद्गलों की समर्थता	५०
परमाणु, स्कंधों के विभाग, पुद्गलों का परिवर्तन भाव	५२-५५

विषय	पृष्ठ
देवाधिदेव की वाणी	६१
कषायादि में वर्णादि की विचारणा (शास्त्रीयपद्धति से कषायो की पर्याये)	६४-६८
धर्म यानि क्या ?	७०
अवकाशान्तर यानि क्या ?	७४
राहु की वक्तव्यता (सूर्य चन्द्रग्रहण क्या है ? ग्रहण की (अशुभता क्यों ? ज्योतिष दृष्टि से ग्रहण, ताराबल)	७७-८५
लोक विस्तार के लिए वक्तव्यता (लोक की विस्तृता शाश्वत, अनादिता, नित्यता, कर्म तथा जीवों की बहुलता)	८६-९१
प्रत्येक योनि में जीवों अनन्तबार हेराफेरी	९२
नरकावासों की संख्या, वासना त्याज्य क्यों है ?	९३
देवों के भोगविलासों का फल क्या ?	९५
जीवमात्र के साथ अनंत संबंध	९६
दो शरीर यानि क्या ?	९८
नाग (हाथी-सर्प) दूसरे भव में मोक्ष	९९
हाथी या सर्प क्यों पूजा जाता है ?	१००
तब क्या नागपूजा करनी चाहिए ?	१०१
दूसरे जीवों की मोक्षगामिता	१०२
जीवों की सदसद गति किस कारण से	१०२
बंदर आदि की गति	१०३
देवों के प्रकार संबंधी वक्तव्यता (भव्य, नर, धर्मभाव व देवाधिदेव, उनके उत्पाद स्थिती उत्पती अल्पबहुत्व आदि का वर्णन)	१०४
आत्माऐं कितने प्रकार की है ? (जिसमें सापेक्षवाद द्रव्य कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शनादि आत्माओं की चर्चा तथा अल्पबहुलता का वर्णन पठनीय है)	११४–१२५

विषय	पृष्ठ
आत्मा का स्वरुप क्या है ? (नरक में सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण)	१२६–१३३
रत्नप्रभादि को वक्तव्य विशेषता (जिसमें ३९ प्रकारों से वर्णन किया गया है)	१३४–१४२
नरक में नारक जीवों की कितनी संख्या ?	१४३
असंख्यात योजन विस्तृत रत्नप्रभा का वर्णन	१४६
रावण ने तीर्थंकर गोत्र नहीं बाधा है ?	१४७
लेश्या परत्वे नारक वक्तव्यता	१४८–१५५
देवलोक संबंधी वर्णण (उत्पाद, आवास परिचारणा का वर्णन)	
नरकगति की विशेष वक्तव्यता (महाकर्मी, महाक्रिया, महाआश्रव, वेदना आदि का वर्णन है)	१५५–१५९
लोकमध्यहार वक्तव्यता (दिगविदिक, परिवर्तन, एकास्तिकाय प्रवेश अवगाहना जीवावगाढ, अस्तिकाय प्रदेश का वर्णन है)	१६०–१६६
नारक अचित्ताहारी है ?	१६७
क्या नारक की उत्पत्ति सांतर है ?	१६८
चमर चंचा नामक राजधानी कहां है ?	१६८
वीतभय नगरी का उदायन राजा	१६९
राजकुमार का आर्तध्यान	१७३
भाषारुपी है ? अरुपी है ?	१७५
भाषा के प्रकार	१७८
मन की वक्तव्यता	१८०
शरीर की वक्तव्यता	१८२

विषय	पृष्ठ
शरीर रुपी है कि अरुपी (मृत्यु के भेदों की चर्चा)	१८३–१९२
कर्मसत्ता	१९३
प्रथम जीव या प्रथम कर्म ?	१९४
रसघात, स्तितिघात और गुणसंक्रमण	१९९
अतिचारों की आलोचना न की जाय तो ?	२०१
भावितात्मा मुनिओं के उत्पाद	२०५
नर्क में जानेवालों की शीघ्रगती कैसी होती है ?	२०७
नर्क के योग्य जीव क्या अनन्तरोपन्नक होते हैं ?	२०९
उन्माद की वक्तव्यता	२११
देवों की वृष्टिकायकरण की वक्तव्यता	२१७
देवों की तमस्कायकरण की वक्तव्यता	२१८
देवों में क्या विनयादि कर्म होते हैं ?	२१९
नारकों की अविनय संबंधी वक्तव्यता	२२१
देवों में अविनयकरण की वक्तव्यता	२२३
नारकों के दुःख की वक्तव्यता	२२३
पुद्गल परमाणु शाश्वत या अशाश्वत	२२३
परमाणु चरम या अचरम	२२६
परिणाम भेद की वक्तव्यता क्या है ?	२२७
परिणामों में क्रम का कारण	२२८
अग्निबीच नारकादि पसार हो सके	२३०
नारकों की दस प्रकार से अनिष्टता	२३३
नारकों की पुद्गल वक्तव्यता	२३७
वैमानिक देवेन्द्रों की कामभोग वक्तव्यता	२३७
महावीर स्वामी और गौतम की तुल्यता	२३८
यह बात क्या अनुत्तरोपपातिक देव जानते हैं ?	२३९

विषय	पृष्ठ
तुल्यता के कितने भेद ?	२४०
अणगार की वक्तव्यता	२४१
लवसत्तम देव की व्याख्या	२४३
अनुत्तरोपपातिक देवों की वक्तव्यता (इनके सुखों का वर्णण)	२४३
शालवृक्षविशेष वक्तव्यता	२४६
अंबड परिव्राजक के सातसौ शिष्य	२४८
अव्यबाध देवों की वक्तव्यता	२४९
देवेन्द्र की विचित्र विक्रिया	२४९
जृंभवदेवों की वक्तव्यता	२५०
अनगार विशेष की वक्तव्यता	२५२
प्रकाशमान पुद्गल कितने हैं ?	२५३
नारकादि के पुद्गल आम हैं ? या अनाम ?	२५३
सूर्यप्रभा की वक्तव्यता	२५४
मुनिभगवंतों की तेजोलेश्या	२५४
गोशाले का जीवन	२५९
क्रोधांध गोशाले का महावीर की ओर आगमन	२६७
श्रीविका रेवती की वक्तव्यता	२७१
सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनिओं की गति	२७७
गोशाले की गती	२७६
फिर गोशाला मरके कहां जायेगा ?	२१८
शुद्ध और सम्यक्त्व से वासित	२८०
जीव अधिकरणी है ? या अधिकरणस्वरुप है ?	२८६
जीव साधिकरणी है ?	२८७
जीव क्या आत्माधिकरणादि है ?	२८८

विषय	पृष्ठ
अधिकरण क्या आत्मप्रयोगादि है ?	२८९
शरीर इन्द्रिय तथा योग की वक्तव्यता	२८९
जरा और शोक का वर्णन	२९१
इन्द्र की विशेष वक्तव्यता, उसकी भाषा का वर्णन	२९२–२९३
कर्म चेतःकृत है या अचेतःकृत है ?	२९४
ज्ञानावरणीय के वेदन के समय कितनी प्रकृतियां होती हैं	२९६
मुनिका ओपरेशन करनेवाले वैद्य को क्रिया लगती है ?	२९७
क्या नारक की निर्जरा से मुनिओंकी निर्जरा ज्यादा है ?	२९९
आज इन्द्र जल्दी क्यों गया ?	३०२
गंगदत्त का पूर्वभव	३०४
स्वप्न क्या है ? उसके प्रकार कितने ?	३०५–३१२
घ्राणेन्द्रिय क्या गुणों का ग्राहक है ?	३१३
उपयोग संबंधी विशेष वक्तव्यता	३१४
उपयोग और पश्यता में तफावत	३१५
लोक के चरमभाग में क्या जीवादी है ?	३१६
परमाणुओं की शक्ति विशेषता	३१७
बारिस का निर्णय करनेवाले को क्रियाएँ कितनी ?	३१७
अलोक में क्या देव हाथ पैर हिला सकते हैं ?	३१९
अवधिज्ञान की वक्तव्यता	३२२
द्वीपकुमार की वक्तव्यता	३२२
प्रारभ्यते	३२४
उदयी हाथी की गती आगति	३२५
ताडवृक्ष पर चढ़नेवाले को कितनी क्रिया ?	३२५
शरीरादि के कारण कितनी क्रिया ?	३२९
हे प्रभो ! भाव कितने हैं ?	३३०

विषय	पृष्ठ
क्या संयतादि धर्म - अधर्म में स्थित है ?	३३२
श्रमण क्या पंडित कहलाते हैं ?	३३४
जीव और जीवात्मा क्या भिन्न है ?	३३५
उपर्युक्त विषय में जैन शासन का कहना क्या है ?	३३६
अरूपी आत्मा को कर्म का बन्धन किस तरह लगा ?	३३९
सरागजीव को कर्म किस तरह लगेगा	३४०
रागद्वेष होने का क्या कारण है ?	३४०
वेद यानि क्या ? जीव को वेद कर्म कहांसे आया ?	३४१
शैलेशी प्राप्त अणगार क्या कंपता है ?	३४२
चालना संबंधी वक्तव्यता	३४३
ईशानेन्द्र की सुधर्मासभा कहां पर हैं ?	३५०
पृथ्वीकायिक. देवलोक में पृथ्वीकायिक रूप से कैसे उत्पन्न होंगे	३५०
प्रारभ्यते	३५५
जीवमात्र प्रथम है ? अप्रथम है ?	३५६
चरमाचरम की वक्तव्यता	३५९
कार्तिकशेठ का कथानक	३६०
श्रावणधर्मी कैसा हो ?	३६१
मुनिसुव्रत स्वामी तीर्थंकर का आगमन	३६२
माकन्दी पुत्र अणगार के प्रश्न	३६५
स्थावर जीव मनुष्यावतार पाकर मोक्ष में जाता है ?	३६५
चरमकर्म की वक्तव्यता	३६६
निरतिशय छद्मस्थ दो मुनियों की निर्जरा जानते हैं ?	३६७
बंध की वक्तव्यता	३६७
पापकर्मों में भेद की वक्तव्यता	३६८
नारकों की आहार वक्तव्यता	३६८

विषय	पृष्ठ
जीव के परिभोग में क्या-क्या आता है ?	३६९
कषायों की निर्जरा की वक्तव्यता	३७२
युग्म कितने हैं ?	२७४
नारक क्या कृतयुग्म है ?	३७४
एक विमान के दो देवों के बीच सुन्दरतादि में फर्क क्यों ?	३७६
दो नारकों की गुरुकर्मिता किस कारण से ?	३७७
उत्तर समय में मरनेवाला नारक कौन-सा आयुष्य पायेगा ?	३७८
अमुक देव इच्छानुसार विकुर्वणा क्यों नहीं करता ?	३७९
गुड आदि में वर्णादिक कितने ?	३८१
पुद्गल परमाणु में वर्णादि का वर्णन	३८३
यक्षावेश में केवली क्या मृषाभाषा बोलते हैं ?	३८४
उपाधि के कितने प्रकार हैं ?	३८४
प्रणिधान के कितने प्रकार हैं ?	३८७
मद्रुक श्रावक संबन्धी वक्तव्यता तथा चर्चा	३८७
महर्द्धिक देवों की विकुर्वणा की विशेषता	३९१
देवासुर युद्ध का क्या शास्त्र सम्मत है ?	३९२
देवों में कर्मों की निर्जरा	३९३
उपयोगी मुनि को कौन-सी क्रिया लगती है ?	३९४
जैन मुनि क्या बाल है ?	३९५
छद्मस्थ क्या परमाणु को जानता है ?	३९९
भव्य द्रव्य नैरयिकादि की वक्तव्यता	३९९
आयुष्य की कितनी स्थिति है ?	४००
असिधारा पर चलनेवाला मुनि क्या छेदाता है ?	४०१
क्या परमाणु वायुकाय से स्पृष्ट है ?	४०१

विषय	पृष्ठ
सोमिलर्षिद्रुज की वक्तव्यता (यात्रा, यादनीय-अव्याबाध, प्रासुक आहार, सरिसवय, मासकुलत्था, जीव में एकत्व, अनेकत्व, अनित्यत्व, की सिद्धि उपरान्त बारह प्रकार के व्रतों की विस्तृत चर्चा है, जो पठनीय है।	४०२-४४३
हे प्रभो ! लेश्याएं कितनी संख्या में कही गई है	४४४
लेश्या यानि क्या ?	४४५
पाप के त्यागपूर्वक धर्मध्यान क्यों ?	४४७
कृष्णलेश्या का मालिक कृष्णलेश्या के गर्भ को उत्पन्न करता है ?	४४८
बारह द्वार से पृथ्वीकायिकों की विशेष वक्तव्यता	४५३
पृथ्वीकायादि की अवगाहना का अल्पबहुत्व	४५६
पांच स्थावर में कौन किनसे सूक्ष्म है ?	४५७
पृथ्वीकायादि में शरीर की विशालता	४४८
पृथ्वीकायिक जीवों की अवगाहना कितनी है ?	४५९
नारक क्या महावेदनादिवाला है ?	४६०
असुरकुमार देवों की वक्तव्यता	४६१
वेदना के कितने प्रकार हैं ? किसकी वेदना कितनी है ?	४६६
द्वीप समुद्र की वक्तव्यता	४६८
देवों के विमान आदि वक्तव्यता	४६८
निर्वृति कायनिष्पति कितने प्रकार की है ? (जिसमें कर्म, शरीर, भाषा, कषाय, वर्ण-संस्थान, संज्ञा-ज्ञान निर्वृति का समावेश है)	४६९-४७८
करण की विशेष वक्तव्यता (इन्द्रिय, भाषा, पुद्गल, करण समाविष्ट है)	४७९
दो इंद्रिय जीव प्रथम क्या साधारण शरीर बांधते हैं ?	४८८
पंचेन्द्रिय जीव क्या प्राणातिपात में विद्यमान है ?	४८९

विषय	पृष्ठ
आकाशास्तिकाय के कितने प्रकार हैं ?	४९२
पांच द्रव्यों के पर्याय नाम कितने हैं ?	४९५
धर्म तत्त्व के पर्यायवाचक शब्द कितने हैं ?	४९५
चारित्र का मतलब क्या है ?	४९८
प्राणातिपात स्वधर्म नहीं है ?	५००
क्रोध का त्याग किस तरह करना ?	५०२
(१८ पापस्थानकों का शास्त्रीय विवेचन)	
अधर्मास्तिकाय के पर्यायवाचक शब्द कितने हैं ?	५२३
आकाशास्तिकाय के पर्याय कितने ?	५२४
जीवास्तिकाय के पर्याय कितने ?	५२६
आत्मिक सुख यानि क्या ?	५२८
गर्भगत जीव को वर्णादि कितने ?	५३७
इन्द्रियों की वृद्धि के कितने प्रकार हैं ?	५३८
परमाणु में वर्णादि कितने ?	५३९
पृथ्वीकायादि के उत्पाद की वक्तव्यता	५४२
बंध की विशेष वक्तव्यता	५४४
कर्मभूमि आदि की वक्तव्यता	५४७
विद्या तथा शरणों की वक्तव्यता	५४९
आयुष्यादि कि वक्तव्यता	५५०

भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग-३

शुद्धिपत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
देवे-देवोन्द्रो	देवो-देवेन्द्रो	२	१६
जोड़कर	स्थापित हुए, तदन्तर	२	२१
प्रयत्नशील	परमात्मा के साथ में	३	३
सर्वसामान्य	सन्मान्य	३	२३
पुवारत्या	पुनात्या	५	६
स्वछन्दता	स्वच्छता	५	१८
आश्रय	आश्रव	७	४
पराजित	परिमार्जित	७	२३
अपने	अपनी	८	९
काषात्यिक	कषायत्मक	१३	१२
कोमति	को मति	१५	४
की क्रोध को	को क्रोध का	१४	८
शटत्या	शत्या	२०	१३
युक्ति	उक्ति	२१	२
मेंस दाचार	में सदाचार	३५	४
दृकरुपी	कदृरुपी	३९	३
महान	महात	४२	१९
चुराली	चुगली	४४	१६
आदि	आदि से	४५	७
आत्मो	आत्मा	५१	९

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
नैम	नैमि	५२	५
स्कं	स्कन्ध	५३	१५
बाद के	के बाद	५४	४
नारको	नारकों के	५९	१०
को	की	६४	१९
मिध्या	भिध्या	६८	१०
री	देरी	७२	७
आते	आने	७९	५
करते में	करने में	७९	५
उपारग	उपराग	८०	५
होने	होते	१०१	७
कंवारी	कंपारी	१०१	१७
स्वस्थत	स्वस्थता	१०७	९
शाही	शादी	१०७	२२
कह	कहे	१०८	२१
मुकि	मुक्ति	११५	४
थ्वी	पृथ्वी	११७	२
अनित्य	नित्य	१२०	१७
होता	होती	१२३	५
महाराज	मोहमहाराज	१२३	१०
वेदानुभव	वेदनानुभव	१३३	८
दर्शन को	दर्शन की	१४०	२२
अवगाठ	अवगाढ़	१४३	१८
नसपुंक	नपुंसक	१४४	१७
गरक	नरक	१४९	५

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
अनंत	आनत	१५४	११
स्पष्ठ	स्पृष्ट	१६४	६
उचित	अचित्त	१६७	१
पौषधावास	पौषधोपवास	१७२	७
पाथा	पारा	१७२	१८
चंजा	चंपा	१७३	१७
त प्रतिक्रमण, पौषध, प	प्रतिक्रमणपौषधतप	१७४	९
है लोहे	है । लोहे	१८२	१७
जोवन	जीवन	१८३	९
को	का	१८३	२०
पश्चाताय	पश्चाताप	१९०	४
निर्वृतिकरण	अनिवृतिकरण	२००	८
अविचारों	अतिचारों	२०१	२
मुयप	मुप	२१२	१३
अंतरय	अंतराय	२१४	१९
अघग	अगले	२१५	१५
आये हो	गये हो	२२२	५
कक्ष	रुक्ष	२२४	९
विस्त्रसारण	विस्रसाकरण	२३६	१८
परमाणु	परमाणुका	२३६	२४
थोड़	थोड़े	२३९	१७
औदरिक	औदारिक	२४६	१७
अत्याबाध	अव्याबाध	२४९	९
आत्मा	तात्मा	२५२	३
निग्र	निर्ग्र	२६०	१०

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
मेमे	मेरे	२६२	७
बीजारोपक	बीजोरापाक	२७२	२४
र्थति	स्थिति	२७५	२३
शख	शंख	२७६	१५
क्रियोत	क्रियते	२८६	११
होता	होती	२९६	३
धर	उधर	३०३	२०
क्षेत्र	क्षेत्र में	३०५	९
उसक	उसके	३०५	१४
यथातत्व	यथातथ्य	३०६	१४
उस	उसी	३०६	१६
स्पश	स्पर्श	३०७	२
गण्टिक	गणिपिटक	३१०	६
कोष्ठपुर	कोष्ठपुट	३१३	८
नगर	तगर	३१३	९
सडांस	संडास	३१३	१६
अनारो	अनकारो	३१४	८
विदेश	प्रदेश	३१६	१२
समुद्र	समुद्	३१६	१७
भी उपचित	भी उपचित	३१९	२२
सिद्धात	सिद्धांत	३२०	११
सद्	सद	३२८	३
कर्मो	कर्मो की	३३०	२०

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
पंडित में	में पंडित	३३५	२
धारथ	धारय	३३५	८
भिन्न भिन्न	भिन्नाभिन्न	३३६	२४
सूत	भूत	३३७	२०
प्रश्न	प्रश्न का	३३९	१६
सेगान	रोगान	३४०	३
ओर	लोभ	३४६	९
खानानप	खानपान	३४६	१६
वादाति	वादादि	३४९	२
वे है।	पे है।	३५०	१
वपसक	वर्तसक	३५०	७
११	१८	३६०	९
हजार	हजार खर्च	३६१	१८
जीवान	जीवन	३६२	२१
ग्या	ग्य	३६३	१८
दश	दश	३६४	१९
१७	१८	३६४	२४
मिल सकते है	प्राप्त कर सकते हैं	३६५	१६
१	४	३६९	३
और	०	३७७	२०
उसकी और भावना है	तथा भावना में	३८०	६
जैसे	जिस	३८०	८
होता है	होती है।	३८६	२४
अदृश्य	दृश्य	३८९	१९

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
ऐसे	जैसे	३९०	८
निर्माण	निर्वाण	३९१	५
प्रत्यन्न	प्रयत्न	३९४	१३
आदिके	आदि भी नहीं करते उसके	३९६	६
वक्रिय	वैक्रिय	४०२	८
अत्याबाध	अव्याबाध	४०२	३–६
गुलत्या	कुलत्था	४०७	१८
मानक	मानव	४१६	९
वरुदन	व रुदन	४१९	२५
कदर्य	कंदर्प	४२५	१९
मथुन	मैथुन	४२६	१०
अलर	असर	४२९	२०
नापक	नापाक	४३०	१५
आशक्त	आसक्त	४३२	२३
आशक्ति	आसक्ति	,,	,,
को	की	४३३	२१
लोजन	भोजन	४३६	१६
सर्वस्थ	सर्वस्व	४४२	१७
द्रव्यश्रत	द्रव्यश्रुत	४५५	१०
उम्हे	०	४६२	५
दह्योऽएं	दह्योदएं	४६२	१५
दीघ	दीर्घ	४६५	७

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
प्रेर्थ	प्रेर्य	४१४	१४–१५
शरीर की	शरीर के	४८१	८
औरत असंय जो	उसमें से जो असंयत है	४९०	१
पर्याप	पर्याय	४९५	६
प्रशंसा	प्रशंसा	५०८	२
घर	बैर	५१३	२१
२धर	उधर	५१५	१३
जार	चार	५१५	२२
निर्लेद	निर्लेप	५३३	११

द्रव्य सहायक

१०,००० रु० मेघराज मंगनीरामजी बाफणा सादडी (राज.)

४,००० ,, पुखराज हजारीमलजी टेकचंदजी-फर्म, शिवगंज (राज.)

१,००० ,, मोतीलाल जेठमलजी सादडी.

५०० ,, हेमराज प्रेमराजजी, हिंगोली (परभणी जिला.)

५०० ,, प्रेमजी वाघजी गाला भरुदीआ (कच्छ)

३०० ,, नरशी जेशंग मालदे.

४०० ,, मुरजीभाई डायाभाई संघ तरफ से

५०० ,, नांगलभाई गुहाशी

३०० ,, सांगणभाई गुणशी

राजस्थान सादडी वडावास के मेघराज मंगनीरामजी बाफना के पुत्र
श्रीमान् नगराजजी बाफना की धर्मपत्नी

अ. सौ. श्रीमती कान्ता बहन

॥ ॐ ह्रीं श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ॥

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरि-
गुरुदेवाय नमः

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग-३

शतक १२ वाँ : उद्देशक-१

"सावत्थी नयरी भणी श्री संभवनाथ"

श्रावस्ती नगरी :

शुभमुहूर्त में स्थापित हुई बहुतसी नगरियों में श्रावस्ती नगरी का इतिहास भी अति प्राचीन है । इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में से तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ भगवंत का जन्म इसी पुनित नगरी में हुआ था और चरमतीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने एक चातुर्मास की स्थिरता इसी नगरी में करके वहां की जनता को बहुविध धर्मोपदेश दिया था।

जहां जहां तीर्थंकर परमात्माओं के चरण गिरते हैं वह भूमि, उपवन, गांव और नगरी आदि में नव निधान प्रगट होते हैं। पुण्यकर्म की चरम कोटि की आराधना के कारण जनता के चित्त में से राजस और तामस भाव निर्मूल होकर सात्त्विक भावों की अभिवृद्धि होती है। पारस्परिक, कौटुंम्बिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक कलुषित भावनायें नष्ट होने लगती हैं।

और पवित्र धर्मभावनाएं अपनी समग्र कलाओं के साथ विकसित होने लगती है। इसीलिए अल्पसमय में ही कामीओं का काम, क्रोधियों का क्रोध, कपटीओं की कपटकला, लोभीयों का लोभ और अभिमानीयों का अभिमान रफुचक्कर होने लगता है। आलस, निद्रा, तंद्रा और निंदा के निवास स्थानों पर ताले लग जाते हैं। जनता बड़े उमंग के साथ समवसरण में विराजमान तीर्थंकर देवों की मधुरवाणी सुनने के लिये सद्भावपूर्वक अपने अपने घर से प्रस्थान करती है।

अनादि अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाली जीवात्माएं वहां सर्वथा अद्वितीय वस्तु का दर्शन करती हैं। धर्मोपदेश को श्रवण करती हैं। उसका अनुभव करती हैं फलतः सबके हृदय मानो सम्यक्त्व के प्रकाश में ज्ञान की गंगा में और सम्यक्त्व चारित्र के वेश परिधान में अलौकिक आनंद का अनुभव करता है और मानव के मन में अनादिकाल से घुसे हुए वैर-झेर-ईर्ष्या असूया-ममत्व आदि आत्मघातक दूषणों की अंतिम बिदाई होती है।

श्रावस्ती नगरी में चातुर्मास के लिये स्थिरवास किये हुए भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में करोड़ों की संख्या में देवे–देवोंन्द्रों और इन्द्राणीया अपने जीवन को धन्य मान रही है। देश–देशान्तर से आये हुए राजा–महाराजा, रानियाँ, राजपुत्रियाँ, सेठ–सेठाणियां, महावीर-स्वामी के चरणों में महाव्रत स्वीकार करके अपने जीवन को धन्य बनाते थे। कितने ही भाग्यशाली गृहस्थाश्रम में रहकर देशविरति श्रावक धर्म में जोड़कर परमात्मा महावीर चातुर्मास पूरा होने पर अन्यत्र विहार कर गये।

औपपातिक सूत्र में वर्णित उपमाओं को धारण करती उस श्रावस्ती नगरी में एक दिन भगवान महावीर स्वामी चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए पुनः पधारे। देव और मनुष्य जिनके चरणों की सेवा में उपस्थित थे।

(१) दिव्य काम विलास, सुगंधी जल से भरी हुई कूपिकाएं, विमान

और पौद्गलिक सुख पापोत्पादक, पापवर्धक और पाप परंपरक समझकर सम्यग् ज्ञानपूर्वक उनकी मोहमाया को यथाशक्ति मर्यादित समय तक त्याग करके देवसमूह सदैव प्रयत्नशील रहता था।

(२) घाति कर्मरज के अंशमात्र से भी सर्वथा मुक्त हुए, अतः कृत–कृत्य बने हुए केवलज्ञानी मुनी वर्ग और साध्वियां भी साथ में थी।

(३) केवलज्ञान की चरम सीमा तक पहुंचे हुए चार ज्ञान और तीन ज्ञान को धारण करनेवाले, श्रुत केवली मुनिगण, महामुनि, महायोगी और महान् तपस्वी भी तीर्थंकर देव की सेवा में थे।

(४) वैभव विलासों से उद्विग्न बने हुए और संसाररूपी दावानल के तापसे दग्ध बने हुए मोक्षाभिलाषी गृहस्थाश्रमी भी उपस्थित थे।

(५) प्रथम गुणस्थानक पर आरूढ जीव समूह भी जो भद्रिक, सरल, निरभिमानी और भव्य था वह भी सम्यक्ज्ञान का प्रकाश पाने के लिए परमात्मा की सेवा में मौजूद था।

इस प्रकार भगवन्त श्रावस्ती नगरी के कोष्टक नाम के चैत्योद्यान में पधारे।

उस समय उस नगरी में 'शंख' आदि श्रावक, महाश्रावक बड़ी तादाद में रहते थे। जो धनिक, महाव्यापारी और बड़ी बड़ी उच्च अट्टालिकाओं के, हाटों के स्वामी होने के अलावा छोटे बडे व्रतों को धारण करके यथाशक्ति पालनेवाले थे। तथा जैनशासन के ऊपर अत्युत्कट श्रद्धा होने से वे किसी से पराभव पानेवाले नहीं थे। यानि उनकी श्रद्धा को कोई जरा भी डिगा नहीं सकता था। अपनी सम्यक्बुद्धि के अनुसार रहकर सद्-विवेकपूर्वक उनका जीवन सब प्राणियों के लिये हितकारी बना हुआ था। गांव में प्रतिष्ठित और सर्वसामान्य थे। आदरणीय थे। न्यायबुद्धि उनका धन था। सत्यवादित्व उनका अलंकार था। गृहस्थाश्रम की मर्यादावाला अहिंसाव्रत उनका कवच था और जिनेश्वर देव की आज्ञा का पालन ही

उनका शस्त्र था। अपने क्षयोपशम के अनुसार जीवादि नवतत्त्वों के और छः पदार्थ के ज्ञाता होने से दिन और रात का बड़ा भाग तत्त्वों की चर्चा विचारणा करके नये नये ज्ञानप्राप्ति की अभिलाषावाले थे। वह चर्चा निम्न-प्रकार है—

१. जीव तत्व :

हलन – चलन – हानि – वृद्धि आदि क्रियाओं से प्रत्यक्ष और अनुमानगम्य जीवात्मा शरीर से सर्वथा पृथक है। जो पंचभूतों से उत्पादित नहीं है। पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक नहीं है। मदिरा आदि में रही हुई मादकशक्ति की तरह परकृत चैतन्यशक्तिवाला नहीं है। अंगुठे या जौ जितना नहीं है। कठपुतली की तरह ईश्वर या ब्रह्मा के इशारे से नाचनेवाला नहीं है। लेकिन अनन्त शक्ति का, सर्वतंत्र स्वतंत्र चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण, समुद्घात को छोड़कर शरीरव्यापी, रुप रस, गन्ध और स्पर्श से रहित अरूपी होने पर भी शरीर के सम्बन्ध से कथंचित् रूपी आत्मा की प्रत्येक शरीर में होने की प्रतीति होती है।

२. अजीव तत्व :

शरीर की उत्पत्ति, विनाश, पालन या संचालन ईश्वर के आधीन नहीं है। लेकिन अजीव तत्व के अधीन है। जीव की तरह अजीव भी अनंत शक्ति का स्वामी होने से संसार के संचालन में पूर्ण समर्थ है। जिससे संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने अपने धर्म का पालन बराबर कर रहा है। अतएव देव विमान स्थिर हैं। समुद्र मर्यादित है। वर्षादि ऋतुएँ अपने अपने समय का उल्लंघन नहीं करती हैं। वनस्पतियों को पत्र, पुष्प और फलादि की प्राप्ति और पतन समय पर ही होता है। आम समय पर ही पकता है। माता की कुक्षि में संतान की उत्पत्ति, नौ महीने तक गर्भ में रहना और समय परिपाक होने पर संसार के स्टेज पर जन्म लेना, ये सब इस अजीव तत्व पर अवलम्बित हैं। आकाश में

इन्द्र धनुष किसने बनाया? पेड़ पर फल कहां से आये? किसने पकाये? मनुष्य के मुख में दांत क्यों हैं? आंख से रसास्वाद क्यों नहीं होता है? इस प्रकार के अगणित प्रश्नों का जवाब एक ही है कि अजीव तत्व की सत्ता का ही यह सब परिणाम है।

(३) पुण्यतत्व :

'पुवारत्यात्मानमिति पुण्यम्' इस व्युत्पत्ति से जिससे आत्मा का उत्कर्ष हो, सुख की प्राप्ति हो, सद्गति के भाजन बने, सत्कर्मों की तरफ आगे और आगे बढ़ने की भावना हो। यह सब पुण्यतत्व का प्रभाव है। उसके दो प्रकार हैं :—(१) साधारण पुण्य, (२) विशेष पुण्य,

(१) साधारण पुण्य :

अंतरात्मा की कत्तई इच्छा न होने पर भी पराधीनता के कारण भूख, तृषा, ठण्डी, गरमी सहन करनी पड़े। ब्रह्मचर्य की इच्छा न होने पर भी जबरदस्ती पालना पड़े। देखादेखी या रसहीन खोपरे की जैसी मलिन भावना होते हुए भी उपचार दृष्टि से दान देना। या ऋद्धि–सिद्धि की इच्छा से कुछ देना पड़े यह साधारण पुण्य कहा जाता है। जिससे अगले भव में धन–दौलत की प्राप्ति हो लेकिन जीवन में समता, मन में शांति, हृदय में संतोष, आंखों में निर्दोषता और कलेजों में स्वच्छन्दता नहीं आती। मानव शरीर मिलता है लेकिन मानवता, सज्जनता और पवित्रता नहीं मिलती है। फिर आर्य देश, आर्यकुल, आर्यभाषा और जैनत्व संस्कारों की सुलभता कैसे हो सकती है?

(२) विशेष पुण्य :

संसार और उनके वैभव–विलास पाप ही है। ऐसा समझकर सम्यग–ज्ञानपूर्वक अपने स्वाधीन द्रव्य का सत्कार्यों में, पवित्र कार्यों में दान करने से पुण्य का बंध होता है। युवावस्था में ही व्रत को स्वीकार करके शरीर, मन और आत्मा को पवित्र रखने से एक विशिष्ठ

प्रकार के पुण्य का बंध होता है। जिससे भवांतर में आर्यदेश, आर्यकुल और जैनधर्म की प्राप्ति होने से धर्म की आराधना सुलभ होती है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से रहित पवित्र मन की प्राप्ति होती है और जीवन में धर्म की प्राप्ति के साथ शांति–समाधि और स्थित प्रज्ञता की प्राप्ति होती है। नौ प्रकार से उपार्जन किया हुआ पुण्य ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

(४) पाप-तत्व :

पुण्यतत्व से सर्वथा विपरीत पाप-तत्व कहा जाता है। जिन क्रियाओं से और मानसिक परिणामों से आत्मा भारी बनती है। दुःखों का अनुभव करके दुर्गति के तरफ प्रस्थान करे और जीवन को दूषित करे वह 'पाप तत्व' है। "आत्मानं पातयति च नरकं प्रति प्रस्थापयति इति पापम्।" हिंसा, झूठ, चौर्य, मैथुन और परिग्रहरूप बड़े द्रव्य पाप हैं और क्रोध, मान, माया लोभ, राग, द्वेष, रति, अरति, अभ्याख्यान, पैशून्य, कलह, पर–परिवाद, मायामृषावाद और मिथ्यात्व, भाव पाप हैं, जो आत्मा के कट्टर वैरी है। जो पाप विशेष कारण बिना हमेशा पाप ही है। पापी पेट के लिए और संसार के व्यवहार चलाने के लिये भी द्रव्य-पाप अनिवार्य होने से करने पड़ते हैं। लेकिन पीछे के तेरह पाप निरर्थक होने से मानव–जीवन में सबसे प्रथम छोड़ने लायक है। अतएव तीर्थंकर परमात्मा ने कहा है कि—सबसे पहिले पापों को दूर करने के लिये और उनको कन्ट्रोल में करने के लिये अभ्यास करना चाहिये।

(५) आश्रव तत्त्व :

वर्षा ऋतु में बरसात का पानी नदी-नाले द्वारा समुद्र में आता है। उसी प्रकार संसार में पुण्य और पाप-कर्म मन–वचन और कायारूपी नली द्वारा मानव-जीवन में प्रवेश करता है। "आश्रूयते–

उपादीयते इति आश्रवः" जिन कारणों से कर्म और उनकी वर्गणायें ग्रहण होती हैं उसको आश्रव कहते हैं। जो शुभाशुभ होती है। मन-वचन और काया की सरलता शुभ-आश्रव है और कुटिलता अशुभ आश्रव है। पांच इंद्रियों को वश में रखना यह शुभ आश्रय है और उनको बेलगाम करना अशुभ आश्रव है और चारों कषायों को जीत लेना यह शुभ आश्रव है और कषायों के वश में होना यह अशुभ आश्रव है और व्रत रहित बनाना अशुभ आश्रव है। यह आश्रव तत्व सबों के लिये सर्वथा सर्वदा त्याज्य है। फिर भी जीवन व्यवहार में से जब तक वक्रता, असंयम, पाप-भावनायें या पाप-क्रियाओं का बहिष्कार न किया जाय तब तक दान-शील-तप और पवित्र भावों के साथ पुण्यकार्य भी किसी हालत में छोड़ना नहीं चाहिये। माना कि पुण्यकार्य भी सुवर्ण की जंजीर के समान है फिर भी लोहे की जंजीर से कई गुना अच्छी ही है और जब आत्मा के अध्यवसाय, शुद्ध, अतिशुद्ध बनने की तैयारी में होते हैं या बन गये होते हैं तब तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के आश्रवों को तिलांजली ही देनी चाहिये।

(६) संवर तत्व :

आश्रव मार्ग को बंध करने की प्रक्रिया को संवर तत्व कहते हैं। जो आत्मा की अभूतपूर्व मोक्षाभिलाषिणी पुरुषार्थ शक्ति के आभारी है। "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" अर्थात अपने पूर्वभवीय कर्मों के कारण मनुष्य की बुद्धि और परिस्थिति का सर्जन होने पर भी आत्मा जब अनिवृत और अपूर्व करण में प्रवेश करने पाती है तब नरक या तिर्यंच गति में से उस गति के अति कनिष्ठ संस्कारों को लेकर मानव देह प्राप्त किया हुआ होने पर भी अपने कर्मों को, बुद्धि को पराजित करने के लिये समर्थ होती है। और केवलज्ञान या तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने की क्षमता प्राप्त करती है। आठ कर्मों में मोह कर्म का उपशम सुलभ होने से मनुष्य यदि करना चाहे तो जल्दी कर सकता है। पूर्वभव के पापों के कारण मनुष्य में

पापबुद्धि होती है, उस समय जैनत्व को पाया हुआ भाग्यशाली अपने आत्म पुरुषार्थ के द्वारा मोहबुद्धि, क्रोधबुद्धि, मायाबुद्धि या कामबुद्धि का उपशम करके निर्जरा तत्व के तरफ प्रस्थान कर सकता है। यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जो कर्म निकाचित रूप में बंध गये हैं उनका वेदन तो अनिवार्य होने के कारण वहां दूसरा कोई विकल्प नहीं है। फिर भी मानव जीवन में सभी कर्म निकाचित ही है। यह मान्यता भ्रम पूर्ण है। अत: किसी भी भव में उपार्जित मोह क्रोधादि के कुसंस्कारों को दूर करने की इच्छावाला मानव पापकर्मों का उदय विद्यमान होने पर भी उन पापों में से अपने आत्मा को बचा सकता है।

(७) बन्धतत्व :

आश्रव द्वारा उपार्जित किये हुए कर्मों को आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ बांधने का, मिश्रित करने का, काम ईश्वराधीन नहीं है। लेकिन कर्म करने के बाद शुभ या अशुभ लेश्या में आगे बढ़ता हुआ जीव स्वयं कर्मों से बद्ध होता है। अर्थात वह भूतपूर्व के अनंतानंत कर्म और प्रतिसमय कराते हुए नये कर्म आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर चिपकते हैं यह बन्धतत्व के कारण होता है।

(८) निर्जरा-तत्व :

दूध और शक्कर की तरह आत्मा के साथ तद्रूप बने हुए कर्मों को अलग करना, भगाना, भस्म कर देना यह निर्जरा तत्व का कार्य है।

(९) मोक्षतत्व :

समग्र कर्मों का क्षय कर डालना सभी कर्मों से मुक्त हो जाना उसका नाम है मोक्ष। कर्मों के दो भेद है : १ घाती और २ अघाती। घातीकर्म आत्मा की अनंत शक्ति को दबा देनेवाला कर्म है। उसके चार भेद हैं : ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय अघाती

कर्म–आत्मा की अमुक–परिमित शक्ति को ही दबाता है। उसके भी चार भेद हैं : आयुषकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीय कर्म केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये घाती कर्मों का संपूर्ण क्षय अनिवार्य है। और केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद मोक्ष निश्चित है।

इस प्रकार प्रतिदिन, प्रतिक्षण तत्वों की विचारणा करते हुए उन श्रमणोपासकों में 'शंख' नाम का महाश्रावक अग्रेसर था। उनकी पत्नी का नाम 'उत्पला' था वह भी महाश्राविका थी जो बड़ी सुंदर और पवित्र थी। उस नगरी में पुष्कली नाम का एक श्रमणोपासक था। जो धनिक और जीवादि तत्वों का ज्ञाता था।

शंख श्रावक की वक्तव्यता

भगवान महावीर स्वामी श्रावस्ती नगरी में पधारे यह जानकर उस नगरी के सब श्रमणोपासक खूब हर्षित हुए. और भगवान को वंदन नमस्कार करके उचित आसन पर बैठ गये। भगवान ने धर्मोपदेश दिया और पर्षदा अपने अपने घर पर चली गई। उसके बाद शंख श्रावक ने दूसरे श्रावकों से कहा कि हे भाग्यशाली श्रावकों! अपन बहुविध भोजन पान करके पाक्षिक पौषध करें जिससे आत्मा का विशेष प्रकार से कल्याण हो। दूसरे श्रावकों ने भी यह बात स्वीकार की। सब अपने-अपने घर पर गये। उन्होंने विविध प्रकार से आहार, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ तैयार किये। लेकिन शंख श्रावक को निम्नप्रकार का विचार आया।

विविध प्रकार से आहार पानी आदि करके-कराके पदार्थों का रसास्वाद लेने के बाद पौषध करना मुझे श्रेयस्कर नहीं लगता। अत :–

(१) आहार पानी का त्याग करता हूं।

(२) ब्रह्मचर्य के पालन पूर्वक पौषध करूं।

(३) मणि-मोती आदि आभूषणों की ममता छोड़ दूं।

(४) सगे-स्नेहिओं की माया का त्याग करता हूँ।

(५) शरीर-सजावट याने स्नान, मालिश या उबटन का त्याग करता हूं।

(६) घास के पुलाव के संथारे का स्वीकार करता हूं।

इत्यादि विचार करके वह महाश्रावक पौषधशाला में आया। भूमि का प्रमार्जन किया। लघुशंका मलोत्सर्ग आदि निपटाकर एकाकी ही पौषधव्रत का स्वीकार करके विचरने लगा।

दूसरी तरफ सब श्रावक भोजन के लिये 'शंख' श्रावक की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह समय पर नहीं आने से पुष्कली श्रावक ने सबसे कहा आप सब यहीं ही विश्राम करें, मैं शंख श्रावक को बुलाने के लिए उसके घर पर जाता हूँ। ऐसा कहकर उसने शंख के घर की तरफ प्रस्थान किया। उसको आता हुआ देखकर शंख की धर्म-पत्नी उत्पला बड़ी हर्षित हुई और खड़ी होकर सामने गई। उसने वंदन-नमस्कारपूर्वक 'जयजिनेन्द्र' कहकर पुष्कली श्रावक को आसन पर बिठाया और पूछा कि, हे भाई! आपके पधारने का क्या प्रयोजन है? तब पुष्कली श्रावक ने कहा, में 'शंख' श्रावक को जीमने के लिए बुलाने को आया हूँ।' उत्पला ने कहा कि, 'शंख' श्रावक अभी पौषधशाला में ब्रह्मचारी होकर पौषधव्रत अंगीकार करके धर्म-ध्यान में आरूढ़ हैं। फिर वह पुष्कली श्रावक पौषधशाला में आया और गमनागमन का प्रतिक्रमण 'ईर्यावही' सूत्र द्वारा करके पौषध-व्रतधारी 'शंख' श्रावक को वंदन-नमस्कार करके उसने कहा कि, 'हे देवानु-प्रिय! हमने बहुत से अशन-पान-खादिम और स्वादिम बनवाये हैं तो आप पधारे और भोजन-पान निपटाकर पौषध व्रत अंगीकार करे और धर्मध्यान में प्रवृत्त होवें।

शंख ने प्रत्युत्तर देते हुये कहा-'हे भाग्य-शालिन्! आहार-पान का विपुल प्रमाण में स्वाद लेकर फिर संसार की माया उस दिन तक त्याग करके पौषधव्रत लेना मुझे तो उचित नहीं लगता है, लेकिन सारी माया

को समझपूर्वक छोड़कर पौषधव्रत लेना उचित लगने से मैंने पौषध-व्रत अंगीकार कर लिया है। अतः आप सब अपनी इच्छानुसार अशन-पान-खादिम और स्वादिम का आस्वाद करें और सुख से विहरें।

बाद में पुष्कली श्रावक पौषधशाला में से बाहर आकर सब श्रावकों को शंख के साथ हुई बात सुनाई। तदनन्तर सब श्रावक खान-पान में मस्त बन गये।

पौषध में स्थिरचित्त बने हुए 'शंख' श्रावक को रात्रि के समय धर्म-जागरण करते ऐसा विचार आया कि, सूर्योदय के समय भगवान महावीर स्वामी को वंदन-नमन तथा पर्युपासना करके पौषध पारूंगा। इस प्रकार पौषधवेश में ही शंख श्रावक ईर्यासमिति पालते हुये भगवान के पास आये। इस तरफ सब श्रावक सुबह में स्नानादि करके सुंदर वस्त्र और आभूषण पहिनकर भगवान के पास आये। वंदनादि करके धर्मोपदेश सुना और जहां शंख श्रावक थे वहां उनके पास जाकर कहा कि, हे शंख! आपके कहने से हमने अशन-पानादि तैयार किये और कराये लेकिन आप नहीं आये, यह ठीक नहीं किया। क्योंकि इससे तो हम हमारी क्रूर हँसी-मजाक समझते हैं। उस समय भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि—हे भाग्यशालियों! तुम लोग शंख की—

१ हीलना—जाति कुलादि के मर्म को प्रकट करके भर्त्सना करना।

२ निंदा—कुत्सित शब्दों का उच्चारण करके अनादर करना।

३ खिंसना—हाथ-मुंह के विकारपूर्वक निंदनीय शब्दों से क्रोध करना।

४ गर्हा—दूसरे के सामने दोष प्रकट करना।

५ अपमान—योग्य आदर किये बिना दूसरे की मान-हानि करना।

आदि पांच प्रकार की तिरस्कारमय भाषा छोड़ो क्योंकि शंख श्रावक धर्म में श्रद्धायुक्त एवं दृढ़ है। उसने पौषधव्रत में सारी रात प्रमाद का त्याग करके सुदृष्टिजागरी का जागरण किया है।

जागरिका कितने प्रकार की है ?

प्रश्न :—हे प्रभो ! जागरिका किसको कहते हैं ! और वे कितने प्रकार की है ?

भगवान ने कहा कि—जागरिका तीन प्रकार की है—वह इस प्रकार है :—

(१) बुद्ध जागरिका—उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवल दर्शन के स्वामी अरिहंत परमात्माएँ बुद्ध जागरिका करते हैं। क्योंकि उनको प्रमाद और निद्रा का सर्वथा अभाव होता है।

(२) अबुद्ध जागरिका—जो मुनिराज पांच समिति से युक्त और तीन गुप्ति से गुप्त हैं। लेकिन केवलज्ञान प्राप्त नहीं होने के कारण छद्मस्थ है, अतः उनको अबुद्ध जागरिका कही है।

(३) सुदर्शन जागरिका—जीवाजीवादि तत्वों को जाननेवाले सम्यग्दर्शनी श्रावकों को सुदर्शन-जागरिका कही है।

इस प्रकार कहकर भगवान ने तीन प्रकार की जागरिका समझायी।

उसके बाद दूसरे श्रावकों के क्रोधादि के उपशमन के लिये 'शंख' श्रावक ने भगवान से पूछा कि, हे प्रभो ! क्रोधकषाय वशवर्ती जीव कौन से कर्म बांधते हैं ? किसका चय करते हैं और किसका उपचय करते हैं।

जवाब देते हुए भगवान ने कहा कि—'हे शंख श्रावक ! क्रोधावेशवर्ती जीवात्मा आयुःकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीयादि सातों कर्मों का गांठ बन्धन करता है। मजबूत करता है। निकाचित करता है। यावत् अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

कषायों की महाभयंकरता

बारह प्रकार की पर्षदा के सन्मुख तीर्थंकर भगवंत अपने श्रीमुख से फरमाते हैं कि—चारों कषायों के सेवन से जीव अनत संसारी बनता है।

बहुत बार हम स्तवन में बोलते हैं कि हे प्रभो ! ".....
रमता नव नव वेषे" यानि हे ऋषभदेव भगवान। एक दिन अपन दोनों साथ में जरूर खेले होंगे। साथ में बैठकर खाया-पीया होगा। फिर भी आज तो आप अनन्त सुख के धाम सिद्ध-शिला में विराजमान हैं और मैं अनन्त दुःखों की परंपरा से भरे हुए इस संसार-सागर में गोता खा रहा हूँ। बहुत दफे ऐसी भी घटना होती है कि––एक दिन एक ही मुहुर्त में दीक्षा लेनेवाले दो मुनिराज में से एक केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जाता है और दूसरा चरित्र धर्म की विराधना करने से दुर्गति में जाता है तब यह विचारणीय हो जाता है कि ऐसा क्यों बनता है ? उत्तर में कहा जाता है कि––केवलज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़ी रुकावट चार कषाय-रूपी शत्रुओं की आती है। इनका पहरा बड़ा कड़ा है। जहां जहां कषाय, कषायभाव, काषायिकप्रवृत्ति है वहां वहां केवलज्ञान का अभाव है। अतः अगर जीवात्मा को केवलज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा हो तो उसको सबसे पहिले यथाशक्ति कषायों को क्षय करने के लिए अथवा उपशम करने का प्रयत्न करना चाहिये। वे कषाय चार प्रकार के हैं–– अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यान कषाय, प्रत्याख्यान कषाय और संज्वलन कषाय। उन प्रत्येक के चार भेद हैं :––क्रोध, मान, माया और लोभ। इस प्रकार कषाय के सोलह भेद हुए।

प्रत्येक जीव की लेश्यायें समय समय पर बदलती रहती हैं। अतः अनंतानुबन्धी कषाय में जीवनयापन करनेवाले जीव को किसी समय अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान या संज्वलन कषाय का भी रसानुभव हो सकने के कारण उस समय में ही सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ बनती है। अतएव अनन्तानुबंधी कषाय का स्वामी नरक में जाने के बाद भी किसी समय अच्छे निमित्त मिल जाने से सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य बनता है। इतना ख्याल में रखना चाहिए कि अनन्तानुबन्धी कषायों की विद्यमानता में कोई भी जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता है। प्रत्युत प्राप्त हुआ सम्यक्त्व चलित भी हो जाता है।

इस प्रकार इस प्रथम कषाय में जब अप्रत्याख्यान आदि कषायों का मिश्रण होगा तब उसको देशविरति चरित्र की प्राप्ति सुलभ होती है उदाहरण के रूप में चौथी नरक में रहे हुये रावण और लक्ष्मण का जीव।

इस प्रकार एक कषाय का दूसरे कषाय में मिश्रण होने से मनुष्य के मानसिक परिणाम बदलते रहते हैं। जैसे अनन्तानुबन्ध में अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। प्रत्याख्यान में अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, संज्वलन में अनन्तानुबन्ध, प्रत्याख्यान और संज्वलन।

इस प्रकार कषायों की भीषणता देखकर प्रत्येक कषाय जीवन को किस प्रकार बरबाद कर देता है। इस पर गहरा मनन करना चाहिये।

क्रोध की भीषणता :

(१) क्रोधः कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः।

—(आचारांग सूत्र १६१)

निमित्त हो या न हो आत्मा में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान विषयक अतिक्रूर अध्यवसाय-मानसिक चिंतायें बनी रहे, यह क्रोध कहा जाता है।

(२) तत्राऽऽत्मीयोपघातो क्रोध कर्म विपाकोदयात् क्रोधः।

—(आचारांग १७०)

आत्मा के सभी सत्कर्म, पुण्यकर्म, सद्नुष्ठानों, तपश्चर्यायें आदि का सम्पूर्ण घात करें। वह क्रोध कहा जाता है। जैसे लाखों मन घास के गोदाम में अगर अग्नि का जरा सा तिनका पड़े तो वह सारा घास मिनटों में जलकर खाक हो जाता है उसी प्रकार 'क्रोधः पुनः क्षणेनापि पूर्वकोट्यार्जितं तपः भस्मसात् करोति।' एक ही क्षण का क्रोध करोड़ों वर्षों की तपश्चर्या को और लाखों करोड़ों के दान से उपार्जित पुण्य को जलाकर भस्मीभूत कर देता है।

(३) क्रोधनं क्रुध्यति वा येन स क्रोधः, क्रोध मोहनीय सम्पाद्यो जीवस्य परिणति विशेषः कोध मोहनीय कर्मैव ॥

—(ठाणा १९३)

मतलब कि मद्यपान करने से मत्त बने हुए मानव कोम तिज्ञान या मानवता के साथ जैसे कतई संबन्ध नहीं रहता है। वैसे मदिरा पान जैसे मोहनीय कर्म के उदय में मानव का क्रोध या उसके परिणाम शान्त, उपशान्त या दान्त नहीं होते। जिससे संसार के किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थों के कारण मनुष्य की क्रोध को उदय सदैव बना ही रहता है। शराब का नशा सबसे पहिले मनुष्य की इन्द्रियों में मादकता लाकर उसके दिल और दिमाग को सर्वथा शून्य कर देता है। वैसे ही मोहनीय कर्म का उदय या उसकी उदीर्णा से मनुष्य की पांचों इन्द्रियें मादकता से घिर जाती है उस समय मनुष्य इन्द्रियों का गुलाम-सर्वथा उसके काबू में आकर प्रकट या प्रच्छन्न गुलाम बने बिना नहीं रहता है। जहां इन्द्रियों की प्रच्छन्न या प्रकट गुलामी विद्यमान होती है वहां क्रोध की उत्पत्ति भी हुए बिना नहीं रहती।

(४) अप्रीति लक्षणाः क्रोधः। —(उत्तराध्ययन सूत्र–२६१)

लक्षण के द्वारा लक्ष्य की सिद्धि होती है। जैसे रसोड़े में से निकलने वाले धुएँ के द्वारा अग्नि की साबीती होती है। कोई तर्कवादी या वितंडावादी उसको मिथ्या साबित नहीं कर सकता है, क्योंकि जहां जहां धुआं होता है वहां अग्नि होती ही है, यह निश्चित है। उसी प्रकार चेतन या अचेतन पदार्थ के प्रति रही हुई अप्रीति-अप्रेम-अनिच्छा-नफरत या उदासीनता में कारण रूप क्रोध का सामीप्य अवश्यमेव होता है। अर्थात् छिपे हुए चोर की तरह मनुष्य के जीवन में रहे हुए क्रोध के कारण मनुष्य का मनुष्य के साथ रहा हुआ प्रीति-धर्म, प्रेम-धर्म, मैत्री-धर्म, वैराग्य-धर्म या सम्यक्त्व उतने समय तक या जीवन के अन्तिम श्वास तक भी नष्ट हो जाता है। अतः अप्रीति आदि लक्षणों से मानव-जीवन व्याप्त क्रोध प्रगट होता ही है।

बेशक अप्रीति आदि में निर्ममत्व लक्षण से लक्षित वैराग्य भी कारण रूप हो सकता है लेकिन निश्चयात्मक दृष्टिसे निर्ममत्वभाव मानव जीवन में द्वेषात्मक अप्रीति नहीं हो सकती है। लेकिन करुणा रससे पूर्ण प्रीति-प्रेम--मित्रता का पयोनिधि समुल्लसित होता है।

जैसे महावीर स्वामी ने चंड कौशिक और संगम पर, पार्श्वनाथ प्रभुने कमठासुर पर, खंधक मुनि के ५०० शिष्यों ने पालक मंत्री पर, गजसुकमाल मुनिने अपने श्वसुर पर, मैतारज मुनिने सोनार पर, चंदन बालाने मूला शेठाणी पर, राजिमतीने अपने दियर रथनेमि मुनि पर अप्रिति-द्वेष-नफरत या रोष किया नहीं था लेकिन अद्भुत करुणा की थी। उनमें मैत्रीभाव था। करुणा की चरमसीमा थी। अतएव कहा गया है कि सम्यत्व के केसरीया रंग से पूर्ण रंगे हुए जीवात्मा को किसी के प्रति अप्रीति, द्वेष या तिरस्कार की भावना नहीं होती। अतएव शास्त्रवचन है कि अप्रीति लक्षण से क्रोध लक्षित हुए विना नहीं रहता।

(५) क्रोध : अप्रीति परिणाम : (जीवा. १५)

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवादि दोषों से रहित लक्षण के द्वारा लक्ष्य की सिद्धि होती है। लेकिन लक्ष्य में लक्षण की विद्यमानता होनी ही चाहिए ऐसा एकान्त नहीं है। लोखंड के गोले में या सिगड़ी के अंगारे में अग्निरूप लक्ष्य तो है। लेकिन धुंआ रूपी लक्षण की अविद्यमानता स्पष्ट नजर आती है। उसी प्रकार स्वार्थवश या समय को पहिचाननेवाले बहुत से ऐसे मानव को हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अमुक समय तक वे बड़े बने हुए। गंभीर, हंसमुख और प्रेम पूर्ण बाते करते हुए दिखाई देते हैं लेकिन वास्तव में उनके मन में द्वेष की अग्नि छिपी रहती है। जो समय आने पर प्रस्फुटित हो जाता है। अतएव बाहर बने हुए और भीतर के मायावी, बाहर से गंभीर लेकिन हृदय में चूल्हे पर खदकती खीचड़ी की तरह क्रोध-ईर्ष्या से जलते होते हैं। बाहर से स्मितयुक्त लेकिन हृदय में कातिल विष से भरे हुए मनुष्य समय पर

जीवघातक प्रहार करने वाले होते हैं। बाहर से मीठा बोलनेवाले लेकिन भीतर ईर्ष्या, असूया, और वैर-विरोध का झंझावात चलता रहता है। और समयकी प्रतीक्षा में रहते हैं। कब मौका मिले और दुश्मन को साफ कर दूं। इस प्रकार के रहनी और कथनी के अंतरवाले मनुष्यों के हृदय के प्रति प्रदेश में क्रोधका उदयकाल विद्यमान होता है। अतएव कहा गया है कि क्रोधी मनुष्य का जीवन अप्रीत्यात्मक परिणामवाला होता है। अप्रीति याने आत्मा की परिणति, लेश्या, विचारधारा या उसके परिस्पंद समझना।

अतः भूत, चण्डाल, या काले सर्प के समान क्रोध सर्वथा त्याज्य होने से सबसे पहिले छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

अपने सत्ताईस भव की अपेक्षा से १६वें भव में महावीर स्वामी का जीव विश्वभूति नाम से था। संसार की झंझटों से ऊबकर मुनिधर्म स्वीकार किया। तपश्चर्या की। संयम भी पाला। लेकिन विशाखा नंदी के ऊपर हुए क्रोध को काबू में नहीं कर सकने के कारण मथुरा नगरी में गाय को सींग से पकड़कर आकाश में उछाल कर दूर फेंक दिया और विशाखानंदी को मार डालने का संकल्प किया और १८वें भव में वासुदेव के रूप में जन्म लेकर सातमी नारकी में गये। वहां से सिंह का अवतार लेकर चौथी नारकी में गये, इत्यादि अगणित उदाहरणों से हम जान सकते हैं कि क्रोधांध मनुष्य हिंसक होता है। 'क्रोधाविष्टो नरो हन्ति मातरं पितरं तथा' क्रोध के आवेश में मनुष्य माता और पिता की भी हत्या कर डालता है। अतः उसके हृदय में मर्यादातीत पापों की विद्यमानता होती है।" इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि— क्रोध-पाप के कारण से भव-भ्रमण बढ़ता है और जीव को असह्य अशाता-वेदनीय कर्म भोगना पड़ता है।

(२) मान कषाय :

ऐसा कहा जाता है कि क्रोध कषाय को शायद वश में किया जा सकता है, लेकिन आठ फनवाले काले भयंकर शेषनाग जैसे मान कषाय को स्वाधीन करना अत्यंत कठिन है।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई कुछ पौद्गलिक चीजें, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई कुछ शारीरिक शक्तियां और दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दूसरे को कुछ दिया हो, दिलाया हो आदि कार्यों से मनुष्य के मन में कुछ अहं आ जाता है। जिससे समुद्र के आगे बिन्दु के समान थोड़े बहुत किये हुये कार्यों से अभिमान-अहंकार-दर्प और "मैंने यह किया, वह मुझे करना पड़ा और मेरे बिना यह कार्य कौन कर सकता है" ऐसी भावनाओं को मान कषाय कहते हैं। अब शास्त्रीय दृष्टि से अभिमान की खतरनाकता विचार करते हैं।

(१) मानो वन्दनाभ्युत्थानालाभ निमित्त :

(दशवैकालिक-१८७)

शालिभद्र शेठ, वस्तुपाल, तेजपाल, अनुपमादेवी, जगडुशाह, पेथडकुमार, विजय शेठ, विजया शेठानी आदि को जो कुछ भौतिक ऋद्धि समृद्धि मिली थी उसके आगे हमारे पासे तृणवत् भी नहीं है फिर भी मनुष्य के पास जैसे धन बढ़ता जाता है वैसे वह सबसे पहिले देव-गुरु को वंदन-नमन करने के मिले हुए शुभ संस्कारों को तिलांजली दे देता है। मतलब कि संसार के सब कार्य करने का उसके पास समय है लेकिन अरिहंत भगवान के दर्शन, पूजन आदि करने का समय उसके पास नहीं है। पंच महाव्रतधारी गुरुदेवों के चरणों में बैठकर तत्वज्ञान, जैनधर्म के मूल सिद्धान्त समझने जितना समय उसके पास नहीं है। अतः अपने श्रीमुख से कहता फिरता है कि साहिब। इस संसार की झंझट में ऐसा फँसा हुआ हूँ कि पूजा-पाठ धर्मध्यान करने का समय ही नहीं मिलता। क्या करूँ ?

मानः गर्व परिणामः (जीवाभिगम सूत्र : १५)

पूर्वभव के किये हुए मान कषाय के उदय से या प्राप्त हुए भौतिक पदार्थों से उदीरित (उदीर्णा) मान कषाय के कारण मानव जीवन में अभिमान के परिणाम उत्पन्न होवे उसको भान कहते हैं। "गर्वणं गर्व वा गिरतीव परमिति गर्वः" गर्व शब्द की इस व्युत्पत्ति में 'गृ' धातु तुदादि गण का ग्रहण करना जिसका अर्थ है दूसरे के सत्कार्योंको, दूसरे की बडाई को, विद्वत्ता को, पुण्यकर्मिता को नष्ट करने का प्रयत्न करना। ऐसे गर्व के परिणामों के मूल में मानकषाय रहा हुआ है। उसकी व्याख्या कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराजा इस प्रकार करते हैं "मत्समो कोऽपि नास्तीति मननं मानः" मतलब कि मेरे जैसा और मेरे समान कार्य करनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है। ऐसे अहंकारी भाव मान कषाय के कारण होते हैं। ऐसा गर्विष्ठ अहंकारी मनुष्य जब सड़क परसे पसार होता है तब सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह जब चलता है तो अपने वक्षस्थल को फुला के चलता है और भीतर मन में यही विचार करता है कि मेरे जैसा दूसरा कोई भी धनी, दानी, व्रतधारी, क्रियाकांडी नहीं हैं। विद्वान् वक्ता, तपस्वी, रूपवान् खानदान और पोलीटीकल भी नहीं है। जो कुछ हूं मैं ही हूं। मेरे जैसा दूसरा कोई भी नहीं है।

(३) मानो जाति आदि गुणवान अहं एव इति मननं-अवगमनं गम्यते वाऽननेति भावः (ठाणा. १९३)

(४) मान : अहमिति प्रत्ययहेतुः (उत्तराध्ययन. २६१)

(५) मान : जातिकुलरूपबलादि समुत्थो गर्व : (आचा. १७०)

अर्थात् जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और ज्ञान आदिमें अहं संज्ञा प्रगट होती है। जिससे विद्युत के चमकार जैसी, पानी के प्रवाह जैसी, हाथी के कान जैसी चंचल अपनेको मिली हुई ऋद्धि-समृद्धि आदि की

प्रशंसा करने में ही हम दिन का अधिक समय बिताते हैं। यह सब मान पाप के कारण होता है जो अढार पापस्थानकों में सातवाँ पाप है।

(३) माया कषाय

अनुभवी योगाचार्य तो ऐसा कहते हैं कि "मानरूपी अजगर को वश में करने के लिये तो थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। लेकिन माया नागिन तो बड़ी ही असाध्य होने से बड़े–बड़े योगी-महायोगी पंडित-महापंडित आदि को भी अपनी जाल में फँसा कर दुर्गति में ले जानेवाली है। महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज तो यहां तक कहते हैं कि—

'सुत्यजं रसलाम्पट्यं सुत्यजं देहभूषणम्।
सुत्यजाः कामभोगाद्याः दुस्त्यजं दंभ सेवनम्।
"केश लोचन मल धारणा सुणो संताजी,
भूमि शटय्या व्रत त्याग गुणवंताजी,
सकल सुकर छे साधुने सुण संताजी,
दुक्कर मायात्याग गुण वंताजी"

तात्पर्य यह है कि घी दूध, मलाई, सक्कर, गुड़ दही आदि की रस लंपटता, आभूषणों से शरीर की सजावट, स्त्रियों का सहवास का त्याग और मस्तक के बालों का लोच, मलिन कपड़े भूमिशय्या आदि भी साधक को सुकर है लेकिन हृदय के भीतर रही माया-नागिन, मायाशल्य या माया-मृषावाद का त्याग करना अत्यंत कठिन है।

अनंत संसार की माया भी अनंत होने से किस समय, कैसे रूप में, किस निमित्त से नृत्यांगना की तरह नाच करती हुई माया मानवी के भीतर जब उत्पन्न होगी, तब उसको जानने के लिये संसार का कोई भी नजुमी (ज्योतिषी) समर्थ नहीं है और न कोई मंत्र कामयाब होता है।

यह माया आबाल–गोपाल सबके जीवन में होने पर भी "घरडांने झाझेरी....." (बुड्ढों को ज्यादा) यह युक्ति साक्षी देती है कि संसार को भोगकर थके हुए, व्यस्त बने या अशक्त बने हुए वृद्धों को भी इस माया नागिन के दंश बड़े गहरे लगे होते हैं।

अब हम शास्त्रीय कथनों से माया नागिन के पराक्रम देखें।

(१) स्वपरव्यामोहोत्पादकं शाठ्यं माया (उत्तरा० २६१)

स्व याने अपनी जात को और पर याने दूसरे को व्यामोह उत्पन्न करावे उसका नाम शाठ्य, शठता, लुच्चाई या पोलीटिकल–प्रपंचमय जीवन माया है।

(२) सर्वत्र स्ववीर्यं निगूहनम् माया (आव० ४३)

(३) परवंचनबुद्धिः माया (ज्ञाता० २३८)

(४) परवंचनाभिप्रायः माया

(५) अनार्जवं माया (प्रज्ञा० ३३५)

(६) मायाविषयं गोपनीयं प्रच्छन्नमकार्यं कृत्वा नो आलोचयेत् सा माया (ठाणा १३७)

इत्यादि सूत्रों से ज्ञात होता है कि माया और मायावी का जीवन असाध्य रोगों के बराबर गिना गया है।

(४) लोभ कषाय :

लोभ कषाय को राक्षस की उपमा दी गई है। जिसमें सभी दुर्गुण पाप, अपराध और प्रपंचों का समावेश होता हैं। नाटक के स्टेज पर जैसे एक ही व्यक्ति विभिन्न रूपों में आता है, वैसे ही लोभ राक्षस भी व्यक्ति के जीवन में भिन्न-भिन्न रूप से आता है। पुत्र लोभ, द्रव्यलोभ, सत्तालोभ, वस्त्राभूषण लोभ, इज्जत लोभ, विषय-वासना लोभ इत्यादि

रूपों से लोभ नाम के राक्षस ने जीव मात्र को या देव मात्र को अपनी तीक्ष्ण दाढ़ में दबा दिया है। लोभ की व्याख्यायें शास्त्रों में अनेक प्रकार से की गई है :—

(१) लोभ : गार्द्धय लक्षणः (जीवा० १५)
(२) लोभः मूर्च्छा (प्रश्न ४२)
(३) लोभः चित्तेविमोहनम् (,, ९७)
(४) लोभः तृष्णा परिग्रह परिणामः (आचा० १७)
(५) लोभनं अभिकांक्षणम्, लुभ्यते वाऽनेति लोभः (ठाणा १७३)
(६) द्रव्याद्यभिकांक्षा लोभः (उत्तरा० ६१)
(७) लोभः अभिष्वंगः (दश० १०७)
(८) गार्द्धयमभिकाङ्क्षा (उत्तरा० २९७)
(९) लब्ध वस्तु विषय गृद्धयात्मकम् (उत्तरा० ६६४ भग० ८०४)

देवाधिदेव महावीर स्वामी ने कहा—इन चारों कषायों का स्वामी अपने आत्मा को खूब भारी बनाकर संसार में परिभ्रमण करता है। बाद में श्रावस्ती नगरी के सभी श्रावक प्रभु की बात सुनकर भयभीत हुए। त्रस्त हुए और उद्विग्न होकर उन्होंने भगवान को वंदन किया, नमन किया और जहां शंख नामक श्रावक था वहां आकर शंख को वंदन-नमन कर खमत खामणे किये और समवसरण से बाहर आकर अपने-अपने घर गये। शंख श्रावक भी ऋषि भद्र पुत्र की तरह यावत् सभी दुःखों का क्षय करके कल्याण को प्राप्त करेगा।

बारहवें शतक का प्रथम उद्देश समाप्त।

शतक १२ वाँ : उद्देशक–२

कौशांबी नगरी :

इस वर्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा करीब समाप्त होने को आया था। उस समय साक्षात् अरिहंत स्वरूप, चरम तीर्थंकर तथा द्रव्यदेव, नरदेव और भावदेव से परिपूजित देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी जब विचरते थे, उस समय कौशांबी नाम की नगरी थी। जहां उदायन नाम का राजा राज्य करता था। जो सहस्त्रानीक राजा का प्रपुत्र शतानीक राजा का पुत्र, चेटक महाराजा की पुत्री का पुत्र, मृगावती देवी का पुत्र और जयन्ती श्रमणोपासिका का भतीजा था।

मृगावती देवी भी साहस्त्रनीक राजा की पुत्रवधु, महापराक्रमी शतानीक राजा की धर्म-पत्नी, चेड़ा राजा की पुत्री, उदायन राजा की माता और जयंती श्राविका की भाभी होती थी। वे सुकुमार अंगवाले, सर्वांगसुन्दर और सती शिरोमणि थी। वहां जयंती नाम की श्रमणोपासिका थी। जो सहस्त्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की बहिन, उदायन राजा बुआ और मृगावती देवी की ननंद होती थी।

वे देवाधिदेव भगवान स्वामी के साधुसाध्वीओं की प्रथम शय्यात्तर श्राविका थी। भगवान् महावीर स्वामी के पहिले चेडा महाराजा पार्श्वनाथ प्रभु के अनन्य उपासक थे। जब भगवान महावीर स्वामी को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई तब चेडा महाराजा उनके अनन्य भक्त बन गये, अहिंसा-संयम तथा तपोधर्म के आराधक एवं प्रचारक बने। वैभवशाली गणतंत्र के प्रथम अधिनायक थे। उनकी सात पुत्रियां थी। उनमें से एक पुत्री मृगावती का लग्न कौशांबी के राजा शतानिक के साथ किया था। अतिशय रूपवती, शीलवती और तीर्थंकर महावीर देव की परम उपासिका

थी। अपने पुत्र उदायन का राजगद्दी पर अभिषेक करके चन्दनबाला साध्वी के पास दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया और गुरुजी को भी केवलज्ञान प्राप्त कराने में निमित्तभूत बनी थी, तथा जयंती श्राविका जो बाल विधवा थी और देवाधिदेव भगवान् महावीर स्वामी के शासन के प्रति जिसको अनहद अनुराग था। साधु-साध्वीजीओं, महाराजों के लिए शय्यातर थी यानि कौशांबी के तरफ आनेवाले साधु-साध्वीओं को अपना मकान ठहरने के लिए देकर श्रद्धा-संवेगपूर्वक उनकी वेयावच्च करती थी।

कौशांबी में भगवान का पुनीत आगमन :

एक दिन चतुर्विध संघ के साथ भगवान महावीर स्वामी कौशांबी नगरी में पधारें और चन्द्रावतरण चैत्योद्यान में स्थापित समवसरण में विराजमान होकर भगवान ने धर्मोपदेश दिया। जब उद्यान पालक ने यह समाचार उदायन राजा को दिया। तब राजाजी बड़े प्रसन्न हुए और अपने कुटुम्बीजनों को बुलाकर कौशांबी नगरी को सुशोभित करने की आज्ञा दी।

जयंती श्राविका :

राजा उदायन की बुआ जयंती श्राविका भी भगवंत का आगमन सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। मृगावती रानी के पास आकर उसने कहा कि 'तीर्थंकर, अरिहंत देव, देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहां पधारे हैं। उनका नाम सुनते ही अनंत पुण्य की राशी का उपार्जन होता है। फिर उनको किया हुआ वंदन, नमन, पर्युपासना और उनके श्रीमुख से निकला हुआ उपदेश सुनने से तो न मालूम कितना लाभ होगा? अतः सावधान हो जाइए। प्रमाद का त्याग करिये। आलस को तिलांजली दीजिए और अपन सब भगवान के समवसरण में जाकर

अपने जन्म को सफल करें।' ऐसा कहकर अपने सेवकों को सर्वश्रेष्ठ रथ को सज्ज करने की आज्ञा दी। उसमें बैठकर समवसरण की तरफ प्रस्थान किया और समवसरण में प्रवेश किया। तीन प्रदक्षिणा देकर नमन-वंदन करके उचित स्थान पर बैठकर धर्मोपदेश सुनने लगे।

देशनान्ते विधवा, महाविदुषी, जीवा-जीवादि तत्त्वों की ज्ञात्री, अरिहंतों के प्रति अनन्य श्रद्धाशीला, जैन साधु-साध्वीओं की परमोपासिका, जैन-धर्म की आराधना में पूर्ण जाग्रत, सुन्दर वक्तृत्व शालिनी, उत्तम व्यक्तित्व धारिणी, जयंती श्राविका समय-समय पर भगवान महावीर स्वामी की प्रश्न पूछने लगी और भगवान ने उन प्रश्नों का उत्तर दिया तब शंका-आकांक्षा-विचिकित्सा रहित बनी हुई वह जयंती श्राविका परमानंदित हुई। देशनान्ते प्रभु सन्मुख दो हाथ जोड़कर खड़ी हुई और सिर झुकाकर प्रश्न पूछे, वे निम्नलिखित हैं—

जीव भारी किससे बनता है ?

प्रश्न १—हे प्रभो ! किन कार्यों को करने से जीव भारी बनता हैं ? वजनदार बनता हैं ?

भगवान ने उत्तर देते हुए कहा कि—'हे जयंति श्राविका ! प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यात्व नाम के पापस्थानों का सेवन करने से, कराने से और मन-वचन-काया से उनका अनुमोदन प्रशंसादि करने से जीव दीर्घ-कर्मी बनता है। अतिभारी पदार्थ जैसे नीचे की ओर जाता है। वैसे ही भारी-कर्मी जीव नरक गति या तिर्यंच गति में जाता है। जहां स्पष्ट अस्पष्ट वेदनायें भोगनी पड़ती है और यदि ऐसे मनुष्य गति में जन्म ले तब भी नीच जाति और हलके कुल में जन्म लेने के अलावा खान-पान-मकान आदि के अति दरिद्र होने से तिर्यंच-पशु आदि से भी कठिन मजूरी करने पर भी उदर निर्वाह मुश्किल से होता है। पहिनने को पर्याप्त

कपड़े नहीं होते है। रहेने को अच्छा स्थान नहीं होता है। सोने के लिये पर्याप्त जगह नहीं होती। अत्यन्त गंदे स्थानों में हलके लोगों के साथ झुंपड पट्टी में रहना पडता है। ठण्डी, गरमी, वर्षाऋतु ये तीनों ऋतु उनके लिये यमदूत जैसी हैं। थोड़े से पुण्य के कारण उच्चकुल में जन्म लेने परभी पूर्व भव में किये हुए पापो के कारण धन,और सुख के साधन के साथ बारहवे चन्द्र जैसी दशा होने से सारा दिन आर्तध्यान में और रात करवट फिराने में ही पूर्ण करते हैं। इससे भी कुछ अधिक पुण्य किया हुआ होतो भौतिक साधन अच्छी तादाद में प्राप्त होने पर भी कौटुम्बिक क्लेश, सम्बन्धियों की अकाल मृत्यु, और पडोशियों को साथ क्लेश-कंकास आदि होते रहते हैं। पापारंभ अमर्यादित होनेसे एक दूसरे के कट्टर दुश्मन बनकर एक दूसरे को मोत के घाट उतारते हैं। भयंकर से भयंकर हुंसातुंसी, दंतक्लेश, आपस में मारामारी इस प्रकार दुखी हुए रौद्र ध्यान में जींदगी पूर्ण करते हैं। इससे प्राप्त हुए पुण्य के साधनों का भी उपयोग नहीं कर सकते भोगने पर भी आनंद या तृप्ति नहीं होती। और बारबार पापस्थानों के सेवन से वापिस दुर्गति के तरफ प्रस्थान करके कितने ही कालचक्र पूर्णकरने पर भी चरमावर्त दशा को प्राप्त नहीं कर सकते। और सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। जात्यंध मानवी जैसे कुछ भी देख नहीं सकता वैसे ऐसे जीवों के जन्म समय में कितने ही तीर्थंकर विद्यमान हो तो भी उनको धर्म के प्रति रुचि नहीं होती। और सम्यग-मार्ग में आ नहीं सकते। इस प्रकार भगवाननी बात सुनकर पर्षदा पापभीरु होकर धर्मध्यान में उद्यमवंत बनी।

भवसिद्धिक जीवों के लिए वक्तव्यता :

प्रश्न २—जयंती श्राविका पूछती है, हे प्रभो! जीवों की भवसिद्धिकता स्वाभाविक है या परिणामिक?

भगवान ने कहा कि—"भवसिद्धिकता स्वाभाविक ही होती है।

पारिणामिक नहीं है। जीव का चैतन्य स्वाभाविक है। पहिले चैतन्य नहीं था लेकिन ईश्वर की माया से उसमें चैतन्य प्रगट हुआ या समवाय सम्बन्ध से चैतन्य आता है, ये सब मृषावाद होने से तर्क संगत या आगम संगत नहीं है। जबकि बाल्य, यौवन, वार्धक्य, स्थूलत्व, कृशत्व ये सब पारिणामिक भाव है। जो आते हैं और जाते हैं। बालक में बालत्व होता है, वह एक दिन सर्वथा चला भी जाता है। तब चैतन्य में वृद्धि या ह्रास होता है लेकिन जीव में से चैतन्य सर्वथा चला नहीं जाता है। पत्थर में मूर्ति या खंभे के रुप में परिणामों का परिवर्तन; काल को लेकर जरूर होता है। लेकिन पत्थर में रहा हुआ स्वाभाविक काठिन्य-कठोरता उसमें परिवर्तन नहीं होता। पारिणामिक भावों में भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय या काल द्रव्य का चमत्कार रहा हुआ है। नहीं कि ईश्वर का ?

चैतन्य की तरह भवसिद्धिकता भी जीव में स्वाभाविक है। भवसिद्धिक याने क्या ? यह भी जान लें। स्तवन में हम गाते हैं कि "सिद्धि निवास लहे भवसिद्धि तेमां शुं पाड तमारो ?" तो उपकार तमारो वहीए जो अभव्यने तारो। ओ प्रभुजी ओलंभडे मत खीजो" तब समझने का यह है कि भवसिद्धिक याने क्या ?

(१) भवैः सिद्धिर्यस्याऽसौ भव्यसिद्धिको भव्यः (राज. ४७)

(२) भवे सिद्धिर्यस्याऽसौ भवसिद्धिकः भव्यः (प्रज्ञा. ३९३)

(३) भवैःसंख्यातैरसंख्यातैरनन्तैर्वा सिद्धिर्यस्याऽसौ भव्यः (प्रज्ञा.५१३)

(४) भवा भाविनी या सिद्धिः निवृति येषां ते भव सिद्धिकाः (ठाणा. ३०)

(अल्प परिचित शब्द कोष ; भा. ४)

उपर्युक्त सूत्रांशों से हम जान सकते हैं कि-जो जीव आज, कल, दो-तीन या पांच भव में संख्याता-असंख्याता या अनन्त भवों के बाद भी सिद्धि प्राप्त करेगा, वह भवसिद्धिक कहा जाता है। इससे विपरीत अभव्यसिद्धिक होतें हैं। जो किसी समय किसी की सहायता से भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

आम के पेड़ पर रही हुई कैरी समय पर अपने आप पक जाती है, जबकि कृत्रिम रूप से पकाने के निमित मिलते वह केरी ४-६ दिन पहिले ही पक जाती है उसी प्रकार भवसिद्धिक अवस्था को भी काललब्धि और भावलब्धि निमित्तरूप होती है। भगवान महावीर स्वामी को मोक्ष में जाने के लिये काललब्धि परिपक्व न होने से सम्यकत्व प्राप्त होने के बाद भी २१ भवों तक वे मोक्ष की मर्यादा भूमि में आ नहीं सके थे। अत: तीसरे भव में चारित्र मोहनीय के (उदय के) कारण संयम भ्रष्ट हुए। जब कि शिष्यसंपति के लोभ से दर्शन मोहनीय कर्म के चक्रावे में आकर सम्यकत्व से भी भ्रष्ट हुए। बीच के बारह भवों तक फिरसे सम्यग्-दर्शन को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं हुए। सोलहवे भव में फिर से चारित्रवान हुए। लेकिन मोक्ष मर्यादा से दूर होने के कारण क्रोधावेश में धूआंपूआं होकर निदान (नियाणा) ग्रस्त हुए। अठारहवें भव में नियाणे का फल भोगकर सातवीं नरक में गये। बीसवें भव में सिंह बनकर एसवीसवे भव में चौथी नरक में गये। इस प्रकार नयसार के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात भी एक्कीस भव तक अतिभयंकर अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय संबंधी कर्म भोगने के बाद बावीसवें भव में मोक्ष की मर्यादा में आ सके हैं। इससे पापस्थानको के मार्ग बंध हुए। संवर के द्वार खुले और अपने हृदयकमल में ही बिराजमान अरिहंत स्वरूप का साक्षात्कार कर सके। फिर तो उत्तरोत्तर आगे की श्रेणिओं में चढ़ते गये और सतावीस में भव में काललब्धि और भावलब्धि का समागम होते ही भगवान महावीर स्वामी

की आत्मा अनन्त सुखोंका भोक्ता बनी। इसीलिये कहा गया है कि 'जल्दी या देर से भवसिद्धिक मोक्ष में जायेंगे और अभव्यसिद्धिक कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगे। इसका कारण यह है कि– "जैसे भवसिद्धिक स्वाभाविक है वैसे अभव्यसिद्धिक भी स्वाभाविक है। जिसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। अभव्यसिद्धिक अभव्य जीवों का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मनुष्य-भव को प्राप्त करता है। आर्यदेश और आर्यकुल में भी उत्पन्न हो सकता है लेकिन उनका मन धर्मकी आराधना करने में कभी लगता नहीं है। धर्म के प्रति उनकी स्वाभाविक ही रुचि नहीं होती है। देवगति के सुखों को प्राप्त करने के लिये या मनुष्य भव में राजा-महाराजा होनेके लिये दीक्षा लें – संथम को पाले लेकिन भावसे उनके हृदय श्रद्धाहीन होने से जैनत्व को या बोधि को प्राप्त करने में वे कभी भी फलीभूत नहीं होते हैं। कठिन (कोरडु) मुंग का स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसके लिये सहस्रों मन लकड़ी या पानी जला दें फिर भी उसमें नरमाइश (कोमलता) नहीं आयेगी। जैसे मगशैल पत्थर पुष्करावर्त मेघ से भी नहीं भींजता है। गधा कितने भी मनमाने विचार करें कि मेरे सिर पर सींग हो तो अच्छा! लेकिन कुदरत के आगे उनके स्वप्न कैसे साकार होंगे। अतः ऐसे दुसरे दृष्टान्तों का भी यही निष्कर्ष है कि भवसिद्धिको अपने स्वभाव से ही मोक्ष में जाते हैं और अभव्यसिद्धिको का उस प्रकार का स्वभाव नहीं होने से मोक्ष में जाते नहीं हैं।

संसार जीवों से रिक्त [खाली] होगा क्या ?

जयंती श्राविका फिर से भगवान से पूछती है कि, हे प्रभो! तथा प्रकार के स्वभाव से यदि आज–कल–लाखों–अब्जों या अनन्त वर्षों तक यदि जीवात्माएं मोक्ष में जाती रहेगी तो संसारवर्ती सभी भवसिद्धिक

जीव मोक्ष में जाने के बाद क्या यह संसार जीवों से खाली नहीं हो जायेगा ?

प्रत्युत्तर देते हुए प्रभुजी ने कहा कि-'हे श्राविके ? यह तुम्हारा तर्क अर्थ संगत नहीं है। उचित नहीं है। क्योंकि अनंतानंत जीवों से भरा हुआ यह संसार कभी भी खाली हो जाय यह संभव नहीं है। जीवों की अनंतानंतता का स्वरुप प्रथम भाग में से देख लेना। फिर भी एक दृष्टांत फिर से देखें। अभी तक हमारे सिर पर से अनंतानंत समय व्यतीत हो गया। वह भूतकाल है और एक-एक समय कम हो रहा है वह भविष्य-काल भी अनन्तानन्त है और वर्तमान केवल एक ही समयका काल है। इस प्रकार तीनों काल के समय से भी ऐ श्राविके ? जीवराशि अनन्तानन्त गुण अधिक होने से कभी भी यह संसार जीवों से खाली होनेवाला नहीं है।

संसार का सर्जक कौन ?

जयंती श्राविका भगवान से प्रश्न करती है कि यह संसार को बनाने-वाला कौन है ?

उत्तर में भगवान फरमाते हैं कि-जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होता है। जबकि संसार अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक रहनेवाला होने से किसी से उत्पाद्य नहीं है याने किसी ने बनाया नहीं है। स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें फँसा हुआ ब्रह्मा संसारका उत्पादक कैसे हो सकता है ? उन्हीं के शास्त्रों में लिखा हुआ है कि अभी तक संसार में ऐसे ब्रह्मा और इन्द्र बहुत बड़ी तादाद में हो गये हैं और मृत्यु को पाये हैं इसलिए ब्रह्मा सृष्टि का सर्जक नहीं है। अगर विष्णु रक्षक है तो अपनी द्वारिका नगरी को क्यों नहीं बचा सके ? और शंकर भगवान तो सबको सुख-शांति देनेवाले होने से कभी किसी को मार नहीं सकते। वास्तव में प्रत्येक जीव को अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म भोगने ही

पड़ते हैं अतः जीव स्वयं संसार का सर्जक-रक्षक और मारक है। लाखों करोड़ों आदमी की आंखे ही साक्षात्कार कर रही है कि जो स्वयं जन्म लेता है, जिन्दा रहता है और आयुष्य पूर्ण होने पर मर जाता है।

शायद कोई कह सकता है कि—'पिता पुत्र को पैदा करनेवाला है' लेकिन यह बात जैनशासन को मान्य नहीं है। क्योंकि यदि पिता का शुक्रपतन पुत्रोत्पत्ति में कारणभूत माना जाय तो जब जब शुक्र का पतन होवे तब तब माता की कुक्षि में प्रतिदिन संतान की उत्पत्ति होनी चाहिए। लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है, हुआ नहीं है और तैंतीस करोड़ देवी देवताओं की मदद मिलने पर भी होगा नहीं। इसके अनुसंधान में यदि कोई कहे कि गिरनेवाले पिता के शुक्र के साथ माता की रज का मिश्रण होना आवश्यक है, ऐसी दलीलों का उत्तर यह हो सकता है कि 'माता-पिता की शारीरिक शक्ति खुराक, औषधादि आखिर तक एक जैसे होने पर भी प्रतिदिन शुक्र और रज के मिश्रण होने में और उसमें प्रतिदिन एक संतान को कुक्षि में उत्पन्न होने में कौन सी अड़चन आती होगी? उन दोनों का मिश्रण आज, कल या परसों होता नहीं है और एक दो या तीन वर्ष के बाद क्यों होगा? कौन करता होगा? किस प्रकार होता होगा? और आज ही मिश्रण न होने में क्या कारण है? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

तीसरा वादी यदि ऐसा कहे कि—'मिश्रण होने में ईश्वर की इच्छा कारणभूत है।' तो यह बात भी ठीक नहीं। क्योंकि जगत्कर्त्ता ईश्वर माता-पिता के कल के संभोग में शुक्र और रज को इकट्ठा करेंगे तो इसके बजाय आज के ही संभोग में इकट्ठा करने में उसको क्या दिक्कत होती है? जिससे चालीस-चालीस दिन तक खाये हुए सालम पाक, बदाम-पाक, केशरमिश्रित दूध और घी-रोटी से बने हुए वीर्य और रज निकम्मे तो न जाय। मैथुन कर्म में स्वाभाविक ही मन के क्लिष्ट परिणाम ही होते हैं। तो बिचारे पुरुषों के सत्कर्मों को बिगाड़ कर उनके वीर्य और रजको

नाश करने में यदि ईश्वर को मजा आती हो तो वे परमात्मा किस प्रकार कहे जायेंगे ? क्यों कि ऐसे जीव जो दूसरे की मजाक करे, उनके सत्कार्यों को बिगाडें वह परमात्मा कहलाने के योग्य है क्या ? इसलिये यह सब प्रश्न और उत्तर सर्वथा निरर्थक है। सच्ची बात यह है कि शुक्र और रजके मिश्रण में माता-पिता की कुशलता, शक्ति या खुराक काम में नहीं आते लेकिन माता की कुक्षि में जन्म लेनेवाली जीवात्मा अपने पूर्वभव के ऋणानुबंध वहीं समाप्त करके जिस समय नये माता-पिता के साथ का ऋणानुबंध प्रारंभ करेगा उसी समय अपने आप कुक्षि में आकर नव मास की गंधी खोली (कैदखाने) में बंदी हो जाता है। और भवोंभव के उपार्जित किये हुए राग-द्वेष, सुख-दुःख, संयोग-वियोग के संबंध दूसरे जीवों के साथ जिस प्रकार भोगने के हैं वहांतक विश्व के मंच पर आकर अपनी नाट्य क्रीडा (Shuting) खेलता है। और वैर-विरोध, मारपीट, हंसना-रोना आदि इस भवसंबंधी कर्म भोगने के बाद, उसी समय अपने आप मृत्यु पाता है। और इस भवमें किये हुए कर्मों को भोगने के लिये दूसरे भवके नये संसार की तैयारी करता है। अतः कहा जाता है कि संसार का सर्जक, रक्षक, और भक्षक यह जीवात्मा स्वयं ही है। वह सर्व तंत्र स्वतंत्र है।

सोना अच्छा या जागना अच्छा ?

जयंती श्राविका फिर पूछती है कि हे प्रभो ! सोते रहना अच्छा या जागते रहना ?

जवाब में भगवान ने कहा कि हे श्राविके ! कितनेक जीवों का सोते रहना ही अच्छा है और कितने जीवों का जागते रहना ही अच्छा है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान ने कहा कि—जो जीव—

अधर्मानुगा—जो मनुष्य अवतार पाकर भी अभक्ष्य खान-पान, असभ्य रहन-सहन और भाषा-व्यवहार में संलग्न हैं वे—

अधार्मिक—सम्यक्श्रुत और सम्यक्चारित्रहीन जीवन बितानेवाले हैं वे—

अधर्मेष्टा—सम्यक्श्रुत और सम्यक्चारित्र के प्रति श्रद्धाहीन और धार्मिक पुरुषों तथा उनके श्रद्धानुष्ठानों में सर्वथा रसहीन हैं वे—

अधर्माख्यायी—धर्म और धर्म की बातों को विकृत कर मिथ्या-भाषी हैं वे—

अधर्मप्रलोकी—धार्मिक व्यवहारों का सर्वथा अपलाप करके हिंसा असत्य-चोरी-मैथुन और परिग्रहरूप अधर्म को ही धर्म के रूप में माननेवाले।

अधर्मरागी—देव, गुरु और धर्म के प्रति सर्वथा प्रेमरहित होकर झूठे, प्रपंची, खुशामतखोर और लबार मनुष्यों को चाहनेवाले—

अधर्मसमुदाचारी—धर्महीन आचार विचारवाले

अधर्मजीविका—जिससे भयंकर तथा कठिन कर्मों का बंध होता है ऐसे व्यापार और व्यवहार करनेवाले।

इस प्रकार उपर्युक्त आठों प्रकार के जीव गाढ़ निद्रा में सोते रहे यही अच्छा है। जिससे चराचर संसार में रहे हुए सत्वों को, प्राणियों को, जीवों को "परियावणियाए, सोयावणयाए, जूरावणयाए, तिप्पावणयाए, पिट्टावणयाए इन छः प्रकार से दुःख न दे सके। किसी जीव को मरणतुल्य दुःख देना। इष्ट का वियोग कराना। शोक-पीड़ा उपजाना। दूसरे के शरीर पर असर हो इस प्रकार आखों में से आंसू पड़वाना। हाथ, लकड़ी या लात से दूसरों को पीटना। इस प्रकार विभिन्न प्रकार से जीवों को कष्ट देना यह हिंसा है। पाप है और हिंसक मनुष्य समग्र संसार का शत्रु है। जिसके सिरपर शत्रु ज्यादा होते हैं वह भवांतर में भी महादुःखी बनता है। ऐसे आदमी अगर सोते रहे तो भी अपने आपको बहुत से पापों से बचाते हैं।

अब इससे विपरीत जो भाग्यशाली धार्मिक है। धर्म का आंदोलन पैदा करे वैसी भाषा बोलते हैं। मानसिक स्थिति भी हिंसक भावों से दूर है। ऐसे मनुष्यों का जागते रहना बड़ा कल्याणकारी है। 'संसार को विषमय बनाने के बजाय अमृतमय बनाना चाहिये'। आदि नीति वाक्यों के अलावा भी अपनी आत्मा को हिंसा असत्य-चौर्य-मैथुन-परिग्रहादि पापकर्मरूप विषमयकुंड में से बाहर निकालकर अहिंसा-संयम-तथा सदाचाररूप अमृतकुण्ड में ले जाना बेहतर है और यही वास्तविक तत्व है। बेशक जीवन-व्यवहार में ज्यादा सोना हर हालत में बुरा है। फिर भी सांसारिक व्यवहार से धार्मिकता अधिक श्रेष्ठ है। अहिंसक-सत्यवादी और प्रामाणिक मनुष्य ही सच्चा धार्मिक है।

सशक्त और अशक्त की वक्तव्यता ?

इसी प्रकार दया के सागर, जीवों के मनोभावों के पूर्ण ज्ञाता भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, यदि जीवन व्यवहार में हिंसा, असत्य, क्रूरकर्मिता और माया प्रपंच फंसे हुए हैं, तो ऐसे मनुष्यों का निर्बल-अशक्त रहने में ही उनका कल्याण है। जिससे बहुत से हिंसादि पापों में से बच सकते हैं। जो भाग्यशाली अहिंसक है। सत्यवादी हैं, परोपकारी हैं और दूसरे के लिये जीनेवाले हैं ऐसे आदमी मन-वचन और काया से सशक्त बने रहे यही अच्छा है।

व्यवहार दृष्टि से जाग्रत और सशक्त होने पर भी जिनकी वृत्ति और प्रवृत्ति में विनय नहीं है, दूसरे को अपनी वस्तु देने की वृत्ति नहीं है, या घर के कोने में बैठकर "संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं है, मैं भी किसी का शत्रु होना नहीं चाहता हूं। प्रत्येक घर में सब को दूध-रोटी का भोजन सुलभ हो। संसार में कोई भूखा प्यासा न रहे। सर्दी में बिना कपड़े का और बिना मौत मरनेवाला न हो" ऐसी कोरी भावना का भी जो चिंतन नहीं कर सकता, ऐसे जीव की जाग्रत अवस्था या सशक्तता

सिर्फ पापोत्पादक या पापवर्धक और उदरंभरी बनने के अलावा और किस काम में आयेगी ? अतः जागरणशीलता के साथ धार्मिकता, परम-दयालु परमात्मा के साथ तादात्म्यता और दुःखी जीवों के प्रति करुणता-भाव हो, वैसे ही सशक्त शरीरवालों में संस दाचार, परोपकार और परस्त्री-संग के त्याग की पवित्र भावना हो, तो वैसे उदात्त जीवों की प्रशंसा देव-देवेन्द्र भी किये बिना नहीं रहेंगे। किन्नरियां भी उनके गीत गायेंगी और संसार की ललनाएँ भी उनकी प्रशस्ति गायेंगी।

जीवों में दक्षता अच्छी या प्रमाद-आलसीपना अच्छा ?

अब जयंति श्राविका अंतिम प्रश्न करती है कि–हे भगवन् ! जीवों को दक्षता प्राप्त होवे तो अच्छा या प्रमाद–आलस्य प्राप्त हो तो अच्छा ?

जीवों को लक्ष्य में लेकर भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि— "कितने जीवों को दक्षता प्राप्त हो तो अच्छा है और कितनों में आलस्य की प्राप्ति होना लाभकारक है। जो जीव धार्मिक अनुष्ठानों में लीन हैं। धर्म्य भाषा बोलनेवाले हैं। न्यायमार्ग पर चलनेवाले हैं। पथ्यभोजी हैं उनका दक्ष बनना अच्छा है और उससे विपरीत जीवन बितानेवालों का आलसी बनना बेहतर है।

स्वयं में और अपने संतानों में दक्षता-कुशलता आवे यह सब कोई चाहते हैं लेकिन आलसी बनना कोई नहीं चाहता। जब भगवान् महावीर स्वामी ने जीवों को लक्ष्य में रखकर वे अपना आत्मकल्याण करें पाप से बचें, रागद्वेष-क्लेश और झगड़े से दूर रहें इसलिये पापी पुरुषों की दक्षता से नफरत बतायी है। दक्ष और दक्षता का तात्त्विक अर्थ निम्नलिखित है।

(१) अविलम्बित कारित्वं दाक्ष्यं (उत्तर. ४९)

(२) कार्याणामविलम्बितकारी दक्ष : (औप. ६५)
(३) शीघ्रकारी दक्ष : (अनुयोग. १७७)
(४) आशुकारित्व दक्षत्वं (आवश्यक ३४६)

इत्यादि आगमीय वचनों से एक ही भाव विदित होता है कि अपने सिर पर आये हुए कार्यों को शीघ्रता से करे वह 'दक्ष' कहलाता है। अविलम्बित कार्य करने की कुशलता वह दक्षता है।

प्रत्येक जीव अपने अपने कर्मों के ऋणानुबंध से कर्जदार या लेनदार अथवा रागात्मक या द्वेषात्मक कुछ न कुछ ऋणानुबंध लेकर ही पैदा होता है। खाना-पीना और अपने कुटुम्ब की सार-संभाल के कार्य तो अपढ़-नास्तिक या मिथ्यात्वी और मोहमाया में आकंठ डूबे हुए सभी परिश्रम पूर्वक करते हैं और अपने ऋणानुबंध का पैसे पैसे का हिसाब भरपाई कर के संसार में जैसे आये थे वैसे ही फिर संसार में विलीन हो जाते हैं। गुड़बजार में जन्मे हुए मकोड़े कभी भी पैदा हुए हों और गुड़ का स्वाद लिया या न लिया हो उतने में लोगों के पैर के नीचे दबकर मर जाते हैं। उनका इतिहास या वृत्तान्त लिखनेवाला कोई नहीं। उसी प्रकार अपने शरीर, या कुटुम्बपर्यंत ही जिन्होंने अपना व्यवहार रक्खा है वैसे मनुष्य भी महापुरुषों की जबान पर आये बिना ही और इतिहासकारों के पन्ने में बिना उल्लेख किये ही, कविओं के काव्य के पात्र बने बिना ही और चित्रकारों की पींछीं से चित्ररूप में अंकित हुए बिना ही कीड़ों की तरह जैसे पैदा हुए वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। दो चार घण्टे या थोड़े दिनों के बाद कोई उसको याद भी नहीं करते। लेकिन उस प्रकार के अनंतानंत जीवों से अधिक शक्ति के पुंज देवदुर्लभ मनुष्यावतार जैसे श्रेष्ठ जीवन को जिन्होंने प्राप्त किया है और जिन्होने अपने जीवन को सद्बुद्धि और सदविवेक के साथ दीर्घदृष्टि पाई है उन भाग्यशालियों के जीवन में आई हुई दक्षता के कारण.

(१) स्वोदरभरित्व (अपना ही पेट भरने का भाव) चला जाता है

और परोदरत्वभरित्वं (परोपकार का भाव) प्रकट होता है

(२) स्वार्थ साधना के बजाय परार्थ साधना आती है।

(३) हलकी दृष्टि चली जाती है और विशाल दृष्टि आती है।

(४) संसारिक भावना चली जाती है और आध्यात्मिक भाव उत्पन्न होते हैं।

(५) और अन्त में सम्यग्दर्शन का गुण प्रगट होता है, तब मानव वास्तविक अर्थ में मानव बनता है।

अरिहंतों का शासन फरमाता है कि–वैसे समय में अपने सत्कार्य तथा पुण्य पवित्र कार्य करने में जिनकी बुद्धि स्खलित नहीं होती है। चित्त में व्यग्रता नहीं होती और अपने निश्चयबल में अडोल रहते हैं ऐसे मनुष्य ही दक्ष कहलाते हैं और उनकी दक्षता, अपना, दूसरे का, समाज का और देश का हित करने में सफल बनती है।

यद्यपि जिनके जीवन में चोरी, बदमाशी, झूठ, प्रपंच, निर्दयता और उलटा-सुलटा होता है। वे भी अपने स्वार्थ में कुशल और सावधान ही होते हैं। लेकिन सोचने का यह है कि जो चतुराई, चालाकी, प्रपंच कूड कपट आदि से जीवन में दुर्गुण बढ़े, मानवता को तिलांजली दी जाय, ऐसी चतुराई-चालाकी, पढ़ाई आदि से खुद को, समाज को या देश को क्या लाभ ? इसीलिये भगवान ने कहा कि, धार्मिक व्यक्तिओं को मिली, हुई दक्षता अच्छे के लिये है। जिन व्यक्तिओं में धार्मिकता सच्चरित्रता नहीं है वे आलसी कमजोर और अशक्त बने रहें तो उससे उनको, समाज को, या देश को कोई नुकसान नहीं है।

सारांश कि–

धर्म्ये न्याय्ये सदाचारे, पुण्ये पवित्रकर्मणि।
सर्वेषां हितकार्ये च दक्षो जन : प्रशस्यते ॥१॥

जिनाज्ञा पालने चैव, गुरोः ऋणाद्विमोचने ।
वैरत्यागे दयादाने दक्षजनः प्रशस्यते ॥२॥

अन्यथा–

पापवादे च पैशून्ये हिंस्रे द्रोहे च कर्मणि ।
कार्पण्ये मोहकार्येच प्रमादिता प्रशस्यते ॥२॥

(श्लोकास्त्रयो मदीयाः) (लेखकीयाः)

अनन्तज्ञान के धनी भगवान महावीर स्वामी के प्रत्युतर सुनकर जयन्ती श्राविका अतीव प्रसन्न हुई। "हर्षस्योपरि हर्षः" इस न्याय के मुताबिक उस दिन के लिये अन्तिम प्रश्न निम्नलिखित था।

श्रोत्रेन्द्रिय के अधीन जीव कौनसे कर्म बांधते हैं ?

हे देवाधिदेव ! आप श्रीमान् तो निर्जित कंदर्प, दीर्णाङ्गज, हतमोह-कर्मा आदि समर्थ और सत्य विशेषणों से युक्त होने से संसार के संग से उत्पन्न होनेवाले दुर्जय कामदेव के बाणों को सर्वथा तोड़ डालनेवाले होने से वीतराग हो। निरंजन हो। लेकिन "हम तो हे प्रभुजी ! संसार के अंदर रचे पचे हैं....." यानि हमको तो अभी काम और भोग सता रहे हैं। अतः फरमाईये कि "श्रोत्रेन्द्रिय के अधीन बने हुए जीव कौन से कर्म बांधते हैं ?"

उत्तर देते हुए भगवान ने कहा कि–हे जयंति ! जैसे क्रोधादि के विषय में कहा उसी प्रकार इन्द्रियों के वशवर्ती जीवों के लिये समझ लेना। यानि कि वे जीव शिथिल बांधे हुए सातों कर्मों को गाढ़ बंधनवाले बनाकर अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

शास्त्रों में इंद्रियों को घोड़े की उपमा दी गई है। शरीर रूपी रथ, अश्व सरीखी पांचों इंद्रियों से सम्बद्ध होने से आत्मारूपी सारथी जब जब इंद्रियों के अधीन बन कषायों से युक्त, विषय वासना में मस्त, झूठ,

प्रपंच का खिलाड़ी और मोहरूपी मदिरापान से मस्त होकर पागल बन जाता है तब इन्द्रियरूपी अश्व भी खूब मस्ती में आकर शरीररूपी रथ को सर्वथा दूकरूपी कर डालता है और एक दफे, दो दफे या तीन दफे इन्द्रियों के गुलाम बने हुए आत्माओं को फिरसे श्रेष्ठ बनने में बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है। प्रबल पुरुषार्थ प्रगट करना पड़ता है। जिसके लिए सम्यगज्ञान की लगाम और सम्यक् चारित्ररूपी चाबुक (Huntre) हाथ में पकड़ना बड़ा जरूरी है। संसार के अनन्तानंत जीवों की अपेक्षा कर्णेन्द्रिय प्राप्त पंचेन्द्रिय जीवों की जनसंख्या अल्प प्रमाण में ही होती है। क्योंकि असंख्य पुण्य कार्यों के फलस्वरूप जीवात्मा को कर्णेन्द्रिय की प्राप्ति होती है। जिससे वह पंचेन्द्रिय संज्ञा से उच्चारित होता है। मनुष्य यदि जरा–सा भी सोचे की जिसकी प्राप्ति में महत पुण्यकर्म कारण बना है वैसा पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होने के बाद उसका मैं दुरुपयोग क्यों करू ? संभव है कि कितनेक पुण्यात्माओं को ऐसे पवित्र विचार समय समय पर आते भी होंगे। लेकिन मोहराजा ने अपने बहादुर सुभटों से जीवात्मा को चारों तरफ ऐसा घेर लिया है कि उससे बचना उसके लिए अशक्य हो जाता है ,तब ही तो पद्मासन में ध्यानस्थ महापुरुष को भी ललना के झांझर की झनकार ध्यान भग्न बना देती है। स्वाध्याय में लीन बने हुए या जिनेन्द्र भगवंतों के भावपूर्ण मधुर स्तवनों के गानेवालों के चित में स्त्रीका संगीत ध्यानभग्न करा सकता हैं। ऐसे अगणित अनुभव हमने हमारे जीवन में किये हैं। कर्णेन्द्रियादि इन्द्रियों के गुलाम होने के कारण ही किसी भी अच्छे कार्यो में हम हमारे मन को संलग्न नहीं बना सकते हैं। भर जवानी में अगर दीक्षित हुए तो शिक्षित होने में इन्द्रियों की गुलामी हमें विघ्नरूप बनती है। गेहूँ के रंग जैसी लालिमा हमारे शरीर पर होनी चाहिए लेकिन स्पर्शेन्द्रियादि कि परवशता के कारण धोये हुए मूले जैसे हम फिके के फिके ही रहे हैं। नीरस ईक्षू जैसी वृद्धावस्था में जो रोग, शिथिलता, वृद्धों में होती है वह आज जवानों में

देखी जाती है। इत्यादि कारणों में पूर्वभव के असाता वेदनीय कर्म के उदय की कल्पना करने के बजाय अपनी इन्द्रियों की गुलामी की कल्पना करना ज्यादा बेहतर होगा।

इन सब भावों को जाननेवाले केवली भगवन्त ने कहा कि "इन्द्रियों के अधीन बनी हुई आत्मा किसी भी समय में कषायरहित नहीं हो सकती है और सकषायी आत्मा प्रति समय ढग के ढग नये कर्म उपार्जन करते हैं और साथ ही पूर्व बांधे हुए कर्मों को निकाचित करके भव-भवान्तर के लिए भयंकर असातावेदनीय कर्म को उपार्जन करते हैं।

विवेकी आत्मा सिर्फ पांच ही मिनट के लिए निम्नविचार करें कि—

(१) प्राप्त यह शरीर भाड़े के मकान जैसा है अतः मुझे कभी तो बदलना पड़ेगा ही।

(२) आज, कल या वर्षों तक जो चीज मेरी नहीं, उसपर इतनी आसक्ति रखने का क्या प्रयोजन ?

(३) शरीर के लिए सब कुछ करने पर भी यह शरीर रोग का घर और नाशवंत है। नेत्रों को नापसंद ऐसी गन्दगी और दुर्गन्ध से भरा हुआ है और मिष्ठान्न भोजन को भी विष्ठा-मूत्र, पसीना-कफ-पित्त और वायु में परिवर्तित करनेवाला है।

(४) जबकि मेरी आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने से भोक्ता है और शरीर भोग्य है। भोग्य यानि भोगने का और उपभोग्य शरीर एक दिन जीर्ण-शीर्ण होने से भोगने के योग्य नहीं रहनेवाला, है। अतः किये हुए मेरे पूर्वभव के पुण्यकर्मों का सर्वनाश हो वैसी परतंत्रता मुझे किस काम की ?

(५) लोही का संबन्ध रखनेवाले यावत् माता पिता भी जीवात्मा के कट्टर बैरी बन सकते हैं। लेकिन ज्ञान और विद्या के संबन्ध से संबधित तीर्थंकर देव, गणधर भगवन्त, आचार्यों और परमपवित्र मुनिराज अपराधियों के भी शत्रु नहीं बनते हैं। अतः उनके बताए हुए मोक्षमार्ग की

शरण लेकर मैं "मेरी आत्मा के हित के लिए कुछ करूँ" ऐसी पवित्र भावना रखकर जीवन घड़तर में मुझे स्वयं को या संसार व्यवहार को भी कुछ हानि नहीं हो सकती है।

(६) आहार-विहार और निहार (लघुशंका-दीर्घशंका) की नियमितता के कारण समस्त जीव निरोगी बने रहें ऐसी पवित्र भावना से ही "भोगोपभोग विरमणव्रत" की अनुपम भेट जैनशासन ने दी है। तो मैं भी उस व्रत की मर्यादा में आकर मेरे मन-वचन तथा शरीर को पवित्र बनाऊँ।

(७) वैदक शास्त्र में भी लिखा है कि—बहुत सी वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि जिसको खाने से लोही विकार हो जाता है। मांस विकृत होता है। हड्डी विकृत हो जाय। यावत् शुक्र और रज भी विकृत हो जाते हैं। अतः जैनशासन को ही मान्य रखकर भोगोपभोग विरमणव्रत स्वीकार करने में ही एकान्त से मेरा हित समाविष्ट है।

इत्यादि विचार सिर्फ पांच मिनट भी जो भाग्यशाली अपने मन में लायेंगे। जैन शासन उनको तारने में पूर्ण समर्थ है। अब दूसरा उद्देश्य समाप्त करने के पहिले इस बात पर हम ध्यान केन्द्रित करें कि जयंती श्राविका अन्त में देवानंदा की तरह दीक्षा लेकर अपने कर्मों का क्षय करके मोक्ष में बिराजमान होगी।

॥ बारहवें शतक का दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक १२ वाँ : उद्देशक ३

श्रेणिक :

इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है कि—कृष्ण की राजधानी द्वारिका और रावण की राजधानी लंका को अपने से बढ़कर दूसरी कोई नगरी नहीं है इस बात का बड़ा अभिमान था। लेकिन मगध देश के राजा श्रेणिक की राजधानी राजगृह नगरी को देखकर शर्म के मारे द्वारिका समुद्र में डूब गई और लंका जलकर खाक हो गई। और देवों की अमरावती विचारी लज्जावश स्वर्ग में जा बसी। ऐसी मगध देश की राजधानी राजगृही अद्वितीय नगरी थी। वहां श्रेणिक नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा बड़ा ही सुन्दर था। उसकी जिह्वा में शक्कर जैसी स्वादिष्टता थी। खड्ग यमराज कि जिह्वा जैसी चमकीली थी। एक नेत्र में जैन शासन के प्रति वफादारी भरी थी तो दूसरे नेत्र में जैनत्व के विरोधिओं को परास्त करने की लालिमा दिखती थी। भगवान महावीर स्वामी की अमृतमयी वाणी को सुनने के लिए उसके कान सदा तत्पर रहते लेकिन दूसरों के पाप और बुराइयों को सुनने में वे बधिर बन जाते थे। उसके हाथ घुटने तक लम्बे थे मानों दूर तक स्वामी भाइयों को दान देने के लिए ही विधाता ने लम्बे किये हों। हाथी के गण्डस्थल में मोती होंगे या नहीं, यह तो परमात्मा जाने, लेकिन श्रेणिक के दांत मोतियों को महान करे ऐसे चमकीले थे। ऐसे इस राजा की बहुत-सी रानियाँ थी, लेकिन उनमें चेल्लणा मुख्य पटरानी थी।

परमात्मा की पधरामनी :

भगवान् महावीर स्वामी चतुर्विध संघ के साथ ग्रामानुग्राम विहार

करते हुए राजगृही नगरी में पधारे हैं। यह बात सुनते ही मेघ की गर्जना को सुनकर जैसे मयूर, आम्र मंजरी को देखकर जैसे कोकिल पुलकित हो उठते हैं ठीक वैसे ही राजगृहीनगरी का अधिपति श्रेणिक आनंद विभोर होकर उद्यान पालक को भेंटरूप में बहुत सा द्रव्य देता है। फिर-तो उसने मार्ग साफ करवाये। ध्वजा-पताकायें-तोरण बांधने में आयी, हाट हवेलिओं को सुशोभित करने में आयी। सारी नगरी को शणगार के सब अपने अपने घर से निकलकर राजा-रानी, राजपुत्र, नगर सेठ, सेठानियाँ, उनकी पुत्रियां, कुलवधुयें और दूसरी भी प्रजा ने समवसरण कि तरफ प्रस्थान किया। विनय और विवेक के साथ यथास्थान बैठी हुई बारह प्रकार की पर्षदा को सम्बोधन करके परमात्मा महावीर ने उपदेश देते हुए कहा कि—मोक्ष पाना सिर्फ मनुष्य के हाथ की बात है।" अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्तों बार नरक और तिर्यंच गति में अवतरित हुए हैं। अतः हे भाग्यशालियों ! कुछ समझो, सोचो और सत्य का निर्णय कर हृदय की दृढ़ता के साथ दुर्गति के द्वार बन्द करने को कटिबद्ध हो जाओ। उस समय भगवान के समक्ष खड़े होकर गौतमस्वामी ने पूछा कि—'हे प्रभो ! आपके शासन में नरक पृथ्वीयाँ कितनी हैं ?

नरक के सम्बन्ध में खुलासा :

प्रत्युत्तर देते हुए भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! नरक पृथ्वीयाँ सात हैं' वह इस प्रकार :—

संख्या	पृथ्वी के नाम	उनके गोत्र के नाम
१	धर्मा	रत्न प्रभा
२	वंशा	शर्करा प्रभा
३	शैला	वालुकाप्रभा
४	अंजना	पंक प्रभा

५	रिष्टा	धूम प्रभा
६	माघव्या	तमः प्रभा
७	माघवी	महातम प्रभा

ऐसा होता है कि व्यक्ति का नाम दूसरा होता है और हम उसको बुलाते हैं दूसरे ही नाम से। जैसे प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी के जन्म का नाम है इन्द्रभूति और गौतम यह उनके गौत्र का नाम है। यानि कि बहुत सी व्यक्तियां अपने गोत्र के नाम से प्रसिद्ध होती है। उसी प्रकार नरक भूमियां अपने गोत्र के ही नाम से प्रसिद्ध होने से वे रत्नप्रभा में रत्नों की, शर्करा प्रभा कंकरों की, वालु का प्रभा में रेत की पंक प्रभा में कीचड़ की, धूम प्रभा में धूयें की, तमः प्रभा में अंधकार की अधिकता होने से उनके नाम सार्थक है। तमः और महातमः प्रभा में प्रभा का अर्थ द्युति या कांति लेने का नहीं है लेकिन गाढ़ अंधकार ही अर्थ लेने का है।

पूर्व के भवों में स्वार्थान्ध, लोभान्ध, विषयान्ध या मोहान्ध बनकर दूसरे जीवों के साथ अति प्रमाण में किये हुए वैर-विरोध-मार-पीट, ईर्ष्या, चाडी, चुगली, बदमाशी, चोरी, विश्वासघात, क्रूर हंसी, द्रोह, प्रपंच या दूसरे जीवों के साथ क्लेश-कंकास आदि के कारण जीव नरक भूमिओं में उत्पन्न होता है और उन किये हुये कठिन कर्मों को उस प्रकार से या उससे भी अधिक प्रमाण में भोगता है। उनका अवधिज्ञान उनके लिये अत्यधिक दुःखदायी होता है। वह उस अवधिज्ञान से जान सकता है। की सामने से आता हुआ दूसरा नारक (पूर्व भवमें) मेरा दुश्मन था। मेरी चुगली करता था। मेरे व्यापार में नुकसान करता था। गत भव में यह मेरी जेठानी थी। सासू थी और मुझे बड़ा कष्ट देती थी। इत्यादि गत भव की सेकण्ड सेकण्ड कि बात अवधिज्ञान द्वारा याद आती है और आपस में दोनों नारक लकड़ी, बर्छी, भाला, तलवार, पत्थर आदि से युद्ध करने लग जाते हैं। तथा असुर गति में उत्पन्न हुए परमधामी

देव उनके किये हुए पाप याद दिला कर उन नारकों को तपा हुआ सीसा पिलाते हैं। कुल्हाड़ी से वृक्ष की छाल की तरह उनकी चमड़ी उतारते हैं। ककड़ी और दुसरे शाक की तरह उनको चीरते हैं फिर उस पर नमक–मिरची डालते हैं। चने की तरह भट्टी में पकाते हैं। वहां से बहार निकालकर गरमागरम तेल की कढ़ाई में डालते हैं। हाथपांव काटते हैं। आंख–नाक छेदते हैं। अंगुलि के नख पूरे के पूरे निकाल डालते हैं। इस प्रकार बड़े बड़े सर्प, बिंछू, व्याघ्र, बिलाड़, कुत्ते आदि असह्य वेदनाओं का अनुभव करते हुए चिरकाल तक वहां रहते हैं।

भागवत में नारक वर्णन :

सभी जीव पापसे डरते रहें इसलिये भागवत (वैष्णवों का शास्त्र) में आये हुए नारक के दुःखों के वर्णन से भी अपन परिचित हो जावें। भागवत में २१ और प्रकारान्तर से २९ नारकों का वर्णन है। उनके नाम इस प्रकार हैं।–

१ तामिस्र, २ अंधतामिस्र, ३ रौरव, ४ महारौरव, ५ कुंभीपाक ६ कालसूत्र, ७ असिपत्रवन, ८ सुकराभि मुख, ९ अन्धकूप, १० कृमि-भोजन, ११ संदश, १२ तप्तसूर्मि, १३ वज्रकंट, १४ शाल्मली, १५ वैतरणी. १६ पूयोद, १७ प्राणरोध, १८ वीशसन, १९ लाला भक्ष २० सार मेयादन, २१ अवीचि, २२ अयःपान, २३ क्षारकर्दम २४ रक्षोगण भोजन, २५ शूलप्रोत, २६ दंदशूक, २७ अवट निरोधन २८ पर्यावर्तन, २९ सूचिमुख.

(भागवत : अध्याय २६)

अब उपर्युक्त नारकों के अर्थ भी देखें–

(१) तामिस्र–कूट कपट करके दूसरे के धन, पुत्र, पुत्री या उनकी स्त्रियों का हरण करनेवाले इस नरक भूमि में आते हैं। वहां खुराक या

पीने को पानी भी नहीं मिलता है । यमदूत डण्डों से उनको पीटते हैं। और नारक मूर्च्छित हो जाते हैं ।

(२) अंधतामिस्र—दूसरों को विश्वास दिलाकर उनकी स्त्री के साथ भोगविलास करनेवाले इस नरक में आते हैं । यहां यमदूत निर्दयतापूर्वक पीटते हैं जिससे नारकी के चित्त में और दृष्टि में भयंकर वेदनाएँ होती है। और वे कटे हुए मूलवाले वृक्ष जैसी अचेतन स्थिति को प्राप्त करते हैं।

(३) रौरव – जो मनुष्य, शरीर–धन–पुत्र–परिवार मेरे हैं । ऐसे भ्रमजाल में दूसरे जीवों को परेशान करता है, उन्हे यह नरक मिलता है और अकेला ही भयंकर दुःखों को सहन करता है।

(४) महारौरव–मनुष्यलोक में मायावश होकर दूसरे जीवो को जिस तरह पीटा हो, पीड़ा पहुंचाई हो। रूलाये हो : वे मरकर इस नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं जहां पर 'रूरूं' नामक पशुओं का समूह आकर उन–उन जीवों को निर्दयतापूर्वक सताते हैं। तथा वे पशु उनको चीरते हैं और उनके शरीर का मांस खाते हैं।

(५) कुंभीपाक – जिन्होंने सिर्फ अपने शरीर को ही पाला–पोसा है और दूसरे पशु–पक्षिओं को जिंदे पकड़कर और पकाकर खाते हैं वे इस नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं और यमदूत उनको धधकती हुई तेल की कढ़ाई में डालकर भूंजते हैं।

(६) कालासूत्र – यह नरक भूमि तांबे जैसी तपी हुई होने से कालसूत्र कहलाती है । जो मनुष्य देव और धर्म का द्रोह करते हैं। वे इस नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं और भयंकर गरमी में भूख और तृषा को सहन करते हुए "जलता हूं जलता हूं" करते हुए जीवन बिताते है।

(७) असिपत्रवन – हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि पाप करनेवाला इस नरक में आता है। जहां यमदूतों से पीटाता हुआ वह जीव चारों

तरफ तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण ताड़पत्रों से विदीर्ण होता है और यमदूत उनको उन ताड़पत्रों में पकड़कर फेंकते हैं जहां असीम वेदना सहनी होती है।

(८) सूकर मुख – जो मनुष्य निरपराधी मनुष्यों को धनसत्ता–यौवनसत्ता या राजसत्ता के मद में आकर मारते हैं वे इस नरक के अतिथि बनते हैं। वहां सशक्त यमदूत इक्षुके सांठे की तरह उनको घाणी में डालकर पीलते हैं।

(९) अंधकूप – जो मनुष्य खटमल, जू, मच्छर आदि जीवों को मारता है वह इस नरक में आता है और उन–उन जीवों के द्वारा भयंकर वेदना सहन करता हैं।

(१०) कृमिकुंड (कृमि भोजन) – धर्म से विमुख बना हुआ मानवी गृहांगण में आये हुए साधुसंत – अतिथि आदि को कुछ भी बिना दिये ही भोजन करता है वह मनुष्य इस लाखयोजनवाले कृमिकुंड में जन्म लेता है। वहां कीडों का भोजन करता है और दूसरे कौंआ का वह भक्ष्य बनकर चिल्लाता है और वेदनाएं भोगता है।

(११) संदंश—जो मनुष्य सुखी अवस्था में भी दूसरों की चोरी करता है। उनको विश्वास में लेकर ठगता है। झूठे तोल-माप रखता है। वह इस नरकभूमि में आता है। जहां यमदूत खूब तपी हुई सांणसीओं से पकड़कर उनकी चमड़ी उतारते हैं।

(१२) तप्तसुर्मी—जो कामान्ध होकर अमर्यादित भोग भोगते हैं। अगम्य गुरु पत्नी, मित्रपत्नी, पुत्रपत्नी, हीन आचरणवाली और हीन जाति की स्त्रियों के साथ और पुरुषों के साथ विषय सेवन करे तो इस नरकभूमि में हन्टरों से पीटे जाते हैं और धगधगती लोहे की पुतली के साथ पुरुष को और तपे हुए पुरुष कि पुतली के साथ स्त्री को आलिंगन दिलाते हैं।

(१३) वज्रकंटक—मनुष्यावतार को पाकर भी जो पशुओं के साथ व्यभिचार करते हैं, उनको यमदूत वज्र जैसे कंटकवाले सीमलेके वृक्ष पर चढ़ाकर नीचे खींचते है।

(१४) वैतरणी—जो राजपुरुष-सत्ताधारी धर्म-कर्म की मर्यादा को तिलांजली देकर स्वच्छंदी बनते हैं वे इस जगह पर जन्म लेकर जलजीवों के द्वारा भयंकर यातनाएं भोगते हैं। वैतरणी नदी जिस में विष्टा, पेशाब, परू, लोही, बाल, नख, हड्डियाँ, मेद, मांस, तथा चरबी भरे हुए गंदी चीजे हैं, वहां अन्तिम श्वास तक महायातनाए सहन करते हैं।

(१५) पूयोद-जो पुरुष अच्छे खानदान कुल में जन्म लेकर भी शूद्र जात की स्त्री के साथ स्वैर विहार करते हैं और आचार विचार और नियमों का भंग करते हैं। लज्जा का त्याग करके स्वेच्छाचारी बनते हैं। वे भी विष्टा, मल, मूत्र, परू, चरबी, मांस आदि से भरे हुए समुद्र जैसे पूयोद नामक नरक में गिरते हैं और उन्हीं चीजों का भक्षण करके महावेदना का अनुभव करते हैं।

(१६) प्राणरोध-जो अच्छे कुल में जन्म लेकर भी अपने यहां कुत्ते पोपट आदि को पालते हैं। अन्य पक्षी-पशुओं का शिकार करते हैं और धर्म-कर्महीन जीवनयापन करते हैं। वे इस नरक में पैदा होते हैं। जहां यमदूत उनको बाण द्वारा एवं दूसरे शस्त्रों से बींधते हैं।

(१७) वैशस-अग्नि से पशुओं का वध करनेवाले इस नरक में जन्म लेते हैं। वहां वे शिकारी पशुओ के वध्य बनते है।

(१८) लालाभक्ष-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुष अपनी सहजातीय स्त्री को काम मोहित करके अपना वीर्य पिलाते हैं। वे इस नरक में जन्म लेते हैं और यमदूत उनको रेतः कूल्या नामक नदी में डालते हैं और वीर्य पीलाते हैं।

(१९) सारमेयादन — जो चोर बदमाश गांवों को लूटते हैं। उनको यमदूत ७२० कुत्तों के द्वारा सब प्रकार से परेशान करते हैं।

(२०) अवीचि — किसी की साक्षी में, लेने-देने में दान के प्रसंग में असत्य बोलनेवाले यहां पैदा होते हैं। वहां पर्वतों पर उनको चढ़ाकर नीचे पटकते हैं।

(२१) अयः पान — शराब पीनेवाले और सोमरस पान करनेवाले इस नरक में उत्पन्न होते हैं। वहां उनको नीचे पटककर यमदूत उनकी छाती को पैरों से दबाकर गरमागरम गजवेल का रस पीलाते हैं।

(२२) क्षारकर्दम — स्वयं नीच आचारवाला होनेपर भी अभिमानी बनकर दूसरे महापुरुषों का अपमान करते हैं उनको यहां उलटे सिर लटका कर पीटा जाता है।

(२३) रक्षोगण भोजन — जो मनुष्य यज्ञ में पुरुषों का मांस खाते हैं। वे इस नरक भूमि में जन्म लेकर यमदूतों द्वारा पीटे जाते हैं।

(२४) शूलप्रोत — जीवों को मारकर उनके खिलौने बनाकर उनको दुःख देते हैं। वे नरक में भी वैसी ही वेदना भोगते हैं।

(२५) दंदशूक — अतिक्रूर स्वभाववाले बनकर दूसरे जीवों को मारनेवालों को इस नरक में पांच और सातमुखवाले सर्प बहुत दुःख देते हैं।

(२६) अवट निरोधन — दूसरे जीवों को खड्डे में डालकर या कोठी आदि में बंदकर दुःख देते हैं। उनकी भी इस नरक में जन्म लेने के बाद वैसी ही दशा होती है।

(२७) पर्यावर्तन — घर पर आये हुए अतिथिओं को क्रोध आदि से परेशान करनेवाले को इस नरक में कौए, गीध आदि उनकी आंखें निकाल करके दुःख देते हैं। (भागवत : सस्तु साहित्य)

इस प्रकार हमने नरक के दुःखों को जाना। देवाधिदेव भगवंत की सत्यवाणी सुनकर पर्षदाने बहुत से पापों से बचने का निर्णय किया और वंदन नमन करके अपने अपने घर गई।

॥ शतक १२ का तीसरा उद्देशक समाप्त ॥

शतक १२ वां : उद्देशक - ४

पुद्गलो की समर्थता :

राजगृही नगरी में इन उद्देशों की चर्चा हुई है। जिसमें पुद्गल परावर्तन का विषय अत्यंत ज्ञेय, तीर्थंकर सिवा दूसरे के लिए सर्वथा अनाख्येय पुद्गलों में रही हुई अनंत शक्तिओं की जानकारी प्रत्येक जीव को अत्यंत आवश्यक होने से चार ज्ञान के मालिक गौतमस्वामी से पूछे हुए पुद्गल परावर्तनो को महावीर-स्वामी ने बहुत ही उदारतापूर्वक स्पष्ट किये हैं।

पुद्गल अजीव होने के कारण स्वतः जड होते हैं फिर भी उनमें

रही हुई अनंत शक्तिओ के संचालन में या उनके भेगाण मे कहीं भी ईश्वरीय तत्व का अनुभव किसी ने किया नहीं है, कर भी नहीं सकते और करेंगे भी नहीं। माता की कुक्षि में से बाहर आनेवाली संतान ३-३॥ रतल का ही होता है और एक दिन ३-३॥ मण का कैसे हो जाता होगा उसके प्रत्येक अंगोपांग आदि में फेरफार होने का कारण क्या? तत्काल जन्मे हुए बालक के नाक, आँख, कान, हाथ, पैर आदि अवयव जो एकदम छोटे से थे उनको प्रतिसय में थोड़ा थोड़ा बड़ा कौन करता होगा? तीन मन के शरीर में आये हुए बुखार से उसके शरीर के रुपरंग में फेरफार कैसे हो जाता है? क्योंकि आत्मो के प्रदेश में हानि-वृद्धि होती नहीं हैं, तब शरीर के पुद्गलों में और उसके स्कंधो में हानिवृद्धि करनेवाला कौन? यह और ऐसी असंख्यात या अनंत बाते इसलिए जाननेलायक है जिसके बिना आदमी का ज्ञान अधूरा और संदिग्ध, विपरीत या अनिर्णयात्मक ही रहता है। इस के अतिरिक्त आत्मा की दूसरी कमजोरी कौनसी है।

संसार में सम्यग्ज्ञान के बजाय मिथ्याज्ञान का स्थान ज्यादा होता है, और उसके प्रचारक भी ज्यादा होते है। उसके कारण उनके जाल में फँसा हुआ आदमी या तो पूर्वग्रह की गांठ में बंध जाता है या सर्वथा अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान के चक्र में फँस कर प्राप्त किये देवदुर्लभ मनुष्य अवतार को कडुवा जहर बनाता है। इसके कारण सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए अरिहंत देवों की द्वादशांगी के सिवा दूसरा एक भी साधन नहीं है। संसार में एक, दो, तीन, चार से लेकर अनंतानंत पुद्गलों के अनंत स्कंधोंको हम सब प्रत्यक्ष कर रहे है। एक ईट भी कितने ही पुद्गल परमाणुओ का स्कंध है। और असंख्यात ईंटो का बना हुआ दस या बारह मझले का बंगला भी पुद्गल स्कंध कहलाता है। हम जो आहार करते है उसमें भी अगणित पुद्गल स्कंध है तथा खाया हुआ अन्न विष्टा-मूत्र-पसीना आदि द्वारा बाहर निकालते हैं और शरीर में शेष रहे हुए खून, मांस, हड्डीयां, चरबी, मज्जा और शुक्र धातु में भी अगणित पुद्गल परामणु

रहे हुए है, जिसके उपकार से हम जीवित रहते है और एक दिन अगणित पुद्गल परमाणुओ का बना हुआ अपना शरीर अनंतपरमाणुओं के स्कंध लकड़े रुप पुदगल स्कंधों में जलकर खाख में परिणत होता है। दश माल के मकान में अनंत पुद्गल स्कंध जमा हुए है वह एक दिन नैसर्गिक या नैमत्तिक कारण से जमीनदोस्त होता है और उनकी ईंटोंसे दूसरा स्कंध का निर्माण होता है और मिट्टी-चूना खड्डे में पड़ते है वापिस एक दिन खड्डेमें से पुद्गल बाहर आते हैं और उनमें से दूसरे स्कंध की रचना होती है। इस तरह पुदगल जमा होते है, बिछड़ते है। इसलिए जैन शासनने कहा है कि 'प्रतिसमय में जमा हो और बिछड़े वही पुद्गल कहलाता है।

परमाणु :

"परमाश्च तेऽणवश्च परमाणवो निर्विभागद्रव्यरूपाः स्कन्धपरिणामरहिताः : केवला : परमाणव :"

[प्रज्ञा. १०, जीवा. ७]

जिसका दूसरा भाग न हो सके वह परमाणु है, जो पूरे संसार के निर्माण का मूल कारण है। इस परमाणु में वर्ण-गंध और रस एक एक होता और स्पर्श चार होते है : स्निग्ध, रूक्ष, शीत, ऊष्ण।

परमाणु में रहे हुए चारों स्पर्शों में से स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (लुखा) यह दो परमाणु अपनी योग्यता को लेकर जब जमा होते हैं तब द्वयणुक स्कन्ध बनता है, और उसमें जब और दूसरा परमाणु मिलते ही त्र्यणुक स्कंध कहलाता है। इस प्रकार चार–पांच–सात यावत् अनंत या अनंतानंत तलक एकत्र हुए परमाणुओं का स्कंध, संख्यात – असंख्यात – अनंत या अनंतानंत परमाणुओं का स्कंध कहलाता हैं। परमाणु में स्निग्धता या रुक्षता कितनी होनी चाहिए? वह दूसरे भाग में "पुदगलों के बंधकी विस्तृत विवेचना प्रकरणमें से जान सकेंगे।

स्कंध की व्याख्या :

' प्रायो ग्रहणदानादि व्यापारसमर्थरूपत्वं अथवा वर्णादिमत्त्वबद्धत्त्वयोः सतोः सूक्ष्मबादरपरिणामपरिणति रूपत्वं स्कंधस्य लक्षणम् " (आर्हतदर्शन दीपिका—२२८)

" चतुः स्पर्शादिमत्त्वे सति सूक्ष्मपरिणाम परिणीत रूपत्त्वं सूक्ष्मस्कंधस्य लक्षणम् " (आहेतदर्शन दीपिका २२९)

" अष्टस्पर्शादिमत्त्वे सति बादरपरिणामपरिणति रूपत्त्वं बादरस्कंधस्य लक्षणम् (आहेतदर्शन दीपिका)

यानि की परमाणु किसी से ले नहीं सकते, किसी को दे नही सकते परंतु स्कन्ध ले सकते हैं। और दे सकते है । अथवा सूक्ष्म या बादर रुप में रहा हुआ हो वह स्कन्ध कहलाता है ।

चार स्पर्श और सूक्ष्म परिणामवाला हो वह सूक्ष्म स्कन्ध है और आठ स्पर्श तथा बादर परिणामवाला हो वह बादर स्कंध कहलाता है। कितने भी परमाणुओं का सूक्ष्म स्कन्ध अतीन्द्रिय – अचाक्षूष होनेसे वह सूक्ष्म है जब बादर परिणाम को पाया हुआ स्कंध ही इन्द्रियग्राह्य होनेसे चाक्षुष है ।

सूक्ष्म या बादर जो नामकर्म की प्रकृति के भेद में है उसे यहां समझने की जरूरत नहीं है क्योंकि कर्मो की सत्ता तो चैतन्यशीलसम्पन्न जीवात्माओं को होती है, जब स्कंध अजीव है इसलिए सूक्ष्म परिणति को प्राप्त हुए स्कंध सूक्ष्म स्कंध और बादर परिणति को प्राप्त हुये स्कंध बादर स्कंध कहलाते है ।

स्कंधो के विभाग :

हम पहले जान गये है कि परमाणु सिर्फ कारणरूप ही होता है

और स्कंध, कारण,और कार्यरूप दोनों प्रकार का होता है। बहुत परमाणुओं के मिलने से स्कंध बनता- है इसलिए स्कंध कार्य हुआ और "भेदादणुः" इस सूत्र से स्कंध टूटते टूटते पुनः परमाणु बनता है, यानि की परमाणुओं के लिए स्कंध कारणरूप भी है। आनुषंगिक इतनी बात जानने बाद के हम भगवतीसूत्र के मूल सूत्रों को तथा टीकाकारो को पहचाने।

गौतमस्वामीजी ने भगवंतसे पूछा कि 'हे प्रभो ! जब दो पुद्गल परमाणु जमा होते है तब उनके संयोग से क्या उत्पन्न होता है ?' जवाब में प्रभुने कहा कि 'हे गौतम ! जमा हुए वे दोनो परमाणु अपने परमाणुत्व को त्यागकर द्विप्रदेशिक (द्वयणुक) स्कंधरूप बनता है और संबोधित होता है। (इस प्रकार आगे भी जान लेना) जब वह द्विप्रदेशिक स्कंध निमित्त मिलते ही वापिस बिछड़ते हैं तब उसके एक भाग में एक परमाणु और दूसरे भाग में एक परमाणु ऐसे दो भाग में एक एक परमाणु विभक्त होता है। यहां और आगे भी इतना ध्यान में रखने का है कि कोई काल में और किसी की शक्ति से भी एक परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते हैं इसीलिए द्विप्रदेशिक स्कंध में से एक तरफ १॥ परमाणु और दूसरी तरफ ०॥ परमाणु का विभाग सर्वथा अशक्य है, क्योंकि परमाणु अविभाज्य होने से आदि, मध्य या अंत में वह खुद ही है अर्थात् परमाणु किसी के आदिमें, मध्यमे या अंत में नहीं है इस कारण से ही परमाणुका १/२ १/४ १/८ आदि भेद नहीं हो सकते।

त्रिप्रदेशिक स्कंध का भेद होते एक तरफ एक परमाणु और दूसरी तरफ दो परमाणुरूप दो विभाग और एक एक परमाणुरूप तीन विभाग बनते है।

चतुष्प्रदेशिक स्कंध का भेद हो जाय तब उसके दो तीन और चार विभाग बनते हैं। दो विभाग में एक तरफ एक परमाणु और दूसरी तरफ त्रिप्रदेशिक स्कंध या दोनों तरफ द्विप्रदेशिक स्कंध के दो विभाग। तीन में

एक एक परमाणुरूप दो और दूसरी तरफ द्विप्रदेशिक स्कंध चार में एक एक परमाणु के चार विभाग।

पंच प्रदेशिक स्कंधके १-४, २-३, १-१-३, १-२-२, १-१-१-२ और १-१-१-१-१ इस प्रकार छः, सात, आठ, नौ, दस आदि परमाणु स्कंधके विभाग समज लेना।

संख्यात पुद्गल परमाणु का स्कंध जब विभक्त होता है तब दो-तीन यावत् संख्यात विभागों में वह विभक्त होता है। जैसे १ + संख्यात, २+संख्यात, १+१+ संख्यात, १+२+ संख्यात, १+१+१+संख्यात, १+२+२+३ संख्यात

इस प्रकार असंख्यात और अनंत प्रदेशी स्कंध के लिए जानना। जैसे की एक तरफ से लेकर संख्यात परमाणु स्कंध और दूसरी तरफ दो से लेकर संख्यात प्रदेशी स्कंध या अनंत प्रदेशीस्कंध लेना।

पुद्गलों का परिवर्तन भाव :

गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवंतने कहा कि, हे गौतम! यह सब पुद्गल परमाणुओंका संहनन (स्कंध रूपमें जमा होना) और विघटन (भिन्न भिन्न बिखरना) यानी की आज इस समय एक परमाणु सर्वथा पृथक् है, वह यथासमय दूसरे परमाणु यावत् संख्यात असंख्यात या अनंत परमाणुओं के साथ संमिश्रण होता है और अदृष्ट निमित्तों को लेकर वापिस बिछड़ता है। जो दूसरे स्कंध के साथ मिल जाता है। उसे ही जैन शासन पुद्गलोंका परिवर्तनभाव कहते हैं। यानि की—उनमें प्रतिक्षण परावर्तन होता है और इस प्रकारका परिवर्तनभाव अनंतानंत कहलाता है। अनंत को अनंत से गुणाकार करने से अनंतानंत होता है। यह परिवर्तनभाव किसीकी भी शरम या अपेक्षा रखे बिना अनादिकालसे हुआ है, होता है, और होता रहेगा।

जीवों को उत्पन्न होने में योनिके स्थानमें पुद्गलो का परिवर्तनभाव अवश्यंभावी होता है, क्योंकी पुद्गल जीव से आश्रित होनेसे और जीवन मात्र अपने अपने कर्मो के अधीन होनेसे अपने अपने ऋणानुबंध के अधीन बनकर जीवमात्र अपने योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। और रागद्वेष-पूर्वक बंधे हुए ऋणों को भुगतने का समय जब परिपक्व होता है तब उस जीव को वैसे ही पुद्गलोंका परिवर्तनभाव नसीब में रहता है। उदाहरण समजकर बात करनी हो तो एक जीवात्मा ने पहले के किसी भवमें दूसरे जीवात्मा के साथ वैर के भाव से कर्म बांधे थे और इस भवमें उसका परिपाक होने का समय भी पक गया है। इसलिए संयमी सदाचारी धार्मिक–समताशील–निरोगी अवस्था को भुगतनेवाले माता–पिता हो फिर भी जिस समय पूर्वभव का वैरानुबंधवाला जीव माता की कुक्षीमें आनेवाला हो उस समय शुक्र और रज के पुद्गलोंका परिणमन (संमिश्रण) तामसिक याराज सिक हो जाता है। बहुत वार हम जानते है कि माता–पिता सशक्त हो, मैथुनमात्र में गर्भाधान कराने की क्षमतावाले हो और समता तथा सात्त्विक वृत्तिवाले हो फिर भी गर्भाधान के समय में कुक्षि में आनेवाले जीवात्मा के कर्मो के कारण ही माता-पिता की समता-सात्विकता उतने समय तक ही तिरोभूत होती है, परिणाम से मैथुन कर्ममें बलात्कार क्रोधभाव-वैरभाव, व भयग्रस्तता का प्रादुर्भाव होता है या उस समय मैथुनकर्ता पिताके वैर भय-क्रोध या आर्तध्यान वर्तता होने से उसके शुक्र के परमाणु भी तामसिक और राजसिक बनकर पतित होते हैं। या अपने शरीर में रहे हुए शुक्र या रज के खजाने में जो तामसिक या राजसिक पदार्थों के भोजन से जो शुक्र या रज बना होगा उस समय उनका ही मिश्रण होगा। जहाँ उस जीवात्मा को जन्म लेना है। इसलिए उस समय तक ही माता-पिता भी वैकारिक भाव में ओतप्रोत बनकर मैथुन सेवी बनेगे और वह जीव गर्भ में आयेगा। क्योंकि बैरझेर से बंधे हुए या मनुष्य अवतारसे मरकर नरक तिर्यंच गतिमें जानेवाले जीव नियाणेमें फंस गये होने से सात्त्विक शुक्र या रजके मिश्रण में जन्म नहीं ले सकते।

त्रिपृष्ट वासुदेव की आत्मा जो महावीर स्वामीकी ही आत्मा है वह जब तक अपने माता-पिता सदाचारी और नीतिन्याय के रास्तेपर थे तब तक वहांपर पैदा नहीं हुए; क्योंकि उस समय में तो मोक्षगामी या स्वर्गगामी अचल नाम के बलदेवने जन्म लिया था और महावीरस्वामी की आत्मा उस खानदान में कब पैदा हुई है वह जानते हो ? जब वासुदेवके पिता पुरुषवेद के अतिरेक में वर्तता था तब अपनी लड़की के साथ संसार की माया शुरू करने के बाद उसकी कुक्षि में जन्म धारण करता है और तामसिक पुद्गल परावर्तमें जन्म लेते त्रिपृष्ट वासुदेव (१८ वे भवकी महावीरस्वामीकी आत्मा) मरकर सातवी नरक में जाती है इसीलिए कहा गया है कि जीवात्मा को जिस समय नियाणापूर्वक बंधे हुए शुभाशुभ कर्मोंको भुगतने होते है तब पुद्गल परावर्त का भी उसी प्रकार ही अपने आप सर्जन हो जाता है। अपने जीवन के ही प्रतिसमय के उदाहरण ऊपर विचार करे तो ऊपर की बात सहज समज में आयेगी।

जो भोजन हम करते हैं उस सब का खून नहीं बनता क्योंकि खून को बनने के लिए जिन जिन पुद्गलों में लायकात होती है उसमें से ही खूनका निर्माण होगा। फिर वह खाया हुआ भोजन दूध हो, मलाई, मेवा, मिष्टान्न हो या फरसाण हो उसमें से रस बनेगा और उस रसमें से बहुत थोड़ेका खून बनता है। शेष रहा हुआ भोजन मल-मूत्र, पसीना, कफ, नाखून, बाल आदि द्वारा बाहर निकलेगा। खून में से लायकातवाले पुद्गल ही यावत् शुक्र में परिणत होंगे।

सारांश सब पुद्गल सब काम में आते नहीं. इसी प्रकार अनंतानंत पुद्गल भी जीवात्मा के काम में नहीं आते, परंतु अपने शरीर की रचना के लायकातवाले सूक्ष्म पुद्गल ही जीवात्मा ग्रहण करता है जो शुभाशुभ कर्मोंको भुगतने में सहायक बनता है। गौतमस्वामीने पूछा कि, 'हे प्रभो ! पुद्गल परावर्त कितने प्रकारके हैं ?' जवाब में भगवंतने कहा कि, 'हे गौतम, सात प्रकार के हैं।'

१. औदारिक पुद्गल परावर्त

२. वैक्रिय पुद्गल परावर्त.

३. तैजस पुद्गल परावर्त

४. कार्मण पुद्गल परावर्त.

५. मनः पुद्गल परावर्त.

६. भाषा पुद्गल परावर्त.

७. श्वासोच्छवास पुद्गल परावर्त.

उपर्युक्त सातों पुद्गल परावर्तों में संपूर्ण जीव-राशी का समावेश हो जाता है – जैसे की सूक्ष्म-बादर-पर्याप्त-अपर्याप्त एकेंद्रिय जीव से लेकर संमूर्च्छिम या गर्भ पंचेन्द्रिय जीवोंको औदारिक पुद्गलों से बने हुए औदारिक शरीर की प्राप्ति होती है। देवनारक आदि जीवो को वैक्रिय पुद्गल परावर्तन को लेकर वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है। सिद्धशिला में प्रवेश करने से पहले अनंतानंत जीवों को तैजस् और कार्मण पुद्गल परावर्त से लेकर तैजस् और कार्मण शरीर होता है। तथा पुण्यकर्म के सितारे जिसके चमके हो उसे ही मन, वचन और श्वासोच्छवासके पुद्गलों की प्राप्ति होती है। जब हाथी, गाय, कुत्ते, घोड़े आदि जीवों को पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होने पर भी, अपने मालिकों को बहुत सारी बात कहनी की इच्छा रखते हों फिर भी कर्मसत्ता के आगे लाचार बने हुए वे जीव मन में बहुत ही दुःखों का अनुभव कर रहे हैं, फिर भी एक भी अक्षर वे बोल नहीं सकते। अपने रागद्वेष से उपार्जित शुभाशुभ ऋणानुबंध का जब समय परिपाक होता है, यानि की जिस जीवके साथ रागद्वेष के सट्टाबजारमें सत्कर्मों का और पुण्यकर्मों का जुगार खेलने का होता है उस समय ही वह जीव औदारिकादि शरीर धारण करने के लिए माताकी कुक्षि में आता है और संसार के मंच पर आकर अपने रचे हुए मायाजाल के नाटकों को खेलने का प्रारंभ करता है और जब रामायण खतम हुई कि वह

भाईसाहेब वापस कर्मो की जेलमें कैदी होकर दुसरे संसार में खेल करने-वाले मदारी की माफिक चला जाता है।

'हे प्रभो ! नारकोंको कितने पुद्गल परावर्तो का सद्भाव, कहा है ?' गौतमस्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवानने कहा, 'उनको उपर बतलाये हुए सात प्रकार के पुद्गल परावर्तो का सद्भाव होता है। वह असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक के देवो के लिए भी जानना।'

'हे प्रभो ! नारक जीवोंमें से एक एक नारक ने कितने पुद्गल परावर्त किये है ?' हे गौतम ! भूत (अतीत) काल अनादी हैं, जीवात्मा भी अनादि है, और जीव की संसारदशा भी अनादिकी है। इसीलिए एक एक नारको थे पुद्गल परावर्त अनंत हो चुके हैं।' भविष्य के लिए बात कहते भगवंतने कहा कि, 'जीवात्मा दुरभविक तथा अभविक होनेके कारण कितनेक नारको को पुदगल परावर्तो का सदभाव होता है। और दुसरे जीव जो नरक में से नीकलकर मोक्ष में जानेवाले हैं उनको सद्भाव नहीं है। तथा दुसरे को जघन्य से दो तीन या चार और ज्यादा संख्यात असंख्यात या अनंत होंगे।

असुरकुमारोंसे लेकर वैमानिक देवो तक नारकों की माफीक जानना।

इसी प्रकार वैक्रिय-तैजस-कार्मण मन-वचन और श्वासोच्छवास पुद्गलपरिवर्तन नारक से वैमानिक तक भूतकाल में अनंत हुए है और भाविकालमें जघन्यसे दो तीन या चार और उत्कृष्टसे संख्यात, असंख्यात, अनंत होते हैं।

'नरकावास में रहते नारक जीवो में से एक एक नारक को भूतकाल में औदारिक पुद्गल परिवर्तन कितने कहे है?। भगवानने जवाब में कहा कि, 'नारक को उस औदारिक पुद्गलोंका अभाव होने से भूतभावि में एक भी नहीं है।'

इसी पद्धतिसे नारक को पृथ्वीकाय अवस्था में औदारिक पुद्गल परिवर्त भूतकाल में अनंत हुए है और भाविमें नारकों की माफिक समजना इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य अवस्था में एक एक नारक के भूतकालीन औदारिक पुद्गल परावर्त अनंत हुए है और भविष्यकाल में किसी को सद्भाव होता है और किसी को नहीं होता। इस प्रकार इस विषय को मूल सूत्र में स्पष्ट और विस्तार से दर्शाया गया है।

यही बात गौतमस्वामीजी दूसरे तरीके से प्रभुको पूछते हैं कि, हे प्रभो! आपभी किस कारण से कहते हैं कि' "यह औदारित पुद्गल परिवर्तन है यह औदारिक पुद्गल परिवर्तन है?" तो उसका स्वरूप क्या है जवाब में भगवंतने कहा कि 'जिस कारण औदारिक शरीर में रहे हुए इस जीवात्माने उसके योग्य पुद्गल द्रव्यों को औदारिक शरीररूप ग्रहण किये है तथा जीव के प्रदेशो के साथ उनको बांधा है। अन्य अन्य ग्रहणरूप उनको पोषित किया है, पूर्व परिणाम में से अन्य परिणाम रूप उनको परिणत किया है, स्थिर किया है, जीवात्मा ने खुद उन पुद्गलोंका अपने प्रति प्रदेशमें प्रवेश कराया है तथा संलग्न और अभिसमन्वागत यानि रसानुभूति की अपेक्षा से प्राप्त किया है, औदारिक शरीर के योग्य इन पुद्गलोंका रसानुभव किया है और निर्जीर्ण अर्थात् क्षीण रसवाला किया है इसीलिए कहा गया है कि यह पौद्गलिक परावर्त है, यह पौद्गलिक परावर्त है।

वैक्रिय शरीर में रहा हुआ जीव वैक्रिय शरीर के निर्माण के योग्य पुद्गल द्रव्यों को वैक्रिय शरीररूप ग्रहणबद्ध-स्पृष्ट-विहित-प्रस्थापित-अभिनिविष्ट आदि किया है। यावत् श्वासोच्छवास तक समजना सब पुद्गल परावर्तों से वैक्रिय पुद्गल परावर्त अनंत है:

मनः पुद्गल परावर्त इससे ज्यादा है। श्वासोच्छ्वास परावर्त उससे भी ज्यादा है।

औदारिक परावर्त अनंत है। तैजस उससे भी अनंत है। और कार्मण परावर्त उससे भी अनंत है :' भगवंत की वाणी की प्रशंसा करते हुए गौतमस्वामी ने कहा कि, 'हे प्रभो! आपकी वाणी सत्य और यथार्थ है।'

॥ शतक १२ का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक १२ वाँ : उद्देशक – ५

देवाधिदेव की वाणी :

इस उद्देशक की चर्चा राजगृही नगरी में हुई है। "अर्हद् वक्त्र प्रसूता गणधररचिता द्वादशांगी विशाला"

जीव्हाइन्द्रिय के (रसनेन्द्रिय) मालिक दो इन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक के होते हैं, उसमें जो मिथ्यात्वी, दूरभवी या अभवी हो उनकी भाषामें पदार्थ की यथार्थता संबंधी का सत्य वचन औपचारिक दृष्टिसे क्वचित हो सकता है। परंतु नैश्चयिक दृष्टिसे नहीं होता

क्योंकि जो पदार्थ कोई काल में देखा न हो उसका वर्णन किस प्रकार से किया जायगा ?

भव्यात्मा अभी जब तक छद्मस्थ है (क्षायोपशमिक मतिज्ञान–श्रुतज्ञान – अवधिज्ञान या मनः पर्यवज्ञान) तब तक वे महापुरुष, सम्यग्दर्शन बिना के योगी – महायोगी – पंडित – महापंडित – तपस्वी महातपस्वी – ध्यानी – महाध्यानी से लाखोंबार श्रेष्ठ हैं, पूज्य हैं फिर भी पदार्थों की यथार्थता को जान नहीं सकते और कह नहीं सकते।

मोहनीय कर्म के भेद – प्रभेद का समूल नाश करने के बाद दूसरे तीन घाती कर्मों का क्षय होते, पैदा हुए केवलज्ञान के मालिक अरिहंत-देवों के श्रीमुख से जो वाणी प्रकट होती है उनमें असत्य का एक भी अंश नहीं होता। चंद्र उपर से सब बादल हट गये हो तो शरदपूर्णिमा का प्रकाश सबको ठंडक और प्रकाश दे सकता है, और औषधिओं में अमृत का दान कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्मों का एक भी अंश जिनकी आत्मा में नहीं है वे पूज्य पुरुष ही संसार को – उसके पदार्थों को, तत्रस्थ अनंत पर्यायों को, जीवमात्र के कर्मों को, उनकी गति–आगतिओं को सर्वथा सत्यस्वरूप से देख सकने के लिए पूर्ण समर्थ होते हैं। ऐसे तीर्थंकरदेव अपने वरद हस्त से गणधर भगवंतो के मस्तक पर जो वासक्षेप देते है, तब उनकी आत्मिक लब्धि भी पूर्णरूपसे विकसित होते ही आँखके पलकारे में द्वादशांगी की रचना करने के लिए समर्थ बनते हैं, मतलब कि तीर्थंकर भगवंतो के श्रीमुख से आर्थिक रूपसे प्रसारित हुई वाणी को गणधर भगवंत शब्दों में रचते हैं इसीलिए ही द्वादशांगी सर्वश्रेष्ठ हैं, देवपूज्य है, तथा दानवों को भी मान्य है।

वह द्वादशांगी में भगवतीसूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति विवाह पण्णत) अति विशाल है, जिसमें जीव मात्रके समय और स्थान की अपेक्षा से

मुख्यतया चार ज्ञानके स्वामी गौतमस्वामीने प्रश्न पूछे हैं। और देवाधिदेव महावीरस्वामी ने उत्तर दिये है, जिसमें कोई भी प्रश्न और उत्तर 'न प्रष्टव्यं न व्याकरणीयम्' यानि की 'इस समय इस प्रश्नों का अवकाश नहीं है, उसका स्पष्टीकरण करना योग्य नहीं है।' ऐसी भाषा को अवकाश नही है, इसीलिए अगम निगम के सब प्रश्नोत्तर इस सूत्र में संगृहीत है..... इस कारण से भगवंत की वाणी सुनकर पर्षदा खुश होती है अर्धावनत या पूर्णावनत होकर परमात्मा देवाधिदेवके चरणो को स्पर्श करती है, तथा उन चरणों की भवांतर में भी चाहना करती है।

गौतमस्वामी ने पूछा कि, "हे प्रभो! प्राणातिपात मृषावाद-अदत्तादान मैथुन और परिग्रह में कितने वर्ण-गंध-रस और स्पर्श होते हैं?" जवाब में भगवंत ने कहा कि, "पांच वर्ण, दो गंध पांच रस और चार स्पर्श की विद्यमानता प्राणातिपातादिक में होती है।"

सब दूषणोंसे रहित जीव का लक्षण जैसे 'उपयोग" है वैसे पुद्गल द्रव्य का भी लक्षण दिखाते जैन शासन ने कहा कि 'वर्णगंधरसस्पर्शवन्त : पुदगला : अर्थात जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की विद्यमानता अवश्यंभाविनी है वह पुदगल है। यानि की परमाणु से लेकर बडे सूक्ष्म या बादर स्कंधों में ये चारों होते है।

प्राणातिपादि में जब वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की विद्यमानता स्वीकार्य है, इसलिए उससे होनेवाला कर्म बंधन भी संगत रहेगा।

इसलिए इन पदो का अर्थ 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम्' आदि न करते प्राणातिपात मृषावाद-अदत्तदान-मैथुन और परिग्रह से उपार्जन किये हुये कर्म तथा प्राणातिपातादि का जनक (उत्पादक) चारित्र मोहनिय कर्म लेने का है। क्योंकी उस कर्मके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी तीव्रमता को लेकर प्राणातिपातादि कार्यो मे जीवात्माकी प्रवृती होती हैं। इस प्रकार मृषावाद जनक कर्म को अथवा मृषावादसे जन्यकर्मके

मालिक को, नहीं दी गई वस्तु का आदान करना वह अदत्तादान हैं उससे जन्य कर्म को या उसके जनक कर्म का, अब्रह्म (मैथुन) से जन्य कर्म को उस के जनक कर्म का और परिग्रह जन्य या जनक कर्म का औपचारिक रीतसे प्राणतिपातादि कहते हैं और कर्म पुदगल होनेसे उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की विद्यमानता किसी काल में भी उनका नकार नही हो सकता पुदगल में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते हैं। स्पर्शक संख्या आठ हों फिर भी प्राणातिपातादि कर्म पुदगल में स्पर्श चार ही होते हैं।

कषायादि में वर्णादिकी विचारणा :

गौतमस्वामीजी के प्रश्न से भगंवतने कहा कि दसपर्यायों को धारण करनेवाले क्रोधमें वर्ण , गंध , रस और स्पश की संख्या ऊपर मुजब हैं क्योंकि क्रोध के अध्यवसायोका जनक (उत्पादक) चरित्रमोहनीय कर्म पुदगल हैं ।

क्रोध सामान्य हैं और दूसरे पर्याय उसके विशेषण हैं। उसका विचार क्रमशः करेगे।

१. कोप - क्रोधके उदयकालमें निजस्व भावसे चलायमान होना उसे कोप कहते है।

२. रोष - शांत न होते क्रोध को परंपरा आगे चले वह ।

३. दोष - क्रोधावेष में आकर स्वपरके दोष बोलने वह।

४. द्वेष - दूसरेके प्रति अप्रीति भाव रखना वह

५. अक्षमा - परायेके अपराधोको सहन न करना।

६. संज्वलन् - बारबार क्रोधाग्निसे जलते रहेना।

७. कलह - परस्पर जीभाजोडी व दंतक्लेश करना और उंची आवाजमे

अनुचित असभ्य वाग्व्यवहार करना वह ।

८. चांडिक्य - क्रोध में आकर रौद्र आकार धारण करना। यानि की विशेष प्रकार के क्रोधोदय में मानव का मुख-आंख होंठ आदि शरीर के अवयव दानव जैसे हो वह।

९. भंडन - डंडे आदि साधनों से दूसरे को मारने की तैयारी करनी या गालीप्रदान करके लड़ना वह ।

१०. विवाद - परस्पर विरूद्ध वचन व्यवहार करना वह ।

मान के पर्याय :

१. मान—चरित्र मोहनीय कर्म के कारण पैदा हुए अभिमान को 'मान' कहते हैं और शेष उसके पर्याय हैं ।

२. मद—हर्षमात्र (टीकाकार) अर्थात् पूर्वभवीय वीर्यांतराय, भोगांतराय, लाभांतराय उपभोगान्तराय के क्षयोपशम के कारण, शुभनाम कर्म प्रकृति, उच्च गोत्र या शुभ वेदनीय कर्म के उदयकाल में जीवात्मा को जो हर्षोन्माद होता हैं उसको 'मद' कहते हैं । शराबपान, अफीम के कंसुच या भांग पीने से जो उन्माद होता हैं उससे ज्यादा भौतिक वस्तुओं से पैदा हुए, मद से बैकारिक भाव आते ही 'सब बातों में मैं ही हूँ' वैसा उन्माद उत्पन्न होता है। उसी तरह पूर्व के पुण्योदय से मिली हुई मनमानी वस्तुओं से आन्तरजीवन में उन्माद उद्दीप्त होता है। और संसार के स्टेज पर छाती निकालकर बेमर्याद जीवन बीताता है ।

३. दर्प - दृप्तता (टीकाकार) 'दृपौ च हर्षमोहनयो :' 'दृप' धातु से दृप्त शब्द बना हैं जो हर्ष और मोहन के अर्थ में प्रयुक्त है हर्षका अर्थ उपर समझा दिया गया है जब 'मोहन' का अर्थ गर्व होता है। गिरति-अपरमिति गर्व : यानी की अपने से कम शक्तिवालों को धुरकते रहना वह गर्व ।

४. स्तंभ - किसी को भी नमन नही करना वह।

५. गर्व - अहंकार

६. आत्मोत्कर्ष - दूसरो से अपने को ऊंचा समझना।

७. परपरिवाद - दूसरे को निन्दित करने के लिये उनमें दुर्गुणो की कल्पना करनी और प्रसारित करनी।

८. अपकर्ष - गर्विष्ठ बनकर दूसरे को हीन दिखाने की चेष्टा करनी वह।

९. उत्कृष्ट - दूसरो से, अपने को सब तरीके में ज्यादा अच्छा मानना

१०. उन्नाम - अब तक दूसरे को नमन किया परंतु आज से दूसरे को नमन करना छोड़ देना।

११. उन्नय - अहम् रखने के लिये प्रमाणिकता को छोड़ देना।

१२. दुर्नाम्—दुर्भाव रखकर गुरू आदि को नमन करना।

भगवंत ने कहा कि हे गौतम्। उपर्युक्त मान कषाय में भी पांच वर्ण पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श रहे हुए है।

चरित्रमोह कर्म के कारण से जीव मायावी बनता है और माया प्रपंच के कारणसे चरित्रमोनीय कर्म का बंधन होता है।

माया के पर्याय :

१. माया—कपट, अज्ञान, अविद्या।

२. उपधि—जिससे दुर्गति प्राप्त हो या जिस आदमी को ठगना है, उसके पास से स्वार्थ साधने से पहले नम्रता दिखाकर बाद में ठगना।

३. निकृति—जिसको ठगना है उसको पहले आदर देना, विश्वास में लेना और बाद में ठगना।

४. वलय—व्यक्ति तथा समष्टि (समाज) को ठगने के लिए लूटने के लिए या उसकी जेब खाली कराने के लिए अपनी भाषा को वक्र और गूढ बनाना।

५. गहन—जिसके साथ ठगाई करनी हो उस आदमी को अंत तक अंधेरे में रखना और अपने मायाजाल की खबर होने देनी नहीं।

६. नूम—दूसरे को ठगने के लिये नीच-असभ्य और अव्यवहार्य मार्ग लेना या ब्रह्मा भी न जान सके वैसी गुप्तता रखना।

७. कल्क—जीववधादि पापों का सेवन करके भी दूसरे को ठगना।

८. कुरूप—निंदित, असामाजिक कार्य करके तथा करवा के भी दूसरे को ठगना और अपना स्वार्थ साध लेना।

९. जिहमता—दूसरे को ठगने के लिये विशेष प्रकार से मोह-चेष्टा करनी।

१०. किल्बिष—देव जैसे मनुष्य जीवन में भी स्वार्थ साधने के लिए अपनी शक्ति और प्रवृत्ति को किल्बिष अर्थात् बाहर से शक्कर के टुकडे जैसी और अंदर से हलाहल विष जैसी बनाकर दूसरेको ठगना।

११. आदरण—ठगने के लिए योग्य मनुष्य के साथ प्रारंभ में लेन देन में सच्चाई रख कर उसको विश्वास में लेनेके बाद पूरेपूरा ठगना।

१२. गूहन—अंत तक अपने अभिप्राय को दूसरा जानने न पाये वैसी तरह अपने चहेरे को, भाषा को, आकार को गुप्त रखना।

१३. वंचनता—दूसरे को ठगने के लिए प्रपंच करते रहना।

१४. प्रति कुंचन—सामने वाले की सरल और सत्य भाषा को भी अपनी वाक्जाल में लपेटकर ठगना।

१५. सातियोग—अपनी वाक्छटा से ग्राहक को अच्छा माल दिखाकर खराब माल देना। इस प्रकार १५ पर्यायसे युक्त माया में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श है।

लोभ कषाय की वक्तव्यता और पर्याय :

चरित्र मोहनीय कर्म के कारण लोभ कषाय का उदय होता है और लोभ-लालच में फंसा हुआ मनुष्य चरित्र मोहकर्म का बंधक है। लोभ सामान्य है जब शेष उसके विशेषण है अर्थात् लोभ में फंसने के कारण है।

१. इच्छा---पदार्थ मात्र को प्राप्त करने की इच्छा लोभ है।

२. मूर्छा--प्राप्त हुए पदार्थ का संरक्षण करने की भावना।

३. कांक्षा--प्राप्त न हुई हो उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न।

४. गृद्धि--प्राप्त हुई संसार की माया में आसक्ति।

५. तृष्णा--प्राप्त हुई वस्तुओं का व्यय न हो उसकी संभाल।

६. मिध्या--पदार्थों को जमा करने में ही मस्त रहना।

७. अभिधा—चितकी चलायमान स्थिति या अदृढ अध्यवसाय

८. आशंसना—अपने पुत्र परिवारादि को अमुक वस्तु की प्राप्ति हो उसकी प्रबल इच्छा रखनी।

९. प्रार्थना—इच्छित पदार्थ या उसके विषयों को प्राप्त करने के लिए दूसरों की दाडी में हाथ डालना।

१०. लालपनता—बारबार याचना करते रहना।

११. कामाशा—इच्छित मनपसंद रूप, खाद्य, पेय तथा शब्दों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते रहना।

१२. भोगाशा—मनपसंद रस स्पर्श और गंध के लिए प्रयत्न करते रहना।

१३. जीविताशा—ज्यादा जीने के लिए ज्योतिषीओं के पास चक्कर लगाना।

१४. मरणाशा—किसी प्रसंग पर मरने की इच्छा करनी।

१५. नन्दीराग—प्राप्त हुई ऋद्धि-समृद्धि-युवावस्था और सत्ता में हर्ष धारण करना।

उपर्युक्त लोभ में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार स्पर्श होते है उपर मुजब, प्रेम-द्वेष-कलह अभ्याख्याग पैशून्य रतिअरती-मायामृषावाद और मिथ्यादर्शन आदि में भी समझना, क्योंकि प्रेम आदि के सेवन से पुनः चरित्रमोहनीय कर्म की उपार्जना होती है या पूर्वभवके निकाचित या अनिकाचित रूप से उपार्जित हुए चारित्र मोहनीय कर्म की उदयावस्था से तथा उदीर्णा करण से भड़काये हुए मोह से प्रेम आदि की प्राप्ति होती है।

१. प्रेम—जिससे पुत्र पौत्र आदि को देख देख स्नेहराग की उत्पत्ति होती है।

२. द्वेष—जिस व्यक्ति या पुदगल पदार्थ से स्वार्थ नहीं सधता उसके प्रति उत्पन्न अप्रीति भाव को द्वेष कहते है।

३. कलह—कामरागसे पैदा हुए प्रणयसे या दूसरों की मस्करी आदि से पैदा हुए दंत्तक्लेश, मूठामूठी, दंडादंडी या आंखों की लड़ाई को कलह कहते है।

४. अभ्याख्यान—सामनेवाले शत्रु में या अपने साथ स्पर्धा करने वाले व्यक्ति में अविद्यमान दोषों का आरोपण करना वह अभ्याख्यान है।

५. पैशून्य—दूसरों की चुगली खाना।

६. रति अरति—मनोवांछित शब्द, रस, गंध और स्पर्श के प्रति रूचि और अनगमते पदार्थों के प्रति अरूची रखना वह रति-अरति है।

७. परपरिवाद—दूसरोंकी निंदा करनी

८. मायामृषावाद—माया कपटपूर्वक झूठ बोलना।

९. मिथ्यादर्शन—विपरीत श्रद्धा रखना।

भगवानने कहा कि, इसमें भी उपर मुजब रूप, रस, गंध, और स्पर्श जान लेना

प्रश्न—'हे प्रभो ! प्राणातिपातादि १८ पापों का विरमण (त्याग) रूप जो भाव है। वह क्या वर्णादिकमय है ?

जवाब में—'ना' कहते भगवंत ने कहा कि, त्यागभाव में आत्मा की उपयोग मयता मुख्य कारण होने से तथा आत्मा की माफिक उपयोग भी अरूपी होने से वर्णादिरहित है।

धर्म यानि क्या ?

पदार्थ सिर्फ लक्षणोंसे लक्षित होता है, इसलिए जिसका लक्षण नहीं है वह सर्वथा असत् है, जब आत्मा लक्षणवाला होने से सत् है तथा शाश्वत है तब आत्माका लक्षण क्या ? उत्तराध्यन सूत्र में 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् पदार्थ का, स्वभाव से अतिरिक्त धर्म नहीं होता। पानी की शीतलता, अग्नि की उष्णता की माफीक आत्मा का लक्षण (स्वभाव) उपयोग है। ऐसे उपयोग में स्थिर हुए आत्मा को परभाव-विभाव या अधर्म में जाने का नही बन सकता इसलिए प्राणातिपात यावत् मिथ्याशल्य १८ पापस्थानक आत्मा का स्वभाव नहीं है परंतु परभाव है, परधर्म है, जिस कर्म के आचरने से आत्मा को ग्लानि-ग्लानि हो वह उसका धर्म नहीं है। हिंसक मानव भी हिंसा जूठ चोरी करने के बाद उसके मन में कुछ ग्लानि जरूर होती है कि मैंने यह अच्छा नहीं किया।

मैथुन में मस्त बनी हुई आत्मा भी "पतनान्ते शोचयनीति शुक्रम्" इस उक्ती से वीर्यपतन होने के बाद आत्मा को ग्लानि-ग्लानि किसी भी अंश में जरूर होती है। परिग्रही की आत्मा तो दुःखों में से बाहर नहीं आ सकती। क्रोधी मनुष्य को तुम किसी भी काल में सुखी नहीं देख सकोगे। जब अहंकारी मानव अपने से सवा शेर मानव का डंडा लगता है तब

भाई साब धुआंपुआं होकर पूरी दुनियाने के तमाशे करने लग जाता है मायावी और लोभी मनुष्यों के आर्तध्यन कभी भी कम नहीं दिखाई देगा इस प्रकार जिसके सेवन से आन्तर हृदय में पीड़ा हो वह आत्मा के स्वभाव रूप से नही हो सकता ! जिस कार्य को करने के लिए आत्मा को पुरुषार्थ विशेष करना पडे वह उसका स्वभाव किस प्रकार हो सकेगा ? जैसे के अहिसा के लिए कोई भी प्रयत्न करने की जरुरत नही है जब हिंसा-जूठ चोरी-मैथुत परिग्रह आदि के लिए सबको कुछ न कुछ पुरुषार्थ करते हुए देख सकते है और इस पापों के सेवन के बाद सब रोते, आंसू सारते, या निसासे निकालते भी देख शकते है इसलिए प्राणातिपातादि आत्मा का स्वभाव नही है परंतु अधर्म होने से परभाव-विभाव या वैकारिक हैं

अनादिकाल से मोह के मदिरापान में बेहोश बनी हुअी आत्मा बकरे के झुण्ड में रहे हुए सिंह के बच्चे की माफिक अपना स्वधर्म-स्वभाव या स्वधर भूल गया है इसलिए ही मगज के अस्थिर मनुष्य जैसे बात बात में भूल करता है उसी प्रकार आत्मा भी मोहमदिरा के नशे में प्राणातिपादि के सेवन की तरफ शीघ्रता से प्रस्थान करता है।

नरकादि में असह्य वेदनाओ को भुगतता हुआ इन्सान, मगर के आंसु की माफिक करे हुए अफसोस का जीवन व्यवहार में विशेष अर्थ नहीं निकलता इसीलिए जिस समय में, जिस स्थान पर, प्राणातिपातका संभव रहे, मृषावाद का प्रसंग बने, चौर्यकर्म की अनुकूलता आये, मैथुनकर्म के लिए एकान्त मिले या परिग्रह के लिए तुम्हारी चालाकी सोलह कला में खिल उठे, वैसे समय अपनी आत्मा अपने स्वभाव में (उपयोग में) जागृत हो जाय और जबरदस्त पुरुषार्थ आदरकर प्राप्त हुए पापों को लात मार दे तो अपने स्वभाव में आई आत्मा पूर्व के पापों को-कर्मों को भी निकाल देने में समर्थ बनती है।

तूफान करते काबुली घोड़े को वश में करने के लिए लगाम, चाबुक तथा सवार की आवश्यकता अवश्यंभाविनी है। क्योंकि लगाम और चाबुक बिना

सवार चाहे कितना भी बलवान हो फिर भी घोड़े को वश करते समय वह खुद नीचे गिर जायेगा और हड्डीयां टूटते होस्पिटल का अतिथि बनेगा लगाम और मनुष्य हो परंतु चाबुक न हो तो भी किसी प्रसंग पर घोड़ को वश करने के लिए पुरुषों को पसीना भी आ जाता है या चाबुक और मनुष्य हो तो लगाम बिना के घोड़े को वश करने की कल्पना सर्वथा निरर्थक है इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यगचरित्र की त्रिपुटी एकत्र होगी तब ही आत्माराम को अपने इष्ट स्वार्थ साधने की देरी नहीं लगेगी।

प्राणातिपातादि अश्वों के साथ आत्मा का संबंध बहुत जूना है, फिर भी उसके दुष्ट स्वभाव को जानने के लिए आत्मा ने किसी काल में प्रयत्न नहीं किया परंतु जब कभी भी प्राप्त हुऐ सम्यगज्ञान से पापस्थानक रुप अश्वों को बराबर यथार्थ रुपसे जानेगा और सम्यगदर्शन द्वारा ऐसे दुष्ट घोड़े मेरे काम के नहीं है इसीलिए सर्वथा त्याज्य हैं ऐसा नक्की करेगा और अवसर आने पर सम्यक्चारित्रकी चाबुक फटकाकर घोड़ो को सर्वथा काबू में लेगा तब स्वभाव में आयी हुई आत्मा गुण स्थानो की श्रेणी को एक के बाद एक को सर करता जायेगा और केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए भाग्यशाली बनेगा। इस कारण से देवाधिदेव परमात्मा कहते हैं कि पापों का विरमण (त्याग) या उसको काबू में लेने के लिए सम्यक् चारित्र का अभ्यास ही आत्मा के मोक्ष के लिए सबल साधन हैं। सम्यक चारित्र की आराधना जीवन में जैसे-जैसे होती जायेगी वैसे-वैसे अनादि काल का चारित्र मोहनीय कर्म पतला पडेगा और एक दिन उसका सर्वथा क्षय होगा और अनंत शक्तिओं को आत्मसात करती अपनी आत्मा केवल ज्ञान के प्रकाश में जगमगा उठेगी। चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय होते क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होती हैं। यदि दोनो की संभावना न हो तो भाग्यशाली, पापभीरु आत्मा को यथा शक्ति और यथा परिस्थिति जितने अंशों में,पापों के द्वार बंद हो सकते हो तो उस प्रकार करना। आज थोडा

करेगे तो आनेवाले कल को ज्यादा करने का उत्साह रहेगा और एक दिन संपूर्ण पापों के द्वार बंद होगे।

प्रश्नोत्तर—आत्मा के स्वभाव रूप थोड़े बहुत अंश में प्राप्त हुई औत्पातिकी वैनयिकी कार्मणिकी और पारिणामिकी बुद्धि भी ज्ञान स्वरूप होने से वर्णादि रहित हैं।

औत्पातिकी—शास्त्र, कर्म, या अभ्यास आदि से निरपेक्ष कोई भी प्रसंग पर या व्यवहार में अपने आप की स्फूरणा हो वह औत्पातिकी बुद्धि है।

वैनयिकी—विद्यागुरू, धर्मगुरू आदि ज्ञान वृद्धों की सेवा चाकरी करते करते जो बुद्धि प्राप्त होती है वह वैनयिकी बुद्धि कहलाती है।

कार्मणिकी—कार्य करते जो सहज बुद्धि पैदा हो वह कार्मणिकी।

पारिणामिकी—संसार के तीखे मीठे बहुत प्रसंगों को देखने के बाद तथा हजारों लाखों मानवों के सत्कर्मो-असत्कर्मो को देखने के बाद यह बुद्धि होती है। यद्यपि इनमें मतिज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षता रही हुई ही है फिर भी बुद्धि के चार भेद स्वतंत्र हैं।

प्रश्नोत्तर : अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम जीव के धर्म होने से अपौद्गलिक हैं।

प्रश्नोत्तर : मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्यव ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण; यह पांचों पौद्गलिक होने से वर्णादिवाले हैं और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवसान तथा केवलज्ञान आत्मिक होने से वर्णादिवाले नहीं हैं।

प्रश्नोत्तर : 'हे प्रभो ! सप्तमी तमस्तम प्रभा नरकभूमि के नीचे रहा हुआ आकाश खंड रूप अवकाशान्तर वर्णादिकवाला होता है ? जवाब में भगवान ने ना कही है। क्योंकि आकाश अरुपी होने से उसको गंध, रस और स्पर्श नहीं है।

'अवकाशान्तर यानि क्या ?'

जबाब में कहा गया कि, पृथ्वी कछुवे या शेषनाग के उपर टिकी नहीं है। क्योंकि वह दोनों तिर्यंचयोनि के जंतु होने के कारण पृथ्वी का भार उठाने के लिए सर्वथा असमर्थ है। उनके शरीर में ३३ कोटि देवता भी अवतरित हो फिर भी प्रकृतिजन्य बातों में कोई फेरफार नहीं हो सकता।

तब जैन शासन में उसकी मर्यादा क्या है।

नारक पृथ्वीयाँ एक के नीचे दूसरी, उसके नीचे तीसरी इस क्रम में सात पृथ्वीयाँ हैं। असंख्य द्वीप और समुद्र के बीच में थाली के आकार जैसा (पृथ्वी का नारंगी जैसा आकार नहीं होता) जम्बूद्वीप हैं और शरीर में रही हुई नाभि के माफिक बराबर बीच में लाख योजन की ऊंचाई वाला मेरुपर्वत है। उसकी समतल भूमी से एक लाख अस्सी हजार योजन मोटाईवाली पहली नरकभूमी है और वह धनोदधि के ऊपर स्थित हैं धनोदधि भी धनवात ऊपर और वह भी तनुवात ऊपर स्थित है, तथा तनुवात के नीचे जो आकाश है वह ही आकाशान्तर के नाम से कहलाता है। उसके बाद दूसरी नरक पृथ्वी का प्रारंभ होता है। यावत् सातवीं नरक पृथ्वी तक यह क्रम हैं और उसके नीचे के आकाश को सातवां अवकाशान्तर कहते हैं। उसके ऊपर तनुवात वलय, उसके ऊपर धनवात वलय और उसके ऊपर धनोदधि वलय है। उसके उपर सातवी नरक पृथ्वी हैं इस प्रकार सातवी और छठ्ठी नरक पृथ्वी के सबसे नीचे छठ्ठा अवकाशान्तर, छट्ठा तनुवात, छठ्ठा धनवात और उसके उपर धनोदधिवलय है और उसके ऊपर छट्ठी पृथ्वी है। इस प्रकार यावत् पहली पृथ्वी तक समझ लेना सब धनोदधिकी प्रत्येक की मोटाई २० हजार योजन की है और धनवात तथा तनुवात असंख्यात हजार योजन की मोटाईवाले हैं, नीचे-नीचे मोटाई ज्यादा समजना।

अवकाशान्तर के लिए प्रश्न होने से प्रभु ने कहा कि, वह अमूर्त होने से वर्णादिरहित है परंतु तनुवात घनवात, घनोदधि और पृथ्वी में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श हैं, जब कर्मपुद्गल सूक्ष्म परिणाम वाले होने से चार स्पर्शवाले कहे हैं। बाकी के सब बादर परिणामी होने से उसकी आठ स्पर्श हैं, जिसमें जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, ग्रैवेयिक, अनुत्तर ईषत्-प्रागभारा पृथ्वी, नरकवास, असुर कुमारादि देवावास आदि सबके पुद्गल-परिणामों में आठ स्पर्श समजने।

नारक जीव तैजस् और वैक्रिय पुद्गलों की अपेक्षा से आठ स्पर्श वाले हैं और कार्मण शरीर की अपेक्षा से चार स्पर्शवाले है। क्योंकी कार्मण शरीर सूक्ष्म परिणामवाला पुद्गल होता है। यद्यपि जीव अमूर्त अरुपी होने से वर्ण, गंध, रस स्पर्श बिना का हो फिरभी यहां शरीर कि अपेक्षा से बात की गई है। इस प्रकार असुरकुमार आदि तथा पृथ्वी कायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, बनस्पतिकायिक और विकलेन्द्रियों को समजना मनुष्य भी कार्मण शरीर की अपेक्षा से चार स्पर्शवाला है। शेष शरीर की दृष्टि से आठ स्पर्श समजना।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल वर्णादिरहित है, जब पुद्गलास्तिकाय मूर्त होते के कारण वर्णादि सहित है।

प्रश्नोतर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठो कर्म चार स्पर्श वाले होते हैं ?

इन कर्म का उदय जब तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है तब जीवात्मा की १८ पापस्थानकों में विशेष प्रवृत्ति होती है और पुनः कर्मों की परंपरा बढती है ऐसी स्थिति में जो भाग्यशाली अरिहंत वीतराग देवों के प्रति श्रद्धालु बनेगा उनका चरित्र मोहनिय कर्म का उपशम और बाकी के कर्मों का उदय भी प्रायः करके निष्फल होगा। यानि की कर्मों

का बंधन रुक जायेगा और ऐसा होते ही पुरुषार्थी बना हुआ आत्मा एक दिन कर्मों की जड़ों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

कृष्णलेश्या के लिए जबाब देते हुए भगवंतने कहा कि, द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से आठ स्पर्श होते हैं और भावलेश्या तो आत्मपरिणाम स्वरूप होनेसे वर्णादिरहित होती है! द्रव्यलेश्या पुद्गलों के आलंबनवाली होनेसे पौद्गलिकी है जब भावलेश्या आत्मिकी है इसलिए वर्णादिक रहित है इसी प्रकार सम्यगदृष्टि मिथ्यादृष्टि चक्षुदर्शनी, अचक्षूदर्शनी, अवधि दर्शनी, केवलदर्शनी, पांचज्ञान, तीन अज्ञान, आहारादि चार संज्ञा वर्णादि रहित है। जीवन के आन्तर परिणाम की अपेक्षा से ये भाव अमूर्त होने से वर्णादिरहित कहे गये हैं। मनोयोग वचन योग चार स्पर्शवाले है जब बाहर परिणामी काय योग आठ स्पर्शवंत है छः द्रव्यों में से पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त यानि रुपी है इसलिए वर्णादि सहित है और बाकी के पांच अमूर्त होने से वर्णादि रहित है।

परमाणु पुद्गल को एक वर्ण, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श होते हैं।

जीवास्तिकाय जीव की अपेक्षा से वर्णादिरहित होने से आत्मा काला-गोरा, ठीगना या ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाल, क्षत्रिय, ब्राह्मण, स्त्री-पुरूष, गुजराती, मारवाड़ी, काठियावाड़ी या कच्छी नहीं है। फिर भी शरीर को लेकर ऐसे संबोधन होते हैं। शरीर नाशवंत है। आत्मा शाश्वत है ऐसा समझकर शरीर की साधना करने के बजाय आत्मा की साधना करनी।

दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए जब यह जीवात्मा गर्भ में आता है तब गर्भव्युत्क्रान्त जीव पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्शवाला होता है।

जैन शासन की यथार्थवदिता है कि वस्तुस्थिति जिस प्रकार है उसकों वैसे ही प्ररूपना। सर्वथा एकान्तवाद से या क्षणिकवाद से एक भी पदार्थ का निर्णय सत्य स्वरूप से हो सके वैसा नहीं है और अन्त में कर्मों के कारण जीवात्मा भवभ्रमण करता है।

॥ शतक १२ का पांचवां उद्देशक पूर्ण ॥

शतक १२ : उद्देशक–६

राहू की वक्तव्यता :

इस उद्देशे में राहुदेव संबंधी प्रश्नोत्तर है। बाहुबल के स्वामी श्रेणिक राजा से शासित, बुद्धिनिधान अभयकुमार द्वारा सुरक्षित, शालीभद्र जैसे श्रेष्ठियों से दीप्त तथा दया के सागर, पतितपावन भगवान महावीर स्वामी से उपदिष्ट "जैनत्व" के रंग से रंगी हुई राजगृही नगरी में मानवमात्र को जैनत्व प्राप्त कराने की उत्कट भावनावाले और पूर्वग्रह से ग्रसित मतिकी कुवासना में से सबको सम्यक्ज्ञान का प्रकाश दिखाने की तमन्नावाले गौतमस्वामी ने भगवंत से पूछा कि, ,हे प्रभो। नरकादि गतिओं को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं की मति और

श्रुत के अज्ञानी होने से कुशास्त्रो के चक्र में आकर पूर्वग्रह से इतने ग्रसित होते हैं कि एकदम सरल बातों को भी सत्य स्वरुप में समझने के लिए आदर नहीं रख सकते। क्वचित रखते हो तो भी पूर्वग्रह के भूत से छुटकारा नहीं पा सकते इसीलिए अज्ञानी जीव कर्म को बांधते है और भवांतर को बढ़ाते हैं अज्ञान के नशे में वे बारबार बोलते हैं कि - 'राहु चन्द्र का ग्रास करता है, राहु चन्द्र का ग्रास करता है।' तो इस विषय में सत्य क्या है ? जवाब में नरदेव, द्रव्यदेव और भावदेव से पूजे हुए देवाधिदेव ने कहा कि, "हे गौतम ! वे जो इस प्रकार कहते हैं कि "राहु चंद्र को ग्रसता है" वह प्रामाणिक कथन नहीं है यानि की उनका मानना और कहना रत्तीमात्र भी सच्चा नहीं है। क्योंकि जहां ग्रासक (दूसरों को खा जानेवाला) और ग्रास्य (दूसरे द्वारा खाया जानेवाला) भाव हो वहां तो उन बातों की संभावना हो सकती है परंतु राहु और चंद्र के विमानों में ग्रास्य ग्रासक भाव नहीं है। परंतु आछाद्य, आछादक भाव ही संभवित है।

सूर्य चंद्र का ग्रहण क्या है ?

इस विषय में मैं इस प्रकार कहता हूं, प्रतिपादन करता हूँ, प्रज्ञापित करता हूँ, प्ररूपित करता हूं कि, 'राहु' यह देव है जो महाऋद्धि महाद्युति, महाबल, महायश और महासुख का मालिक है। जो उत्तमोत्तम वस्त्र, माला, चंदन आदि सुंगंधिक पदार्थों को तथा श्रेष्ठ आभरणों को धारण करनेवाला है। उसके नव नाम है : श्रृंगारक, जटिलिक, स्तंभ, खरक, दर्दुर, मकर, मत्स्य, कछप और कृष्णसर्प तथा पांच वर्ण के विमान हैं।

१. कृष्णविमान–जो अंजन यानि काजल या मेश के रंग का है।

२. नील विमान – हरी तुंबडी के रंग का।

३. लाल विमान – मजीठ जैसे कान्तिवाला।

४. पीत विमान – हलदी के रंग जैसा।

५. शुकल विमान – राखके जैसा रंगवाला।

अब जब राहुदेव अपने कृष्ण विमान में बेठकर तेजी से जाते हैं और वापिस आते में, विक्रिया और कामक्रीडा करते में अस्वाभाविक अतित्वरायुत गति होती है। यानि की उस समय विसंस्थूल चेष्टा का मालिक होने से अपने विमान को बराबर चला नहीं सकता है। उस कारण से पूर्व दिशा में रही हुई चंद्र की रोशनी की आच्छादित करता वह राहू पश्चिम में रहे चंद्र की कला को आवृत्त करता है, तब वह चंद्र की अपेक्षा से पूर्व में होता है। इसी प्रकार उत्तर और दक्षिण दिशा के दो आलाप को समझना यानि उत्तर दिशा में रहे चंद्र को अस्वाभाविक गति से जाता राहु जब आवृत्त करता है तब राहु दक्षिण में दिखता है और दक्षिण में स्थित चंद्रकी कला को आवृत्त करता है तब राहु उत्तर में दिखता है। इस प्रकार ईशान, नैऋत्य अग्नि और वायव्य कोण के लिए उपर मुजब समझना अब सूत्रकार सुधर्मास्वामीजी खुद ही कहते हैं कि जब आता हुआ, या जाता हुआ। विक्रिया या कामक्रीडा करता हुआ, राहु बारबार चंद्र की लेश्या-रोशनी को आच्छादित करता है तब मनुष्यलोक के अज्ञान जीव कहते हैं कि, "राहुने चंद्रमा को खा लिया है।" परंतु यह तो भ्रम ही है। सच बात तो यह है कि उस समय में राहुने चंद्र को आच्छादित किया होता है और जब राहु चंद्र के पास होकर जाता है तब लोग कहते हैं कि राहु ने चंद्र को अपनी कुक्षि में ले लिया है और जब चंद्र से राहु आगे निकल जाता है तब 'चन्द्र से राहु मुक्त हुआ' एसा लोग कहते हैं परंतु यह सब भ्रान्तिवचन है।

भगवंतने कहा कि, 'एक ध्रुव राहु और दूसरा पर्व राहु' इस प्रकार राहु दो प्रकार से हैं।

ध्रुवराहु – जो कृष्ण विमान में बैठकर चन्द्र के साथ ही रहता है। यानि की उससे चार ऊँगली नीचे रहकर संचरण करता है वह।

पर्वराहु – जो अमावास्या और पूर्णिमा में चंद्र के साथ उपारग संबंध करता है। ध्रुवराहु कृष्णपक्ष की प्रतिपदा (एकम) से लेकर अमावास्या तक चंद्र के भाग की यानि कि आकाश में दिखते हुए चंद्र विमान के पन्द्रहवें भाग को अच्छादित करता रहता है। इतना खास जानने का कि उपर आकाश के भाग में जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा या ग्रह दिखते हैं वह देव नहीं है परंतु उनके विमान है, जो चल है। यानि की उनके कर्मो की विचित्रता ही ऐसी है कि उनके विमान आंख के पलकारे जितने समय में भी स्थिर नहीं रहते हैं। उनकी स्थिति भी ऐसी होती है कि चंद्र और राहु के विमान पास पास ही संचरण करते हैं। और ऐसी स्थिति में एक दूसरे की छाया एक दूसरे पर गिरे उसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि सामनेवाने ने सामनेवाले को खा लिया या कुक्षी में ले लिया मनुष्यलोक में भी हम प्रत्यक्ष अनुभव करते है कि गांधीमार्ग पर रही हुई किसी सोसायटी में त्रिवेदी चतुर्वेदी या महापंडित भी रहता है और उसी सोसायटी में हरिजन भी रहता है। साथसाथ दोनों के कर्मानुसार दोनों को एक ही समय में घर से निकलकर अरविंद मिल में जाने का होने से पूरे मार्ग उपर नात, जात, ज्ञान–विवेक आदि के किसी भी संबंध के बिना वे दोनों पैदल चलते या बस में भी साथ ही जाते है और आते है। बीच में किसी भी समय एक साथ ही दोनी की गती शीघ्र होती है या मंद हो जाती है। उसमें कारण इतना ही है कि उन दोनों के अदृष्ट कर्म एक आफिस (फर्म) से रोटी कमाने के है और खाने के है। फिर भी त्रिवेदी त्रिवेदी है और हरिजन हरिजन है। ऐसा भी नही बनेगा कि त्रिवेदी हरिजन हो जाय

या हरिजन त्रिवेदी हो जाय। इसी प्रकार चंद्र और राहु के पुण्य कर्म अलग अलग, आयुष्य मर्यादा अलग अलग तथा गये भव की यह गति या आनेवाले भव की गति भी अलग अलग हो सकती है। इसीलिए चंद्र या सूर्य जैसे इन्द्र को खा जानेवाली शक्ति बिचारे राहु में कैसे आ सकेगी? इस प्रकार एक के बाद एक कला को आच्छादित कर लेता है वैसे ही शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के हटते हटते पूर्णिमा के दिन राहु के आच्छादन से चन्द्र मुक्त होता है, इसीलिए वह ध्रुव राहू है। जब पर्व राहु जघन्य से छंह: महिने सूर्य और चंद्र को आच्छादित करता है और ज्यादा से ज्यादा ३॥ वर्ष तक आच्छादित करता है।

चन्द्र को सुश्री क्यों कहा जाता है?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, "ज्योतिषी देवों के इन्द्र" और राजा ऐसे चन्द्रमा अपने मृगांक विमान में बहुत ही कान्तिवाले देवों, देवीयों और बहुत ही शोभायमान आसन, शयन, स्तंभ पात्र आदि से दीप्त तथा खुद भी सौम्याकार, मनोहर, सौभाग्यसम्पन्न और प्रियदर्शन होने से बहुत सुंदर है। उस कारण से हे गौतम! चंद्र को सुश्री कहा जाता है।

सूर्य को आदित्य कहने का क्या कारण?

भगवंत ने कहा कि, 'समय, मुहूर्त, यावत् उत्सर्पिणी आदि काल-व्यवहार का प्रवर्तक सूर्य है यानि हाल कौन सा वर्ष है? कौनसा मास है? यावत् दिन, घड़ी, पल, विपल-इत्यादि भूत, भविष्य और वर्तमानकाल की प्रवृत्ति सूर्य के आभारी होने से आदित्य कहा जाता है?

ग्रहण की अशुभता किस कारण से है?

यद्यपि ग्रहण जैसी वस्तु जैन शासन को मान्य नहीं है इसलिए उस संबंधी किया जानेवाला व्यवहार सम्य दृष्ट नहीं है परंतु मिथ्यादृष्ट

ही है, फिर भी व्यवहारमार्ग का लोप समाज को और धर्म को हानिकर्ता हो सकता है। इसलिए जिस गांव में तुम रहते हो तब उस गांव में उस व्यवहार को मान्य करके भी इस प्रकार के वर्तन में नुकसान नहीं है। अन्यथा मिथ्यात्वीओं का अपमान और जैन शासन की निंदा होने के प्रसंग बहुत बार उपस्थित होते हैं। धार्मिक जीवन भी वैसा नहीं होना चाहिए जिससे जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर विसंवादिता और समाज में वैर-विरोध पैदा हो।

ज्योतिष की दृष्टि से ग्रहण :

आकाश में असंख्य ताराओं में से जो ज्यादा प्रकाशित है वे नक्षत्र नामक तारे हैं, जिनकी संख्या २७ की है और उनकी बारह राशि बनी है यानि सवा दो नक्षत्र की एक राशि है।

कोई भी क्षेत्र में मनुष्य जब पैदा होता है उस समय आकाश में जो नक्षत्र और राशि उदित हो उसके अनुसार जातक (जन्म लेनेवाला) का नाम रखने में आता है।

प्रतिदिन एक एक नक्षत्र को भुगतता चंद्र २७ दिन में बारह राशि ऊपर का अपना भ्रमण खत्म करता है। जातक की जन्म-पत्रिका में जिस राशि पर चंद्र हो या नाम के आदि अक्षर की जो राशि होती है वह राशि उस जातक की कहलाती है। उस राशि से पहली, तीसरी, छट्ठी, सातवीं, दसवीं और ग्यारहवीं राशि पर और शुक्ल पक्ष में उससे ज्यादा दूसरी पांचवीं, तथा नववी राशि पर चंद्र होता है तब जातक का मन शांत, स्थिर और प्रसन्न होता है। उसको अलग-अलग जात के फायदे का लाभ मिलता रहता है और चौथी, आठवीं, बारहवीं राशि पर चंद्र होता है तब धन की कमी, चोर का भय, अग्नि का उपद्रव, मन में क्लेश, शरीर में बिमारी आदि होते रहते हैं।

संक्रान्ति परत्वे ग्रहण फल :

ग्रहण के समय में राहुदेव जिस राशि में हो वह राशि जातक की राशि से ३-४-८-११ हो तो अच्छा है। तथा ५-९-१०-१२ जो हो मध्यम, और ६-७-१ राशि में ग्रहण हो तो अशुभ फल है। ऐसे समय नेमिनाथ परमात्मा का ध्यान करना, पूजन करना श्रेयस्कर है।

सूर्य बहुते करके तीस दिनों में राशि बदलता है उसको संक्राति कहते हैं। उस समय में जातक को अपनी राशि से ४-८-१२ सूर्य होने पर वह संक्रांति उस जातक के लिए अच्छी नहीं हैं और ३-६-१०-११ में सूर्य आये तब जातक को अलग अलग तरह के लाभ होते रहते हैं।

ताराबल :

अशुभ गोचर में संक्रान्ति हो फिर भी जातक को चंद्र, तारा या चन्द्र की शुभ अवस्था होगी तो अशुभ संक्रान्ति भी शुभ बनती है। कृष्ण पक्ष की दशम के बाद चन्द्र का बल समाप्त होता है। तब ऊंगली पर राशि गिनने में क्या फायदा? इसलिए उस समय ताराबल ज्यादा उपयुक्त है। अपने जन्म या नाम के नक्षत्र से उसकी गिनती होती है। जैसे कि किसी के जन्म का या नाम का नक्षत्र 'हस्त' हो तब साथ के कोष्ठक मुजब गिनती करनी।

इस प्रकार हस्त नक्षत्र के मालिक को तीसरी स्वाति, शतभिषा, आर्द्रा। सातमी मूल अश्विनी और मघा। पांचवी अनुराधा, उत्तर भाद्रपदा और पुष्य। यह तीनों ताराओं के नव ही नक्षत्र खराब है। वदी १० से सुदि १ तक के दिनों में चंद्रबल जब कमजोर होता है तब हस्त नक्षत्रावाला यदि पूष्य, मूल, शतभिषा आदि नक्षत्र देखकर कूदने को जाय सफल कहां से होगा? सुदि २ के दिन जब चंद्रोदय हो उस के बाद ताराबल उपर नजर डालने की भी जरूर नहीं है।

ताराबल का कोष्ठक

	१	२	३	४	५	६	७	८	९
जन्मतारा	हस्त	चित्रा	स्वाति	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा	मूल	पू० षाढा	उ०षाढा
कर्मतारा	श्रवण	धनिष्ठा	शत०	पू० भा	उ०भा	रेवती	अश्वि०	भरणी	कृतिका
आधान-तारा	रोहिणी	मृग	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	अश्ले०	मघा	पू० फा०	उ० फा०
तारानाम	जन्म	संपत	विपत	क्षमा	यमा	साधना	निधना	मैत्री	परम मैत्री
फल	मध्यम	मध्यम	खराब	सर्वश्रेष्ठ	खराब	सर्वश्रेष्ठ	खराब	मध्यम	सर्वश्रेष्ठ

चंद्रबल :

मानवजीवन में चंद्र को मन के स्थानपर गिना गया है, व्यवहार में भी हम कहते हैं कि जिस भाग्यशाली का मन प्रसन्न और सशक्त हो उसको देव भी क्या कर सकते हैं ? उसी प्रकार प्रत्येक कार्य में चंद्रबल देखने का आग्रह जरूर रखना। फिर भी कार्य करने का हो तो उसकी अवस्था देखकर समय का निर्णय करना चाहिए। अहोरात्र में चंद्र की बारह अवस्था होती है वह इस प्रकार प्रोषिता, हूता, मृता, जया, हासा, हर्षा, रति, निद्रा, भुक्ति, जरा, भया और सुखिता। इसमें से प्रोषिता, हूता, मृता, निद्रा, जरा और भया यह छः अवस्था में रहा हुआ चंद्र ज्यादा अशुभ बनता है। इसीलिए शुभ चन्द्रकी भी यह छः अवस्था कालजीपूर्वक छोड़ देनी। जब दूसरी अवस्था शुभ फल देनेवाली होनेसे अशुभ चन्द्र में भी वे स्वीकार्य है।

चन्द्र एक राशि पर १३५ घड़ी, यानि ५४ कलाक रहता है, उसका द्वादशांश (बारहवां भाग) ११ घड़ी और १५ पल का यानि ४ कलाक और ३० मिनिट का है। जिस दिन चन्द्रावस्था देखने की होती है, तब पंचांग में उस दिवस की जो राशि हो उस पर चन्द्र कब आया और कब कब समाप्त होता है। उन कलाक मिनिटों के १२ से भागने में जो काल आये वह द्वादशांश कहलायेगा। उसके बाद उसका भुक्त समय का निर्णय करके भोग्य समय में जो अवस्था लेनी हो उसका स्वीकार करना।

मेष राशि पर चन्द्र हो तब 'प्रोषिता' अवस्था से बारह अवस्था क्रमशः जाननी। वृषभ राशि पर चन्द्र हो तब 'हूता' को प्रारंभ में लेना और क्रम से गिनते बारहवी अवस्था 'प्रोषिता' आयेगी। यावत् मीन पर चन्द्र हो तो पहली 'सुखिता' अवस्था और बारहवीं भया आयेगी।

इस प्रकार चन्द्र शुभावस्था में हो तब अशुभ सूर्य भी शुभ फलदायी बनेगा। यात्रादि शुभ कार्यों में अवस्था की देखने के लिए आग्रह रखना।

गोचर, जन्म या प्रश्नपत्रिका में दोनों तरफ पाप ग्रह के बीच में चन्द्र हो तो मनुष्य का मन कमजोर, हताश होने से हानिप्रद रहता है।

उसके बाद सूर्य और चन्द्र के कामभोगों का वर्णन है वह मूल सूत्र से जानना।

॥ शतक १२ का छठवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक १२ वां : उद्देशक ७

लोकविस्तार के लिए वक्तव्य :

अनंत मातापिता, भाईभाभी आदि परिवार से भी ज्यादा उपकारी पूज्य दीक्षागुरू, विद्यागुरू, तथा धर्मगुरूदेवों को नमस्कार करके इस उद्देश का प्रारंभ करता हूं।

उदय में वर्तते पौद्गलिक भोग तथा उपभोग का त्याग करके श्रामण्य धर्म को स्वीकार करनेवाले और सतीत्व धर्म की चरम सीमा को

प्राप्त हुई ३६ हजार साध्वीजी के चरणकमल से पवित्र हुई राजगृही नगरी में भगवंत महावीरस्वामी पधारे और देवरचित, समवसरण में बिराजमान होकर धर्मोपदेश देते प्रभुने फरमाया कि :—

हे भाग्यशालीओं ! इस संसार को तथा उसकी माया को तुम बराबर समझो और समझकर उसका त्याग करो।' उपदेश सुनकर पर्षदा प्रसन्न हुई। उसके बाद गौतमस्वामी ने प्रभु से पूछा कि, 'हे प्रभो ! यह लोक कितना विशाल है ?'

लोक की विस्तृतता :

जबाब में भगवंतने कहा कि, 'हे गौतम ! यह लोक पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उर्ध्व और अधो ६ दिशा में असंख्यात कोटी कोटी योजन प्रमाण विशाल है और विस्तृत (लंबा–जाड़ा) है। एक कोटि (१०० लाख) को एक कोटि की संख्या से गुणते जो संख्या आये वह कोटाकोटी जाननी। यानि की पूर्व दिशा तरफ यह लोक असंख्यात कोटीकोटी है। इसी प्रकार छः ही दिशा में पृथक् असंख्यात कोटाकोटी जाननी। इसी कारण से ही लोक को अतिगहन, अगाध, अपार, अगम्य, अनादि, शाश्वत और अनुत्पन्न आदि सार्थक विशेषण देने में आये हैं और जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल नाम से छः द्रव्य भी शाश्वते हैं। संसारभर के या दर्शनशास्त्र के मान्य जो तत्व हैं सब इन द्रव्यों में समाविष्ट हो जाते हैं।

मूल में तो जीव और अजीव का मिश्रण ही संसार है। सिद्धशिला में विराजमान सिद्धात्माओं को छोड़कर कोई भी जीवात्मा अजीव–पुद्गल बिनाका एकाकी नहीं है और अजीव (पुद्गलों) को छोड़कर जीवात्मा को पैदा होने के लिए दूसरा एक भी साधन नहीं है। इसीलिए जीव और अजीव का मिश्रण यह संसार। ईश्वरादि की शक्ति से आत्मा सम्पाद्य नहीं है परंतु सर्वतंत्र स्वतंत्र है।

प्रश्न —'हे प्रभो ! उपर मुजब के अति विस्तृत इस लोक में एक एक पुद्गल परमाणु जितनी भी जगह है ? जहां यह जीवात्मा पैदा न हुआ हो या न मरा हो ?

जवाब में भगवंतने कहा कि : 'हे गौतम ! तेरा प्रश्न समर्थ नहीं है। अर्थात् ऐसा कोई काल में संभवित नहीं है।' 'क्यों ऐसा संभवित नहीं है ?' इसके जवाब में कहा गया है कि, 'इतने बड़े लोक में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहां जीवात्मा न पैदा हुआ हो या न मरा हुआ हो' इसी बात का उदाहरण से समझाते हुए प्रभुने कहा कि, 'कोई एक आदमी १०० बकरे और बकरियां आराम से समा जा सके, वैसा एक विशाल बाड़ा बनाता है। उसमें जघन्य से दो, तीन और ज्यादा से ज्यादा हजार बकरे-बकरियों को उसमें बंद कर देता है माना कि उसमें सौ बकरीयें आराम से रह सके, चल फिर सके उतना ही हैं, फिर भी हजार की संख्या में बकरीओं को रखने का ऐसा आशय हैं कि वहां एक इंच जितनी जगह भी खाली न रह सके। ऐसे वाडे में वहाँ कोई बकरा या बकरी भूखा-प्यासा न रह सके उतने प्रमाण में घांस-पानी भी रखा जाय। इस प्रकार छह महिने तक उनको वहां रखने में आता है। इस बातसे सूत्रकार ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि सौ बकरीओं के बदले हजार बकरीयें उस बरामदे में इच्छा मुजब घास खायेगी, पानी पीयेगी, जिससे वह बरामदे का एक भी प्रदेश उनके मूत्र, लेंडियां, कफ, नाक में से निकलता प्रवाही पदार्थ, परू, वीर्य, लहू, रुवाटी, शींगडे या उनके नाखून से उसका एक भी प्रदेश खाली नहीं रह सकेगा। फिर भी कल्पना कर लो कि कोई प्रदेश उनसे खाली रह गया हो तो भी लोक की शाश्वत स्थिति, संसार के अनादिभाव, जीव का नित्यभाव, कर्मों की अधिकता और जन्म-मरण की बहुलता आदि की अपेक्षा से विचार करते हैं तब अतिशय विशाल इस लोक का एक पुद्गल परमाणु जितना भी प्रदेश वैसा नहीं है जहां जीवात्मा पैदा न हुआ हो या मरा हुआ न हो।

(१) लोक की शाश्वत स्थिति :

क्वचित् कोई कहे, 'लोक जैसा पहले कुछ था ही नहीं।' परन्तु ब्रह्माजी ने जब जिसकी आवश्यकता हुई तब संसार के भावों को पैदा किया है। ब्रह्माजी का रखा हुआ एक अंडा बहुत सालों तक पड़ा रहा फिर वह फूटा जिसके एक भाग में से पुरुष और दूसरे भाग में से स्त्री का उत्पादन हुआ और दोनों के संयोग होते ही मानवसृष्टि तैयार हुई और इस प्रकार पूरा संसार रचा गया, परन्तु ब्रह्मा से उत्पादित इस सृष्टि को खुद संभालने के लिये अशक्त रहे तब विष्णु ने इसका रक्षण, भरण तथा पोषण की जवाबदारी अपने सिर पर ली और बहुत कारण जमा हुए तब शंकरजी ने संसार का संहार किया। इस कारण से लोक का उत्पादक ब्रह्मा है।" परन्तु इन सब बातों में केवली भगवंत कहते हैं कि, 'लोक किसी से भी उत्पादित न होने के कारण शाश्वत है, तब ही तो लोकाकाश के प्रतिप्रदेश में अनादिकाल से जीवों की विविध प्रकार की गति-आगति तथा जन्म-मरण सत्यार्थ बन सकेगा।

(२) लोक की अनादिता :

जिसकी आदि हो उसका ही अन्त होता है। इस न्याय से ब्रह्मा ने यदि संसार का सर्जन किया हो, वैसा मानने में आवे तो अंत समय में ब्रह्मांड के अनंतानंत जीव क्या अजीवरूप में परिणमित होंगे? अजीव होकर भी वे कहां जायेंगे? पृथ्वी पर रहे हुए असंख्यात पर्वत, नदी, महानदीयां, पत्थरों, झाड, कूएं, तालाब, कुत्ते, भूंड़, कौएं, नारक, देव समुद्रों, खाडीयां आदि अनंत पदार्थों का भगवान के पेट में कैसे समावेश होगा? अनंतानंत जीवों का संहार करके भी भगवान कौनसा फायदा प्राप्त करेगे? तथा एकदम मूर्ख मनुष्य भी अपने पुत्र या दत्तक पुत्र को मारता नहीं है तो फिर शंकर के हाथ से होते संहार को उदासीन भाव से

देखनेवाले विष्णु की दया कहां रहेगी ? इत्यादिक प्रश्नों के जवाब किसी के पास नहीं है।

इसीलिए संसार भर के देवों, देवेन्द्रों, ब्रम्हदेवों, असुरेन्द्रों द्वारा पूजित है। पादपीठ जिसकी, अहिंसा संयम और तपोधर्म से जीवमात्र के अनंत सुखों के रक्षक, सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्ग के प्रतिपादक, मिथ्याज्ञान, अविरति आदि पापकर्मों के संहारक, पुरूषोत्तम, पुरूषसिंहादि सार्थक विशेषणों से विशेषित भगवान महावीर स्वामी ने कहा, हे गौतम ! यह संसार (लोक) अनादिकाल से शाश्वत होने से उसके प्रत्येक प्रदेश में जीवों की गति आगति तथा जन्म मरणकी परंपरा जो सब जीवों के लिए अनुभवगम्य है वह अबाधित बनती रहेगी।

(३) जीवों का नित्यभाव :

दीपक की ज्योति के माफिक जीवों को जो क्षणिक या नाशवंत मानने आये तो उन जीवों के शेष रहे हुए कलेवर (मृत-शरीर) लोक के प्रत्येक प्रदेश में किस प्रकार रहेंगे ! उनको स्थिर कौन रखेगा।

जलकाय के जीव ही नहीं होंगे तो नदी, नाले और समुन्दर की क्या दशा होगी ? समुन्दर में शेषनाग की शय्या पर चार महिनों से विश्राम लेनेवाले विष्णु को सोने का स्थान कहां रहेगा ?

वनस्पतिकाय के जीव ही अविद्यमान होंगे तो संसारभर के नीम आम, रायण, बबुल, बड़, पीपल आदि झाड़ जमीन में कैसे खड़े रहेंगे उनको खड़े रखने लिए थंबे का टेका देनेवाला भी कहां से मिलेगा ?

हाथी, घोड़े, कुत्ते, कौअे तथा मनुष्य आदि के जीवों का अनित्य भाव स्वीकारते, उनके शेष रहे हुए के मुर्दे कौन से स्थान पर रखने में आयेगें ? परंतु संसार में ऐसा कभी बना नहीं है। बनता नहीं है और

बनेगा भी नहीं। इसीलिए जीव को शाश्वत मानने का युक्तियुक्त है। वितंडावाद, तर्कवाद या अनुमानादि विवादोंसे संसार का सत्य स्वरूप जान सकेंगे वैसा नहीं है, इसीलिए अरिहंतों का शासन अजोड़ होने से सबको मान्य है, क्योंकि उनका शासन ही 'देवदाणवनरिंद गणच्चिअस्स.....

जीव में नित्यत्व भी स्वाभाविक रहा हुआ होने से जीवात्मा का स्थानान्तर, रूपान्तर या अवस्थान्तर शक्य बनता है। एकांत अनित्य मानने में उसकी सिद्धि बनती नहीं है।

(४) कर्मों की बहुलता :

जीवों की नित्यता मानने के बाद उन जीवों में कर्मों की बहुलता न माने तो संसार की चारों गतिओं में परिभ्रमण की संभावना हो सके वैसा नहीं है और परिभ्रमण तो है ही। तब ही तो आज के विद्यमान संसारी जीव के सिर के उपर अनंत भूतकाल व्यतीत हुआ है और जातिभव्य या अभव्य जीव के माथे पर अनंत भविष्यकाल रहा हुआ है। ऐसी स्थिति में कर्मों की अल्पता ही मानने में आये तो लाख-करोड़-संख्य या असंख्य भवों की हेराफेरी संगति हो सके नहीं। इसीलिए सिद्धात्माओं को छोड़कर दूसरे अनंतानंत जीव कर्मों की बहुलतावाले हैं और रहेंगे।

(५) जन्मादि की बहुलता :

कर्मों की बहुलता मानने के बाद जन्मादि की बहुलता भी माने बिना चल सकता नहीं है। अन्यथा सत्युग में पैदा होकर किये हुए कर्मों के अनुसार से कलियुग में असातादिक दुःख किस तरह भुगतेंगे? दूसरों के पैर में घुसेड़ा हुआ कांटा ९० भव के बाद बुद्धदेव के पैर में किस प्रकार घुसा। ऋषभदेवजी के शासन में बांधा हुआ नीच गोत्रीय कर्म

महावीरस्वामी के कितने ही करोड़ों सागरोपमके बाद उदय में किस प्रकार से आया ? इसीलिए कर्मों की बहुलता जैसे स्वीकार्य है वैसे जन्मादि की बहुलता को भी मानने की रही।

यह सब चर्चा का फलितार्थ यही है कि अनादिकाल से परिभ्रमण करते जीव ने कोई भी जाति, स्थान, कुल, योनि आदि शेष रखे नहीं है और 'प्ले ग्राऊन्ड' के फूटबाल की माफिक अपनी आत्मा कहीं भी रूके बिना घूमती हुई प्रति समय लेफ्टराइट कर रही है।

प्रत्येक योनि में जीवों की अनंतवार हेराफेरी :

जिज्ञासु गौतमस्वाजी को संबोधन करते भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, 'हे गौतम ! रत्नप्रभा नामके प्रथम नरक के ३० लाख नरकावासों में अपना जीव या जीवात्माओं तत्रस्थ नारक के माफिक पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय रूप से अनेकबार या अनंतोंबार पैदा हो चुके हैं। अनेक का मतलब दो से लेकर असंख्यातवार तक और अनंत यानि जो संख्यारूप में न गिन सके वह। सार यह है कि यह जीव पहली भूमि में पृथ्वीकायादि रूप से अनेक या अनंतबार पैदा हुआ है और मरा हुआ है।

दूसरी पृथ्वी से यावत् सातवीं तक और देवलोक में ईशान देवलोक तक अनेक या अनंतबार पैदा हुआ है, मरा हुआ है। जब तीसरे देवलोक से नव ग्रैवेयक तक में केवल देवीरूप को छोड़कर बाकी के सब रुप में अनेक अथवा अनंतबार पैदा हुआ है और पांच अनुत्तर में देवीरुप से एकबार भी और देवरुप से अनंतबार पैदा नहीं हुआ है क्योंकि विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित में जन्मा हुआ जीवात्मा दो भव करके मोक्ष में जाता है और स्वार्थसिद्ध में एक भव करके मोक्ष में जाता

है। इसीलिए पहले के चार में दो बार और अंत में एक ही बार पैदा हुआ है। शेष सर्वत्र असंख्यात या अनंत की गणत्री समझनी।

नरकावासों की संख्या :

रत्नप्रभा नरक में	३० लाख आवास
शर्कराप्रभा में	२५ लाख आवास
वालुकाप्रभा में	१५ लाख आवास
पंकप्रभा में	१० लाख आवास
धूमप्रभा में	३ लाख आवास
तमःप्रभा में	९९९९ आवास

तमस्तमप्रभा में केवल पांच आवास

असुरकुमार में	६४ लाख आवास

बाकी के आवास 'सकलतीर्थ' सूत्रानुसार जान लेने।

वासना त्याज्य क्यों !

इन सूत्रों का फलितार्थ यह है कि देवलोक में यह जीवात्मा अनंतबार पैदा हुआ है और सामान्यरुप से देवों का आयुष्य सागरोपम या बहुत सागरोपमों का होता है। देवीओं का आयुष्य पल्योपम या उससे ज्यादा होता है, इसीलिए देवलोक के एक ही अवतार में इस जीवात्माने एक भव तक संख्यात या असंख्यात देवीओं के साथ भोगविलास मनाया है, गुलाबजल या अत्तर से भरी हुई हौज में स्नान भी किया है। क्योंकि असंख्यात या अगणित वर्षोंका पल्योपम होता है और दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है यानि की एक करोड़ पल्योपमको एक करोड पल्योपम के साथ गुनते एक कोड़ाकोड़ी होती है

ऐसे दस कोड़ाकोड़ी समझना। देवलोक के एक ही अवतार की देवियां गिन नहीं सकते तो फिर देवलोक के अनंत भवों में देवियों के साथ का भोगविलास कौन माप सकेगा? इसी प्रकार नरकावासों में तीनो प्रकार की वेदना भी अनंतीबार और अनंतप्रकार से भुगती है। वनस्पति में यह जीव अनंतीबार छेदाया भेदाया, काटा गया, उबाला गया और छिलाया गया है। विकलेन्द्रियों में दूसरे प्रकार से कुचल के या दूसरे के पैर के नीचे भी घीसा के अनंतीबार बिना मौत से मरा है। तो फिर एक भव के अत्यल्प सुख या दुःख तथा भोग-विलास के लिए खुश या नाराज होना बेकार है। आर्त्तध्यान करना सर्वथा बेकार है।

थोड़ी विचारधारा को तेज करे और एकांत में बैठकर आत्मा को समझाये कि हे जीवात्मन्! तूने खुद ही हीरे की चूड़ियों जैसी चमकदार, मोती के पानी जैसी देदीप्यमान, परवाले जैसे होंठ, नाखून और पैर के तलोवाली, कपूर की टिकिया जैसी उजली, गुलाब के अत्तर जैसी सुगंध से भरी हुई, मल-मूत्र, विष्टा, चरबी, पित्त-कफ-खून आदि की दुर्गंध से सर्वथा रहित, मक्खन के पिंड जैसी मुलायम शरीरवाली, कमल के पत्ते जैसी विशाल आंखोंवाली, लवींग जैसी पतली कमरवाली–शरीर के अंगोपांग में कोई भी जात की क्षति बिना की वैसे ही भोग्य अंगों में रत्ती मात्र भी फर्क न हो वैसी, हृदय के अटूट रागवाली, आयुष्यपर्यन्त चरणसेवा करनेवाली, एक नहीं परंतु असंख्य-अनंत देवियों के साथ शय्याओं में स्वैच्छिक, रोकटीक बिना के भोगविलास तूने मना लिये हैं। जब मनुष्य स्त्री के साथ भोगविलास अत्यन्त वीभत्स, दुर्गंधमय, अदर्शनीय और आंख के पलकारे में समाप्त होनेवाले हैं। उसमें तुझे अरिहंतों के धर्म को तिलांजलि देकर, साथ-साथ सत्कर्मो को बर्बाद करके अगले भव के लिए पुण्यकर्मो का दिवाला निकालकर आशक्ति धारण करने जैसा क्या है? सागरोपमों या पल्योपमों या ८४ लाख पूर्व के आयुष्य के भोगविलास भी अमर न रहे तो फिर केवल २५-३० वर्ष के भोगविलास तेरी आत्मा को

संतोष कैसे दे सकेंगे ? कैसे समाधी दिलायेंगे ? मानसिक प्रसन्नता या लूटी गई हुई शक्तियों को फिर कौन दिलायेगा ? निस्तेज बना हुआ तेरा चेहरा वापस चमकदार कैसे बनेगा ? हजारों मन घी-दूध खाने के बाद भी तेरी भोक्तृत्व शक्ति कैसे बढ़ेगी ? सालमपाक, खोपरापाक या बादामपाक आदि द्रव्य तेरे रूपरंग को यथास्थिति कर सकेंगे ? यह सब प्रश्नों के जवाब 'ना' में हो तो फिर तुझे क्या करना चाहिए उसका विचार पंचमहाव्रतधारियों के पास बैठकर कर लेना, विलंब नहीं करना, क्योंकि विषयवासना के भोग विलासों में खोया हुआ मानव-जीवन बाद में कब मिलेगा वह केवली भगवंत जाने।

इस प्रकार मनुष्य तथा जानवर योनि में अनंतभवों तक भुगते हुए भोगविलासों के बाद राधावेध के समान प्राप्त किया मनुष्य अवतार, जानवरों की माफिक, विवेक मर्यादा बिना के भोगविलासों में पूर्ण करने से तेरे आत्मा की दशा कैसी होगी ? इसका निर्णय मुनिभगवंतों के पास से कर लेना।

देवों के भोगविलासों का फल क्या ?

यद्यपि मनुष्यों के भोगविलास से देवयोनि के भोगविलास अच्छे है ऐसा मान ले तो भी चोर के हाथ में पड़ी हुई सुवर्ण की बेड़ी जैसी देवों के अवतारों में आत्मा का कल्याण कैसे होगा ? समझ लेना चाहिए कि अपनी आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है। जब इसके प्रतिप्रदेश में रही हुई कर्मसत्ता सर्वथा जड़ है। जो बिजली की चमकार जैसी, कपटी मनुष्य के ध्यान जैसी, पीपल के पान जैसी और नदी के प्रवाह जैसी होने से जीवात्मा को मोहकर्म का शराबपान कराके दुर्गति के द्वार दिखायेंगी और खुद छुट जायेंगी। इस प्रकार विषय-वासना के पूर्ण गुलाम बने हुए देवों को भवांतर में वनस्पतिकाय में पैदा होने के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। जहां से

संख्यात, असंख्यात या अनंत तीर्थंकर परमात्माओं की चौबीसीयां पूर्ण हो फिर भी बाहर निकलने का नहीं है। इसीलिए मुनिराजों का सहवास करके यथाशक्य भोगविलासों का त्याग करना वही मानवजीवन की सफलता है।

जीवमात्र के साथ अनंत संबंध :

मानवमात्र की शंकाओं के निवारण के लिए गौतमस्वामी के पूछे हुए प्रश्नों का जवाब देते भगवान ने फरमाया कि 'हे गौतम ! अपनी आत्मा समस्त प्राणीओं के पुत्ररुप से, पितारुप से, पतिरुप से, पत्नीरुप से, जमाइ-रुप से और पुत्रीरुप से असंख्य या अनंतबार पैदा हुआ है और समस्त जीव भी अपने पुत्र, पिता, पत्नी, पति या पुत्रीरुप में भी अनंतवार पैदा हुए हैं। सारांश यह है कि अनंत संसार की अनंत माया में फंसी हुई अपनी आत्मा असंख्य या अनंत संख्या में माता, पिता, भाई, पुत्री पुत्रवधुओं या जमाईओं को अपने आत्मीय बना दिये हैं।

अब तकके अनंतानंत माताओं का पीये हुए दूध जमा करने में आवे तो उसके आगे गंगा और सिंधु नदी के प्रवाह भी एकदम पतले लगेंगे। उसी तरह अनंतानंत भवों की माया के कारण भोगी हुई मुसीबतें, वियोग, मारकाट आदि को लेकर जितने प्रमाण में हमने रुदन किया है वह पानी जो जमा करने में आवे तो गंगा और सिंधु नदी के प्रवाह से भी बढ़ जाता है।

मनुष्य को जब तक मोह और अज्ञान का नशा होता है, तब तक अपने चालू भव को ही सजाने के लिए जिंदगी पूरी कर देता है, परंतु ज्ञानी भगवंत कहते हैं कि इस भव की तेरी प्राणप्यारी पत्नी जिसके पीछे तूने पूरी जिंदगी माया की मस्ती में पूर्ण की है, वह क्वचित् गत भवों की या अगले भव की तेरी माता भी हो सकती है या होगी, और

इस भव की माता अगले भव की पत्नी भी बन सकेगी इत्यादि कारणों को लेकर अत्यंत राग या द्वेष किसी के साथ रखना नहीं, क्योंकि यह संसार तो इस भव तक ही है, और प्रायकर इस भव का एक भी मेम्बर अगले भव के लिए तेरे उपयोग में आवे ऐसा नहीं है।

भगवंत ने कहा कि, अपनी आत्मा समस्त जीवों की शत्रु, वैरी, मारक वधक या प्रत्यनीक रुपसे अथवा समस्त जीव अपने शत्रु आदि रुपसे अनेक या अनंतबार उत्पन्न हुए हैं।

पूरा संसार हमको ज्ञान प्राप्त कराने के लिए खोले हुए पुस्तक के माफिक प्रत्यक्ष है। कुत्ते, बिल्लीयाँ, सांड, पाडे, वाघ, चूहे, सर्प, मंगूस आदि के परस्पर या एक दूसरे के साथ जाति वैर है, हाडवैर है। अकेले सर्प के शत्रु कितने हैं, मोर, मुंगूस या बंदर आदि के हाथ से चीराते और बिना मौत से रीबाते मरते सर्पों को तुमने देखा है? मनुष्य अवतार में अवतरे हुए अपने शत्रुओं की परंपरा हम सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। सगे बाप के हाथ से मरता बेटा, या सगे बेटे के हाथ से मरता बाप, तथा पत्नीओं के हाथ से, रीबाते, गालियाँ खाते और अपमानित पुण्यशाली पुरुषों को तुम पहचान सकोंगे! सबसे प्रथम संसार का यही ज्ञान-विज्ञान लेने जैसा है।

इसी प्रकार यह जीवात्मा राजारुपसे, मंत्रीरुपसे, प्रजारूपसे, सेठ रुप से, नौकर रुप से भी अनंतवार पैदा हुआ है और मरा है।

इसप्रकार परम दयालु परमात्मा की वाणी श्रवण गोचर करके गौतमस्वामी बहुत ही प्रसन्न हुए और पुनः परमात्मा को भाव वंदना करते हुए अपनी साधना में सावधान हुए।

॥ शतक १२ का सातवां उद्देश पूर्ण ॥

शतक १२ वां : उद्देशक ८

दो शरीर यानि क्या ?

उस काल में और उस समय में राजगृही नाम की नगरी थी। एक दिन भगवान महावीर चतुर्विध संघ के साथ विहार करते वहां पधारे और उन्हें श्रेणिक राजा, अभयकुमार आदि वंदन करने के लिए आये। प्रभु ने उपदेश दिया। बारह पर्षदा हर्षित होकर अपने अपने घरपर गई। उससमय अलग अलग प्रश्नों द्वारा जनता को ज्ञान तथा चारित्र की प्राप्ति हो इस इरादे से गौतमस्वामी ने भगवंत से पूछा कि, हे प्रभो! "बड़ी ऋद्धिवाला, द्युतिवाला, बलिष्ठ, यशस्वी तथा महा सुखसंपन्न कोई देव अपने देवभव का, आयुष्य पूर्ण करके तथा वहां से च्यवकर दो

शरीरवाले नाग की योनि को (सर्पयोनि में) अथवा हाथी के शरीर को धारण कर सकता है ?" देवलोक में से निकलकर सर्प के अवतार में जाय और वहां से मनुष्यत्व प्राप्त करके मोक्ष में जाय उसे दो शरीर कहलाता है। जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, 'गौतम ! वह देव दो शरीरवाले नाग के अवतार में पैदा हो सकता है।

अनंत सुख का स्थान मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्यभव के सिवा दूसरा एक भी भव नहीं है। हाथी चाहे कितना भी बलवान हो या सर्प चाहे कितना भी क्रूर हो, या देवलोक का देव अपनी सब शक्तियां काम पर लगा दे तो भी उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यानि की मोक्ष प्राप्त करने के लिए पुण्य या पाप काम में नहीं आता। परंतु उन दोनों का समूल नाश करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। जबकि, सब सर्प नरक में ही जाये वैसा नहीं है। अर्थात् जंक्शन स्टेशन पर आने के लिए जैसे चार या छह बाजू के रास्ते खुले होते हैं वैसे मनुष्य अवतार भी जंक्शन है। इसीलिए चारों गतिओं के जीव मनुष्य अवतार प्राप्त कर सकते हैं।

नाग का दूसरे भव में मोक्ष :

क्वचित कोई प्रश्न करे कि, 'देव सीधा मनुष्य अवतार में क्यों नहीं आता ?' तो जवाब में ऐसा कहा गया है कि, 'जन्म लेने में किसी की शक्ति या इच्छा काम में आती नहीं है। परंतु अपने ऋणानुबंध जिन जिन स्थानों में जिन जिन जीवों के साथ चुकाने होते हैं तथा भवभवांतर में बांधे हुऐ नियाणा के वश होकर जीव को वहीं योनि स्वीकारनी पड़ती है। उसमें किसी का कुछ भी चल नहीं सकता।

मोहनीय कर्म की स्थिति लगभग ७० कोड़ाकोड़ी की होने से संभव है कि सर्पयोनि का त्याग करके मनुष्य अवतार में से मोक्ष प्राप्त

करनेवाले भाग्यशाली की आत्मा दो चार भवों में मोक्ष की योग्यतावाले कर्म क्वचित बांधे हो परंतु उसके पहले के भवों में सर्पयोनि के लिए लायकात भी निकाचित कर ली हो तो उस कारण से मोक्षगामी आत्मा भी वैसे भयंकर नाग के अवतार को प्राप्त कर सकता है। परंतु नये चिकने कर्मों को बांधने की लायकात उसकी नष्ट हो जाने से सर्प या नाग-अवतार में रहने पर भी भयंकर कर्मों को बांधे बिना सीधे मनुष्य अवतार में आता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

चराचर संसार के कर्मों को तथा जीवों की गति-आगति को प्रत्यक्ष करनेवाले अरिहंत परमात्मा कहते हैं कि, 'सर्प का और मनुष्य का शरीर यह दो शरीर कहलाता है, और वह देव इस प्रकार दो शरीरवाला होकर मोक्ष में जाता है।

हाथी या सर्प को क्यों पूजा जाता है ?

गौतमस्वामी के प्रश्न के जवाब देते भगवंत ने फरमाया कि 'मोक्ष की लायकात प्राप्त देव, नाग (सर्प या हाथी) के अवतारको पाकर दूसरों द्वारा चंदन, केसर या धूपसे पूजा जाता है।' 'हे नागराज ! हे गजराज ! ऐसे मानवाचक शब्दों से स्तुतिपात्र बनता है। उनका शरीर दूसरों द्वारा पूज्य बनता है और अच्छे वस्त्रों तथा आभूषणों से सत्कर्णीय बनता है तथा विनय-वाचक शब्दों से सन्मानित होता है। देवभवके मित्र देव उनका प्रातिहार्य अर्थात् सर्प का या हाथी का महिमा जैसे बढ़े वैसे करते हैं इसी कारणसे नागको देवरूप मानकर आज भी नागराज पूजा जाता है और हाथी की सूंड भी पूजनीय है। उनको सोनेचांदी के आभूषणों से सजाया जाता है।

तब क्या नागपूजा करनी चाहिए ?

संभव है कि आज जिस प्रकार से नाग (सर्प) की या हाथी की पूजा होती है उसमें उपर्युक्त कारण कदाच हो सके ! परंतु बहुत करके बड़े भाग में तो प्रायः सर्प नारकीय कीड़े ही होते है। क्योंकि, लाखों में एकाद को छोड़कर बाकी के सर्प महाक्रोधी, क्रूर-हिंसक होने से परघातक है। मनुष्य अवतार में जिसके व्यापार-व्यवहार भाषा आदि बिगड़े हुए होने है, उनको अपने कुटुंब के मेंम्बरों से लेकर जगत के साथ भी वैर होनेसे मरणांते सर्प के अवतार को पाते हैं. और बहुत जीवों द्वारा भयभीत बने हुए सर्प छुपछुपकर रहते हैं। फिर भी क्वचित कर्म संयोग से बंदर के हाथ में सर्प आ जाय तो बहुत ही खराब हालत में बन्दर उसे पत्थर से रगड़कर खत्म करता है।

मोर की नजर पड़ते सर्प को पूंछ से पकड़कर आकाश में उड़ाकर साथ में ले जाता है, फिर ऊपर से नीचे पटकता है जो जिंदा हो तो फिर से पकड़कर ऊपर ले जाता है। इसप्रकार सर्पराज को बिना मौत मरना पड़ता है और मंगूस के (नेवला) साथ सर्प की लड़ाई तुमने देखी है ? सचेतन, सहृदय आसन्नभव्य पुरूष को सर्प और मंगूस का युद्ध देखने में आया होगा तो कंवारी छूटे बिना रही न होगी। ज्ञानी भगवंत कहते हैं कि, 'मांडवगढ़ के हट्टण पट्टण देखने के बाद मनुष्य के जीवन में दानेश्वरिता न आये, समरादित्य की कथा सुनने या पढ़ने के बाद मनुष्य को क्रोध के उपशमपूर्वक वैराग्य की प्राप्ति न हो अै. सर्प और मंगूस की लड़ाई देखने के बाद 'बंधे हुए बैरझेर कैसे भयंकर परिणाम लाते है' यह समझकर सब जीवों के साथ के बैरझेर क्षमाकर 'भिरछामि दुक्कडं' देने के भाव न जागे तो उनको कमभागी या दूरभवी समझना। 'यह सब जानने के बाद गतानुगतिक दृष्टि से नागपूजा या हाथीपूजा करनी जैन शासन को मान्य नहीं है।

दूसरे जीवों की मोक्षगामिता :

'देवलोक में से च्यवकर वैसे प्रकार के देव पृथ्वीकायिक 'मणिओं' में भी उत्पन्न होते हैं और अवतार पूर्ण करके मनुष्यत्व को पाकर मोक्ष में जाते हैं, कर्मवश वनस्पति में से निकलकर मनुष्यावतार धारणकर दूसरे भव में भी मोक्ष में जाता है। उस मणि का या वृक्ष में रहे हुए जीव का पूर्वभवीय मित्र देव वहां आकर उस मणि की और वृक्ष की सत्कार सन्मान के साथ चंदन से भी पूजा करता है। वृक्ष के मूल में चबूतरा बनाकर सजाने में वृक्ष की महिमा ज्यादा बढ़ जाती है। इसी कारण से कवचित मणिओं की महिमा बढ़े वैसा लगता है। अरिहंत देवों की अंजनशलाका, प्रतिष्ठा तथा कुंभस्थापना में पंचरत्न की पोटली तो आज भी इस्तेमाल होती है तथा अमुक ग्रह नड़ते हो तो कुछ लोग मणि को अंगूठी में डालकर आज भी पहनते हैं। फिर भी इस रिवाज में भी गतानुगतिकता दिखने में आती है। क्योंकि, सब मणि वैसे प्रकार के भाग्यशालीओं के शरीर पर होते नहीं हैं।

जीवों की सद्गति और दुर्गति किस कारण से ?

संसार का सर्जन, परिस्थिति और हवामान आदि जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के आधीन है। मरणोत्तर गति भी कर्म के आधीन है। जब तक कर्मों का एक भी अणु जीव के प्रदेश के साथ है तब तक चार-गतिरूप संसार में परिभ्रमण भी अनिवार्य है।

पुण्यकर्म के फलस्वरुप जीवन में सुख-शांति समाधि, प्रसन्नचित्त आदि हो वह सद्गति और उससे विपरीत दुर्गति जाननी। अर्थात् दुःख-दारिद्र्य, भूख-तरस, ठंडी-गरमी, आदि की वेदनाएं जहां प्रचुर मात्रा में भुगतनी पड़ती है वह दुर्गति है, जिसमें नारक और तिर्यंचों के अवतार समझने।

नरकगति में स्वाभाविक रूप से दुःख की परंपरा है और तिर्यंच अवतार में पराधीनता, अविवेक, पूर्वभवीय कुसंस्कारों के कारण वह जीव भी दुःखी है।

मनुष्यावतार को पाकर जीव अपनी सत्करणी और सद्विचार द्वारा सद्गति और असभ्य, हिंसक आदि दुष्ट करणी से दुःखपूर्ण दुर्गति का मालिक होता है। वैसे ही पशु अवतार को पाकर यदि वे संत समागम, शुभ भावना, समझकर पापों को पाप भावनाओं को सर्वथा छोड़ दे अथवा छोड़ने के लिए तालीम प्राप्त करे अथवा कुछ प्रकार के पापों को जानबूझ से छोड़ दे तो वे तिर्यंच भी सद्गति के स्वामी बन सकते हैं। दूसरे भाग के पुस्तक में जैसे हम जान सके हैं कि तिर्यंच भी देशविरति धर्म को स्वीकार के देवलोक को या मनुष्यलोक को प्राप्त करने के लिए भाग्यशाली बनते है। अगणित दृष्टांत शास्त्र के पन्नों पर अंकित है। जैसेकि चंडकौशिक नागराज हाथी के शरीर में रहा हुआ रूपसेन का जीव, कादंबरी अटवी में पार्श्वनाथ प्रभु को पूजता मदोन्मत्त हाथी, परमात्मा की अक्षतपूजा करता कीर युगल, जटायु पक्षी आदि दृष्टांत सबकी जुबानपर खेल रहे हैं।

पूरी जिंदगी में शुद्ध श्रद्धापूर्वक एक ही सामायिक करनेवाला श्रावक, एक दिन की ही दीक्षा पालता मुनि, मोक्ष या देवगति प्राप्त कर सकता हो तो जीवन के अंतिम श्वासपर्यंत जैनधर्म की, पंच महाव्रतधारी गुरुदेव की और दयापूर्ण जैन धर्म की श्रद्धा रखनेवाले के लिए क्या कहना।

बंदर आदि की गति :

अब हम प्रश्नोत्तर को देख लें। गौतमस्वामीजी पूछते हैं कि, 'हे प्रभो ! गोलांगू, वृषभ अर्थात गाय के पूंछ जैसा बड़ा यूथपति बंदर (बहुत

संख्या की बंदरियों का भोक्ता) कुक्कुट वृषभ अर्थात बड़ा मुर्गा और मंडुक वृषभ (बड़ा मेंडक) यह तीनों तिर्यंच यदि—

निःशील (सदाचार रहित)

निर्व्रत (अणुव्रत रहित)

निर्गुण (तीन गुणव्रत रहित)

निर्मर्याद (सदाचारकी मर्यादा रहित)

अप्रत्याख्यान (पापों के त्याग की भावनारहित) और पौषधोपवास बिना के हो तो वह मरने के बाद एक सागरोपम की आयुष्य मर्यादावाली रत्नाप्रभा नामकी पहली नरक प्राप्त करेगा ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, 'गौतम ! वे जीव जो नरकगति में पैदा होनेवाले होते हैं, उनको नारक कहने में दिक्कत नहीं है। जैसे श्रीमंत का पुत्र श्रीमंत, राजा का पुत्र राजा और कुंवारी कन्या यद्यपि मातृत्व के पर्याय में नहीं है तो भी भूतकाल और वर्तमानकाल का अभेद होने से उनको वैसे रूपसे संबोध सकते हैं। वैसे ही तिर्यंचगति में रहे हुए को भी नारक कहा जा सकता है। उपचार से पुण्यकर्म के भोगघटे में पूर्णरूप से मस्त होकर बड़े पाये पर आरंभ समारंभ करनेवाला, मैथुनकर्म में मस्त बन के परिग्रहको अमर्यादित करते श्रीमंत को भी हम कहते है कि, 'ये बिचारे नारकीय कीड़े हैं।'

इसीप्रकार सिंह, वाघ, रीछ, तरस, गेंडे, पराशर और शरभ आदि जीवों के लिए भी जान लेना तथा गीध, कौओं, विलय आदि हिंसक पक्षीओं के लिए भी जानना।

भगवान महावीरस्वामी की सत्य वाणी सुनकर गौतमस्वामीजी कहते हैं कि, हे प्रभो ! आपकी वाणी यथार्थ है, गंभीर है और सत्यार्थ को प्रकाशित करनेवाली है।

॥ शतक १२ का उद्देशक आठवाँ पूर्ण ॥

शतक १२ वा : उद्देशक ९

देवों के प्रकार संबंधी वक्तव्यता :

संसार का प्रत्येक पदार्थ गुणपर्यायात्मक होने से उसका सम्यग निर्णय सापेक्ष दृष्टी बिना नहीं हो सकता। क्योंकि मूल द्रव्य की अपेक्षा से वह स्थिर (ध्रौव्य) है और गुणपर्यायों की अपेक्षा से उसमें उत्पाद और व्यय रहे हुए है। अलग अलग निक्षेपाओं से भी वस्तु का निर्णय सर्वांगी होता है। एक ही वस्तु का, व्यक्ति का अलग अलग अपेक्षा से निर्णय करना उसको निक्षेप कहते हैं।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिकरूप से देवों के चार भेद ही हम जानते थे। परंतु यहां दूसरी अपेक्षा से देवों के पांच भेद कहे गये हैं—

(१) भव्य द्रव्यदेव, (२) नरदेव, (३) धर्मदेव, (४) देवाधिदेव, (५) भावदेव। अब यह पांचों देवों को हम विस्तार से जाने।

[१] भव्य द्रव्यदेव

हे प्रभो! भव्य द्रव्यदेव को आप भव्य द्रव्यदेव क्यों कहते हैं? और इस पद का अर्थ क्या होता है?

जवाब में परमात्माने कहा कि, हे गौतम! जो जीव अभी तिर्यंच पंचेन्द्रिय में या मनुष्य में रहे हुए हो और वहां से दूसरे भव में देवयोनि प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त किये हुए भाग्यशालीओं को भव्यद्रव्यदेव कहते हैं, यद्यपि इस समय वह देवत्व को प्राप्त हुआ नहीं है फिर भी 'भवितुमर्हति इति भव्य :' इस उक्ति से भविष्य में देवत्व की योग्यता हो जाने से वह तिर्यंच या मनुष्य भव्य द्रव्यदेव से संबोधा जाता है। जैसे कि अब 'नमुत्थुणं' सीखनेवाला बालमुनि भविष्य में श्रुतज्ञानी होगा इस कारण से भी वह ज्ञानी कहलाता है।

[२] नरदेव :

गौतमस्वामीजी के पूछे जाने पर भगवान महावीरस्वामी ने नरदेव की व्याख्या के जवाब में कहा कि, 'जैसे पुरुषेषु सिंह इव सिंहः' कहलाता है। वैसे ही 'नरेषु नरसमाजेषु देव इव देवः' मनुष्यो में जो आराध्य, सेव्य, देव जैसे रुपवान, पृथ्वी के चारों दिशाओं में प्रभुत्व धरानेवाला, चक्ररत्न जिनको प्राप्त हुआ हो, नव निधान जिनके चरणों में हो, ३२ हजार

मुकुटबंधी राजाओं से सेवित, समुद्रपर्यंत पृथ्वी के स्वामी ऐसे चक्रवर्ती को नरदेव कहते हैं।

[३] धर्मदेव

गौतमस्वामीजी के प्रश्न के उत्तर में धर्मदेव की व्याख्या देते प्रभु ने कहा कि, 'जो पांच समितिओं से समित, तीन गुप्ति से गुप्त हो, दस प्रकार से साधुधर्म में स्थिर हो वह धर्मदेव है।' दुर्गति तरफ जाते जीव को सद्गति तरफ ले जाय वह धर्म है। 'स्वस्मिन् आत्मनि तिष्ठति, राजसिक, वैकारिक, वैभाविक या औदयिक आदि-भावों-विचारों तथा आचारों का त्याग कराके सात्विक, स्वाभाविक और क्षायोपशमिकता पूर्वक स्वस्थत प्राप्त कराए वह धर्म है। ऐसे कल्याणकारी धर्म के प्ररूपक तीर्थंकर ही होते हैं और मुनिराज उस धर्म के आराधक होने से धर्मदेव कहलाते हैं।

[४] देवाधिदेव :

गौतमस्वामीजी के प्रश्न के उत्तर में देवाधिदेव की व्याख्या स्पष्ट करते प्रभुने कहा कि, 'जिसके जीवन में पारमार्थिक रुप से क्षायिकभाव, तथा सादि अनंत भेद "परमात्मतत्त्व" प्राप्त होने से जो अजन्मा हुए हो तथा 'देवानामपि देवाः 'यानि के भूत, प्रेत, राक्षस नागकुमार, ब्रम्हदेव व्यंतरदेव, ज्योतिष्क देव आदि करोड़ों देवों के भी जो पूज्य हैं वे देवाधिदेव कहलाते हैं। या 'देवेष्वपि अधि-अधिका देवाः देवाधिदेवाः' अर्थात लोकोत्तर गुणों के धारक देवाधिदेव कहलाते हैं। जब सामान्य देव संसारवर्ती होने से लौकिक कहलाते हैं क्योंकि वे "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति" देवगति का पुण्य क्षय होते उनको फिर से जन्म लेना सर्वथा अनिवार्य है। जन्मकर शाही करता है, भोग-विलास मनाता है, वृद्ध होता है, फिर से मरते हैं। इस प्रकार जन्मजरा और मृत्यु के चक्र में फंसे हुए होने से लौकिक देव देवाधिदेव के लायक बनते नहीं है।

इसीलिए जिसने तपश्चर्या विशेष स केवलज्ञान प्राप्त किया हो वे ही देवाधिदेव कहलाते हैं। जो संसारवर्ती तीनों काल के, अनंतपर्यायों से युक्त संपूर्ण द्रव्यों को यथार्थ रुप से जानते हैं, देखते हैं और उपदेश करते हैं वे अरिहंत, अर्हंत, सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

[५] भावदेव :

गौतमस्वामीजी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया कि, 'देवगति, देवायु और देव आनुपूर्वी नाम कर्म के कारण अब जो देवत्व के पर्याय को धारण कर रहे हैं वे भाव देव कहलाते हैं। जिसमें नागकुमार, सुवर्णकुमार, वायुकुमार, उदधिकुमार आदि देव और उनके इन्द्र भवनपति देव कहलाते हैं। व्यंतर, वाण व्यंतर, किंनर, किंपुरूष, यक्ष प्रेत, डाकण, शाकिनी, राक्षस, तिर्यग जृंभक आदि देव व्यंतर कहलाते हैं। सूर्य, चंद्र नक्षत्र तारा और ग्रह देव ज्योतिषी देव है। १२ देवालोक के वैमानिकों, ९ ग्रैवयेक देवों और ५ अनुतर देवों जिसमें ब्रम्हलोक भी समाविष्ट है वे वैमानिक कहलाते हैं। ऊपर के सब देवों को जन्म है। मरण है, आधिव्याधि और उपाधि है इसीलिए केवलज्ञान बिना के ये देव किसी काल में सब के सब जमा होकर भी किसी को केवलज्ञान देकर मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकते।

पांचों देवों में उत्पाद की वक्तव्यता :

१. भव्य द्रव्यदेव :

गौतमस्वामी के प्रश्नों से चारों गति के कौन कौन से जीव मृत्यु पाकर उपर कह हुए पांचों देवों में पैदा हुए है उसकी विगत विस्तार से कहने में आई है। प्रश्न-'हे प्रभो ! भव्य द्रव्यदेव कहां से आकर पैदा होते हैं ? क्या नरकगति में से ? तिर्यंचगति में से ? मनुष्यगति में से ? या देवगति में से च्यवकर भव्य द्रव्यदेव होते हैं ? यह प्रश्न हैं और आगे भी इसी पद्धति के प्रश्न हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम। चारों गति में से निकलकर जीव भव्य द्रव्यदेव जैसे स्थान में पैदा होते हैं। (यहां अवांतर

भेद जानने के लिए प्रज्ञापना सूत्र का छट्ठाँ व्युत्क्रान्ति पद देखने को कहा है।) पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर चार अनुत्तर स्थानों से आकर इस स्थान को प्राप्त करता है। परंतु असंख्यात वर्ष के आयुष्यवाले अकर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तैर्यंच और मानुष्य तथा अन्तर्द्वीप के युगलिक तथा सर्वार्थसिद्ध देव भव्य द्रव्यदेवरूप में पैदा होते नहीं है। क्योंकि उनका उत्पाद भावदेव (देवलोक) रूप में होता है जब सर्वार्थसिद्ध एकावतारी होने से नियमा मोक्ष में जानेवाले होने से वे भव्यद्रव्यदेव बनते नहीं हैं। और पहले के चार अनुत्तर तो भव्यद्रव्यदेवरूप में बन सकते हैं।

२. नरदेव :

नरक या देवगति में से आए हुए जीव नरदेवरूप में पैदा होते हैं परंतु मनुष्य या तिर्यंच जीव नरदेवपद को पाते नहीं है। नरक में भी पहली नरकभूमि के जीव और देव के सर्वार्थसिद्ध तक के देव भी मनुष्य अवतार पाकर नरदेव (चक्रवर्ती) पद पाते हैं।

३. धर्मदेव :

चारों गति के जीव अपने अपने स्थान से च्यवके या मरके मनुष्यावतार पाकर 'धर्मदेवत्व' पद पातें है। केवल नीचे लिखे हुए जीव धर्मदेव हो सकते नहीं हैं। छठ्ठे नरक के जीव मनुष्य अवतार पा सकते हैं। परंतु चारित्र नहीं ले सकते। सातवीं नरक, तेजस्काय, वायुकाय, असंख्य आयुष्यवाला, अकर्मभूमि, कर्मभूमि तथा अन्तर्द्वीप के युगलिक, मनुष्य और तिर्यंच मनुष्य अवतार ही पा सकते नहीं तो मुनिभेषकी बात ही कहां रही ?

४. देवाधिदेव :

नरक और देवगति में से आए हुए जीव देवाधिदेव पद को प्राप्त करते है; यानि की तीर्थंकर बनते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य या

तिर्यंच गति के जीव मनुष्य अवतार को पा सकते हैं। परंतु तीर्थंकर बन सकते नहीं हैं। देवगति में से भी सर्वार्थसिद्ध देव समझने। जब नरक में पहली तीन नरक समजनी। भवनपति, व्यंतर या ज्योतिषी देव तीर्थंकर बनते नहीं हैं।

५. भावदेव :

भावदेव के लिए प्रज्ञापके सूत्रके छठे पद अनुसारसे जान लेना।

पांचों देवों की स्थिति संबंधी वक्तव्यता :

भगवान ने फरमाया कि, 'भव्यद्रव्यदेव, नरदेव तथा धर्मदेव वैक्रिय लब्धिसंपन्न मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय अपनी वैक्रिय शक्ति से एक अनेक रुपकी विकुर्वणा करने के लिए शक्तिमान है। जब एक रुपकी विकुर्पणा करते है तब ऐकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय जीव के रूप का निर्माण कर सकते हैं और अनेक रुप करने हो तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीवों के संख्यात-असंख्यात रुप अपने साथ संबद्ध या असंबद्ध सरखे या अणसरखे वर्णादिसे युक्त बिकुर्वणा करते हैं और वैसा करके वह इच्छानुसार अपने कार्य करते हैं।

देवाधिदेव यद्यपि विकुर्वणा करने के लिए पूर्ण समर्थ है तथापि सर्वथा कृतकृत्य होने से किसी भी दिन विकुर्वणा नहीं करते है और करेंगे भी नहीं। भावदेव एक या अनेक रुप करते हैं।

उन देवों की उत्पत्ति के लिए की वक्तव्यता :

'हे प्रभो ! भव्यद्रव्यदेव अपना विद्यमान भव का त्याग करके कहां पैदा होते हैं ?' यह प्रश्न है।

जवाबमें प्रभुने कहा 'वह नरक यावत् पंचेन्द्रिय मनुष्यमें पैदा होता नही हैं परंतु उनमें देवभव स्वभावतः भावी होनेके कारण चारों निकायके चाहे उस देवलोक में पैदा होते हैं।

नरदेव मनुष्य या तिर्यंच में पैदा होते नहीं है परंतु विषयवासना में रचेपचे रहेनेसे नरकगति में जाते है। यदि वह मुनिवेषका स्वीकार करे तो भावदेवमें पैदा होते है परंतु गृहस्थभे नियमा नरक है और सातों नरक उनके लिए सुलभ हैं।

धर्मदेव मुनिओं तथा साध्वीयों के लिए नियमा देवगति ही है। क्योंकि सम्यक् चारित्रवान् की मोक्ष में जाने की योग्यता न रही हो तो देवलोक निश्चित है। देवयोनि में भी वैमानिक यावत् सर्वार्थसिद्ध विमान है।

भावसंयमीके लिए भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष देवलोक नहीं है, जब कितने ही धर्मदेव कर्मोका क्षय करके मोक्षमें भी जाते है। जब देवाधिदेवों को मोक्ष सिवा कही भी जाना होता नहीं है। भावदेव स्वयके पृथ्वीकायादि में जन्म लेते है और असुरकुमार से लेकर ईशान देवलोक तकके देव भी पृथ्वीकायमें पैदा हो सकते हैं।

उनकी स्थिति आदि का वर्णन :

केवल धर्मदेव की स्थिति जघन्य से एक समय की है। शुभ भावों की प्राप्ति के बाद ही मृत्यु की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति देशानपूर्व कोटि है। विरहकाल के लिए जानने का कि भव्यद्रव्यदेव को काल करके पुनः उस पर्याय को प्राप्त करने के लिए १० हजार वर्ष ऊपर अन्तर्मुहूर्त का अंतर पड़ता है। क्योंकि भव्य द्रव्यदेव मृत्यु पाकर १० हजार की स्थितिवाला व्यंतरदेव होता है और वहां से निकलकर एक अंतरमुंहूर्त

तक शुभ पृथ्वीकायादि में पैदा होकर पुनः भव्य द्रव्यदेव अवस्था प्राप्त करता है। इसीलिए १० हजार वर्ष ऊपर एक अन्तरमुहूर्त का काल कहा गया है। नरदेवों को फिर से नरदेव होने में एक सागरोपम से भी ज्यादा समय लगता है। क्योंकि चक्रवती मर के पहली भूमि में एक सागरोपम का आयुष्य भुगतकर फिरसे नरदेवरुप से होता है। चक्ररत्न पैदा होने के बाद ही वह नरदेव कहलाता है और उसकी प्राप्ति में थोड़ा समय लग जाने के कारण ही ऐसे कहा गया है। जब नरदेव का उत्कृष्ट विरहकाल अर्धपुद्गल परिवर्त कहा गया है। क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त जीवों को ज्यादा से ज्यादा अर्धपुद्गल परावर्त ही शेष होता है और सम्यक्दृष्टि जीवो को चक्रवर्तीपद प्राप्त होता है। तो कोई जीव अपने अंतिम भव में चक्रवर्तीपद प्राप्त करे तो पहले और अंतिम भव के बीच में अर्धपुद्गल परिवर्त समय पसार होता है।

धर्मदेव के विरहाल के लिए कहा गया है कि, जधन्य से पल्योपम, पल्योपम पृथक्त्व और उत्कृष्ट से अनंतकाल तक का होता है। यहां खास समझना कि अर्धपुद्गल परावर्तनकाल से अनंतकाल कुछ कुछ न्यून होता है। जघन्यका कारण देते कहा गया कि चारित्र पालकर सौधर्मकल्प में पल्योपम पृथक्त्व आयुष्यवाला देव हुआ और वहां से चलकर मनुष्य शरीर प्राप्त करके फिरसे चारित्र स्वीकार करे उस आशय से पल्योपम पृथक्त्व कहा गया है। यद्यपि चारित्र स्वीकार करने में अगर आठ वर्ष की उमर में लिया हो तो पल्योपम पृथक्त्व से आठ वर्ष ज्यादा कहना चाहिए था, परंतु पैसा कहा नहीं है। इसीलिए चारित्र बिना का काल पल्योपम पृथक्त्व में समाविष्ट समझना।

भावदेव का विरहकाल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त कहेने का कारण यह है कि देवलोक से चलकर कोई एक जीव मनुष्य या तिर्यंचरुप में आकर

अन्तर्मुहूर्त में ही करके फिर से देवावतार प्राप्त करे और उत्कृष्ट से वनस्पति की कालमर्यादा अनंत उत्सर्पिणी की होने से देव का विरहकाल भी उतना ही समझना। क्योंकि विषयवासना में लुब्ध बना हुआ देव वनस्पतिकाय में जाता है वहां उसको उतना ही समय रहने का होने से क्वचित् वह जीव फिर से देव बने उस अपेक्षा से यह सूत्र वचन है।

अल्पबहुत्व काल :

सबसे थोड़े नरदेव होते हैं।

उनसे संख्यात ज्यादा देवाधिदेव होते हैं।

उनसे धर्मदेव संख्यातगुने होते हैं।

भव्य द्रव्यदेव उनसे भी असंख्यात हैं।

और भावदेव उनसे असंख्यात गुने हैं।

भावदेवों का अल्पबहुत्व :

अनुत्तरोपपातीक भावदेव सबसे कम है।

उससे उपरित्रय ग्रैवेयक संख्यात गुना।

उससे मध्यमत्रय ग्रैवेयक संख्यात गुना।

बारहवें देवलोक के देव संख्यात गुना।

तत्पश्चात् क्रमशः आरण तथा आनत में संख्वान गुना।

उसके बाद सहस्रार, महाशुक्र, लांतक, ब्रम्हलोक,म हेंद्र, सनत्कुमार, ईशान में अनुक्रम से असंख्यात गुना ज्यादा है। सौधर्म में संख्यातगुना, भवनवासी देव असंख्यात गुना। व्यंतर उनसे भी असंख्यात और ज्योतिष उससे असंख्यात जानना।

इस प्रकार देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी की वाणी को सुनकर गौतम स्वामी अतीव प्रसन्न हुए। इन्द्रों तथा देवों को भी प्रसन्नता हुई और सब जैन शासन की आराधना द्वारा निर्जरा तत्व तरफ प्रस्थान करने हेतु कटिबद्ध हुए तथा भगवान को द्रव्य और भाववन्दन करके अपने-अपने स्थान पर गये।

॥ शतक १२ का उद्देशक नवाँ पूर्ण ॥

शतक १२ वा : उद्देशक-१०

आत्माएँ कितने प्रकार की हैं ?

बारहवे शतक के दसवे और अंतिम उद्देशों में गौतम स्वामीजी ने आत्मासंबंधी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रश्न पूछे हैं क्योंकि इस ब्रह्मांड में सबसे पहले जानने के लिए कोई वस्तु है तो वह है आत्मा। आत्मज्ञान के अभाव में पूरे संसार की मुसाफिरी करनेवाले, प्लेन में उड़नेवाले बड़े-बड़े श्रीमंतों, सत्ताधारीओं और डिग्रीधारीओं के जीवन में भी अधूरापन ही रहनेवाला है। आत्मा की पहचान के बिना मनुष्य को परमात्मा की भी

पहचान सत्य स्वरुपसे किस प्रकार होगी ? जिसको अपने निजत्व का भान और ज्ञान नहीं है वे स्व तथा पर पदार्थों का यथार्थ और पूर्णज्ञान किस प्रकार प्राप्त करेंगे ? और उसके बिना उसकी साधना-भक्ति-उपासना-तप-जप-ध्यान और दानादि क्रियाऐं मुक्ति प्रद कैसे बनेगी ? ८४ लाख जीवयोनि में से उत्कृष्टतम मनुष्य अवतार को पाने के बाद भी मनुष्य दंभी, माया मृषावादी, हिंसक, दुराचारी बनता हो तो उसके बहुत कारणों में से मुख्य कारण आत्मा की पहचान का अभाव हीं है। इसीलिए आध्यात्मिक आचार्यों का एक ही कथन है कि 'लाखों करोड़ों प्रकार के पौद्गलिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के पहले 'आत्मा का सत्यार्थज्ञान प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना जिससे तुम्हारी अज्ञान ग्रंथिओं का छेद होगा, मिथ्याज्ञान का भूत पलायन होगा, विपरीत ज्ञानरुपी पिशाच को खड़े रहने का भी स्थान नहीं मिलेगा।

रुपदीवानी और मोहग्रस्त कोशा वेश्या को समझाते श्री स्थूलीभद्र मुनिराजने कहा था कि, 'कोशा ! तेरे शरीर के रुपरंग से भी तेरी आत्मा ज्यादा रुपवान है, उसे तू क्यों देखती नहीं है ? समझ लेना कोशा ! यह तेरा नाजुक शरीर, मदभरी कमर, हिरनी जैसी सुंदर आंखे, लाल ओंठ और युवानी के तूफान में मदमस्त बनी हुई तेरी यह शरीरयष्टि तो एक दिन राख में मिल जायेगी। यह तेरे काले भ्रंमर तथा सुंवाली जैसी चोटी घास के पूले की माफिक फर्र करके जलकर खाक होगी। तेल की मालीश करके मजबूत बनी हुई और मक्खन के पींड जैसी चमकदार हड्डियां सूखी लकड़ी की माफिक अग्निदेव के शरण होते ही भस्मसात् होगी इसीलिए किराये के मकान जैसे तेरे इस शरीर में रहे हुए आत्मदेव की पहचान कर, जिससे तेरी आत्मा तुझे अजर-अमर और अनंत शक्ति के मालिक जैसी लगेगी। कोशा ! भोगविलास के माध्यम से शरीर को पापका घर बनाना नहीं। क्योंकि कामदेव को तांडवनृत्य करने के लिए स्त्री का शरीर तो माया का मंदिर है और मछलियां जैसे जवान

मनुष्यों को अपने चक्कर में फंसाने के लिए जाल है, वह तू समझ, बराबर समझ। एकांत में आंखे बंद करके तू तेरी आत्मा का विचार करना जिससे शरीर की मस्ती की माया तेरी छूटेगी और आत्मा के साथ माया का बंधन होगा। कोशा ! क्षणभंगुर शरीर को थपथपाने से आत्मा को थपथपाना अच्छा है और एक दिन मद से भरी हुई कोशा वेश्या ने श्री स्थूलीभद्र मुनि के चरणों में मस्तक झुकाया तथा व्रतों के पालन से इतिहास के पन्नों पर अमर बन गई।

यह और ऐसी दूसरी कथाओं से भी हम जान सकते हैं कि आत्मा की पहचान ही सबसे प्रथम करने की जरूरत है। क्योंकि अरूपी अदृश्य और अलक्ष्य आत्मा का सत्य ज्ञान करने में अच्छे से अच्छे विद्वान भी भूल खा गये है। इसीलिए संसार की माया में रंगे हुए स्वार्थान्ध पंडित या महापंडित भी आत्मा की पहिचान जब खुद ही नहीं कर सके, तो उनके हजारों-लाखों श्लोकों में दूसरों को आत्मज्ञान कैसे करा सकेंगे ? परमात्मा के नाम के तिलक करने में जिंदगी पूर्ण करके भी वे दूसरों को आत्मज्ञान कराने में समर्थ नहीं हुए। इसीलिए ही संसार में मांसाहार, शराबपान, वेश्यागमन, जुगार, रमी का खेल, परस्त्री गमन, परपुरुष गमन आदि दूषण संसार को कदरूप बनाने के लिए कारणभूत बने हैं। जिससे, पिता-पुत्र के, नणंद भाभी के, सास-बहु के क्लेशों से मानवजाति सर्वथा कमजोर बनी है। परिणामस्वरुप आध्यात्मिक ग्रन्थों का वाचन है। परंतु जीवन में श्रृंगार है। भगवान की बाह्य भक्ति की लगनी है, परंतु आत्माराम कोरे ही रहने पाये हैं।

इन सब कारणों को लेकर देवाधिदेव, सर्वज्ञ, निरंजन, तीर्थंकर भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि : हे आत्मन ! तू तेरी जात को प्रथम पहचान ले। तेरे गुणों और पर्यायों का यथार्थ [ज्ञान प्राप्त कर ले। तथा वैकारिक और स्वाभाविक भावों का निर्णय पहले कर ले। यही कल्याण है, मोक्ष मार्ग है और आत्मोन्नति के लिए प्रथम सोपान है।

भावदया के स्वामी, जीवमात्र के परममित्र, मायावी पापी-कामी क्रोधी मानवों के हितेच्छु, कीड़े-मकोड़े-पृथ्वी, पानी-अग्नि-वनस्पति आदि जीवों को अभयदान देनेवाले, आंखों में अमी, जबान में मीठास, हृदय में दया, करणी में क्षमा और चलने फिरने में पूर्ण उपयोगी गौतमस्वामी ने भगवंत को पूछा कि, 'हे प्रभो ! आत्मा कितने प्रकार से है ?'

जवाब में स्याद्वाद के स्वामी, नयवाद से सापेक्ष भाषावादी भगवान महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गौतम ! आत्मा के आठ प्रकार (भेद) हैं। स्थानांगसूत्र में 'एगे आया' 'आत्मा एक है' जब भगवतीसूत्र में भगवंत ने आत्मा को आठ प्रकार से कहा है। इसमें तथ्यांश यही है कि निरपेक्ष यानि कि द्रव्यमात्र में अन्य दूसरे अनन्त धर्मों (पर्यायों) की विद्यमानता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हो तब उनकी अपेक्षा रखे बिना ही केवल भाषा-व्यवहार में 'एवमेव', 'ही' शब्द का प्रयोग करे तो वह निरपेक्ष भाषा होने से झूठी है और ऐसा भाषा-व्यवहार मनुष्य के और समाज के जीवन में वैर-विरोध और क्लेश, आदि दूषण खड़े करता है। इसीलिए अनंतज्ञानी केवलीओं की भाषा निरपेक्ष नहीं परन्तु सापेक्ष होती है जो सर्वांगीण सत्य है।

सापेक्षवाद :

"एकस्मिन् वस्तुनि–पदार्थे–द्रव्ये पृथक्-पृथक् अपेक्षाभिः सहितो यो वादः (कथनं) स सापेक्षवादः।"

अर्थात् किसी एक पदार्थ में रही हुई भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का ख्याल रखकर पदार्थों का निर्णय करना वह सापेक्षवाद है। इतना ध्यान रखने का है कि पंच महाव्रत जैसे संवर धर्म हैं, वैसे सापेक्षवाद कोई स्वतंत्र धर्म नहीं है या महावीरस्वामी ही उसके उत्पादक या वाचक नहीं है। परन्तु वस्तुमात्र के सत्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अलग-अलग अपेक्षाओं से

उसमें रहे हुए अस्तित्व धर्मों का स्वीकार और नास्तित्व पर्यायों का परिहार करके भाषा व्यवहार करना वह सापेक्षवाद है।

"अनंतानंत चेतन या अचेतन पदार्थों से पूर्ण, प्रत्यक्ष दिखाई देते हुए ब्रह्मांड को विद्यालय की उपमा देने में आई है और मनुष्य योनि प्राप्त मनुष्य को विद्यार्थी की उपमा दी है।"

अनंत संसार के माया-प्रपंच में बेहोश बना हुआ जीवात्मा संख्यात-असंख्यात या अनंतभवों में स्पष्ट या अस्पष्ट अकथनीय वेदनाओं को भुगत कर अच्छी तरह थक जाने के बाद ही कोई एकाद 'भव में' मनुष्य अवतार प्राप्त करने के लिए भाग्यशाली बनता है। ऐसी परिस्थिति में वह भाग्यशाली सत्यज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील न बन सका तो फिर से अनंत संसार के गर्त में चक्कर मारे बिना रह सकेगा नहीं और इस प्रकार इस जीवात्मा ने अनंतबार मनुष्य अवतार प्राप्त किये और गवां भी दिये हैं।

इस भव का चक्कर सार्थक करना हो, परमात्मा की कृपा प्राप्त करनी हो, सद्गतिओं के स्वामी बनना हो, संसार के सब मनुष्यों के साथ मैत्रीभाव करना हो तो भाषा-व्यवहार के सुधारे बिना छुटकारा नहीं है। क्योंकि अहिंसक, सत्यवादी या सदाचारी जीवन का मूल ही भाषा-व्यवहार है। उसे समझे बिना संसार का कोई भी मनुष्य मैत्रीभाव-प्रमोदभाव-करुणभाव या उपेक्षाभाव को नहीं समझ सकेगा। केवल मैत्रीभाव के गाने गाना यह अलग बात है और जीवन के अणु-अणु में मैत्रीभाव स्थापित करना वह अलग बात है। इन सब बातों का ध्यान रखकर ही भगवंत ने कहा कि, 'व्रतनियम-सदनुष्ठान या ध्यान आदि को फलितार्थ करने के लिए भाषाव्यवहार को सापेक्ष बनाने की तालीम सबसे पहले लेने की जरूर है। अन्यथा सबके साथ वैर-झेर-क्लेश-कंकास-मारकूट आदि तत्वों को जीवन में प्रवेश होना सुलभ बनेगा।

वस्तु एक ही है, बात एक ही है, कि गृहस्थाश्रम को भुगतते कंटाल गये हुए मानवों ने दूसरे जात-भाईओं की या देशवासीओं की सेवा करने के लिए एक संस्था खड़ी की। अब यह लक्ष्य या ध्येय बराबर रहे तब तक फिकर नहीं है परंतु स्वार्थवृत्ति के कारण जब उस संस्था में वचन-विरोध की दरार पड़ेगी तब एक संस्था में से दूसरी, तीसरी संस्था खड़ी होकर मानवसेवा के लिए खड़ी हुई वह संस्था ही मानवसेवा के बदले मानवसमाज का या मानवता का द्रोह करनेवाली बन जायेगी। इसी कारण से ही संसार दुःखी है, श्रीमंत दुःखी है, सत्ताधारी दुःखी और सबों को वैकुंठवास, विष्णुवास या मोक्ष देनेवाले भाग्यशाली भी अपना भाषा-व्यवहार यदि सापेक्ष नहीं बनाते तो वे भी महादुःखी हैं।

वस्तु की यथार्थता जानने के लिए सापेक्षवाद मापदंड है, जिसकी रूपरेखा पहले और दूसरे भाग में दी गई होने से अब हम मूल प्रश्नोत्तर की चर्चा करेंगे।

गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में स्याद्वादी भगवंत महावीर स्वामी ने पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद कहे है वे इस प्रकार है। –

(१) द्रव्यात्मा, (२) कषायात्मा (३) योगात्मा, (४) उपयोगात्मा, (५) ज्ञानात्मा (६) दर्शनात्मा (७) चारित्रात्मा (८) वीर्यात्मा।

अब अपन इनका भावार्थ समझने का प्रयत्न करे !

१. द्रव्यात्मा :

निरंतर अपरापर पर्यायों को तथा स्वकीय और परकीय ज्ञानादि गुणों को प्राप्त करनेवाला हो वह द्रव्यात्मा है।'अतति-अधिगच्छति इति आत्मा' इस व्युत्पत्ति से उपयोग स्वभावी आत्मा, पदार्थों को निरंतर

जानता रहे अथवा अलग अलग पर्यायों को ग्रहण करता जाय और छोड़ता जाय वह द्रव्यात्मा है। अथवा कषायादि पर्यायों को गौण करे तब शुद्ध द्रव्यरूप अपने स्वभाव को प्राप्त हुई आत्मा वह द्रव्यात्मा है।

द्रव्य और पर्यायों का मिश्रण ही संसार होने से संसार के किसी भी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना होता है तब उसको दो दृष्टि से देखना चाहिए। और सापेक्ष शब्द से भाषा व्यवहार करना चाहिए क्योंकि संसारभर के अनंतानंत पर्यायों में द्रव्यतत्त्व की विद्यमानता कोई काल में और किसी से भी ना नहीं की जाती। इसी प्रकार कोई भी द्रव्य, पर्याय बिना का होता नहीं है। जब पदार्थमात्र में दोनों तत्व (द्रव्य पर्याय) रहे हुए ही हैं तब उनको दो दृष्टि से देखे बिना छुटकारा नहीं हैं।

एक दृष्टि है द्रव्यास्तिक नय की। जब पदार्थ मात्र में रहे हुए पर्यायों को गौण करके केवल उसके द्रव्य संबंधी विचारणा इस नय से करनी चाहिए।

दूसरी दृष्टि पर्यायास्तिक नयकी। यानि विद्यमान द्रव्य की विचारणा न करते वह द्रव्य जिस जिस पर्यायो में रहा हुआ हो उन पर्यायों की विचारणा इस नय से करनी।

जैसे कि 'आत्मा अनित्य है।' ऐसा भाषाव्यवहार इसीलिए सत्य है कि द्रव्य की दृष्टि से आत्मतत्त्व नित्य तथा शाश्वत ही है।

और 'आत्मा अनित्य है।' ऐसा भाषा-व्यवहार इसीलिए सत्य है। कि आत्मा में रहे हुए सहभावी गुण और क्रमभावी पर्याय प्रति समय नये नये आते रहते हैं और जाते रहते हैं, इसलिए पर्यायों की दृष्टि से 'आत्मा अनित्य है।' ऐसा भाषा-व्यवहार भी सत्य होता है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से आत्मा 'अरूपी' है परंतु अलग अलग पर्याय के कारण उसमें हलनचलन दिखाई दे रहा होने से आत्मा को 'रुपी' कहने में भी

जैन शासन को बाध नहीं है। ऐसे दोनों प्रकार से किया हुआ भाषा-व्यवहार ही सापेक्ष भाषण है, जो सर्वथा सत्य है। यह सीधा सादा भाषा-व्यवहार अनादिकाल से भाषा में बोला जाता है और संसार का प्राणीमात्र अपने आप समझ जाता है। परंतु ज्ञान, जब वक्र, मिथ्यात्व, वासित विपरीत या संशयी बनता है तब यह सीधी बात का तथाउसमें रहे हुए दूसरे पर्यायों का सर्वथा तिरस्कार करके केवल एक ही पर्याय को देखने की आदत—'जैसेकि आत्मा नित्य ही है।' 'अरुपी ही है।' इस प्रकार का भाषाव्यवहार द्रव्य में रहे हुए दूसरे पर्याय की अपेक्षा नहीं रखते होने के कारण निरपेक्ष भाषाव्यवहार कहलाता है, जो सर्वथा झूठा और प्रपंची भाषा-व्यवहार है, जिसके कारण संसार के क्लेश, कंकास वितंडावाद डंडा-डंडी के युद्ध कोई काल में भी नाबुद हो नहीं सकेंगे इसमें केवल अपनी अज्ञानता ही मुख्य कारण है। इसीलिए ही कहा गया है कि—

'दुनिया खूबसूरत है हमें जीना आया नहीं।
हर चीज में नशा भरा है हमें पीना आया नहीं॥

इन सब वाद-विवादों को मिटाने के लिए ही सापेक्षवाद अमृततुल्य है। आगे कहे गये सातों आत्माओं में यह द्रव्यात्मा स्थित है।

२. कषायात्मा :

आत्मा के अनंत ज्ञानादि गुण स्वाभाविक है फिर भी वह गुण जब दब जाता है तब अपने स्वकीय पर्यायों के बदले परकीय पर्यायों की वृध्दि होती है तब वह 'कषायात्मा' कहलाता है, इसमें कषाय अक्षीण और अनुपशांत होता है।

३. योगात्मा :

मन, वचन तथा काया को योग कहते हैं और जब तक आत्मा की सयोगी अवस्था है तब तक वह आत्मा के मानसिक, वाचिक तथा कायिक व्यापार अविच्छिन्न चालू ही रहता है। इसीलिए इन तीनों की व्यापार वाली आत्मा योगात्मा कहलाती है।

४. उपयोगात्मा :

जीव का लक्षण उपयोग है। पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन इस प्रकार ज्ञान दर्शन का उपयोग आत्मा को सतत होता है इसीलिए उपयोगात्मा कहलाता है अथवा विवक्षित वस्तु का उपयोग आत्मा को सदैव बना रहता है।

५. ज्ञानात्मा :

ज्ञान आत्मा का सहभावी गुण है। इसीलिए दर्शन को गौण करके जब जाति, गुण, कर्म आदि से युक्त वह ज्ञान बनता है, तब उसका स्वामी ज्ञानात्मा कहलाता है।

६. दर्शनात्मा :

जहां विशेष बोध को गौण करके सामान्य यानि जाति, गुण, कर्मरहित वस्तु के ज्ञा नको दर्शनात्मा कहते हैं।

७. चरित्रात्मा :

'चर्यते आचर्यते इति चारित्रं तद्वान् चरित्रात्मा।'

सर्वांशे या अल्पांशे अविरति का त्याग चारित्र कहलाता है। ऐसा चारित्र जिसके पास हो, वह चारित्रात्मा है।

८. वीर्यात्मा :

जब आत्मा में उत्थान, बल आदि का संचार होता है, तब वह वीर्यात्मा कहलाता है।

आठों आत्माओं की परस्पर संबंधितता :

जो द्रव्यात्मा होती है वह कषायात्मा होती है या नहीं होता है। परन्तु जो कषायात्मा है वह द्रव्यात्मा नियमा होता है; परन्तु क्षीण या उपषशांत कषायी कषायात्मा होते नहीं हैं। कषाय आत्मा का स्वाभाविक पर्याय नहीं है, परन्तु मोहजन्य वैभाविक पर्याय है। इसीलिये मोहकर्म से जकड़ी हुई आत्मा नियम से कषायात्मा होती है परन्तु जब अपने वीर्य को जागृत करके महाराज के सैनिकों के साथ रण-मैदान में जय-विजय करता है तब ऊपर-ऊपर के गुणस्थानकों को प्राप्त हुई आत्मा सकषायी नहीं होता है।

योगात्मा के साथ भी द्रव्यात्मा को वैकल्पिक सम्बन्ध समझ लेना। क्योंकि सिद्धात्मा बिना योग के है। फिर भी द्रव्यात्मा तो है ही और जो योगात्मा हैं वह नियमा द्रव्यात्मा है। सिद्धात्मा भी उपयोग वाला होने से उपयोगात्मा और द्रव्यात्मा का तादात्म्य जानना।

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानात्मा है और मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से वह ज्ञानात्मा नहीं है इसीलिए जो ज्ञानात्मा है वह नियमा द्रव्यात्मा है। सिद्ध के जीव भी ज्ञानात्मा है।

सिद्धात्मा की माफिक द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा भी संबंधित है। क्योंकि दर्शनात्मा जो चक्षुदर्शनादि वाला होता है वे द्रव्यात्मा भी होते है। सिद्धात्मा और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्चारित्र बिना के होने से द्रव्यात्मा को चारित्रात्मा की भजना जाननी।

सिद्धात्मा सकरण (इन्द्रियोंसहित वीर्य) वीर्यवाले नहीं होते हैं। शेष सब जीव वीर्यवाले हैं।

जहां कषायात्मा है वहां उपयोगात्मा अवश्य होता है और जहां उपयोगरहितता है (केवल जड़ पदार्थ) वहां कषायों की सद्भावना नहीं है तथा केवली उपयोगात्मा है; परन्तु कषायात्मा नहीं है।

सकषाय मिथ्यादृष्टि में ज्ञान का अभाव है और सम्यग्दृष्टि में सद्-भाव है इसीलिए जहां कषाय है वहां ज्ञान की भजना है। परन्तु जो ज्ञानी होता है वहां कषाय मुक्ति और कषाय सहितता भी होती है।

कषाय और दर्शन का सम्बन्ध भी ऊपर मुजब जानना।

कषायों के सद्भाव में चारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। जैसे प्रमत्त अर्थात् छठे गुणस्थान के मुनिओं में चारित्र होता है परन्तु कषाय के लिए भजना जाननी। असंयत यानि सम्यग्दृष्टि अविरत तथा मिथ्यादृष्टि में कषाय होता है परंतु चारित्र होता नहीं है और यथाख्यात चारित्र संपन्न मुनि को चारित्र होता है परंतु कषाय नहीं है। इस सूत्र की टीका में विद्वद्वर्य मुनिराज श्री घासीलालजी महाराजने स्वकीय भगवतीसूत्र के १० वे भाग के ३७० पन्ने पर 'स्याज्ञास्ति प्रमत्तयतीनामीव सकषायाणां' यद्यपि अभयदेवसूरिजी के कथन के अनुकूल शब्द ही है, फिर भी अभयदेवसूरिजी के समय दरम्यान 'यति शब्द' मुनिवाचक था, जो पंच महाव्रत आदि संयम गुणों को सार्थक करता होने से उस समय के इतिहास में यति शब्द मुनि का पर्याय माना जाता था। परन्तु इस वर्तमान समय में जब घासीलालजी महाराज विद्यमान थे और भगवतीसूत्र पर संस्कृत हिन्दी और गुजराती टीका लिख रहे थे उस दरम्यान यति संस्था तथा मुनि संस्था सर्वथा भिन्न है। जिनके जीवन में व्रत नहीं है परंतु स्नान पाणी, मोटर सवारी आदि सब कार्यों की छूट है और ज्यादा करके तो शादी संबंधवाले हैं, ऐसी स्थिति में

यति शब्द का उपयोग मुनि के पर्याय में करना वह सर्वथा अयुक्त है।

यहां प्रमत्त विशेषण लगाने से और प्रमत्त गुणस्थानक छठ्ठा होने से यति शब्द मुनि का ही पर्याय इष्ट है। इसीलिए यति शब्द के स्थान पर मुनि शब्द रखना था जिससे मुनि में सब जैन संप्रदाय के मुनिओं का समावेश हो जाता था और इस गुणस्थानक में कषायों की विद्यमानता का नकार नहीं किया गया, फिर भी यति शब्द रखने में आया है, उसका अर्थ यह होगा कि अपने संप्रदाय के अतिरिक्त प्रमत्तयति शब्द में दूसरे सब जैन संप्रदायों का समावेश होगा जो सकषायी होने से चारित्र के अभाववाले होते हैं। तथा चारित्र में कषाय भी होता है उस अर्थ में सामायिकादि सम्पन्न मुनि है यानि सामायिकादि में स्थानक मुनि ही आयेंगे। और वैसे होते ही दूसरे सब संप्रदाय के मुनि जिसमें दिगम्बर, मंदिरमार्गी, खरतरगच्छ, अचलगच्छ पार्श्वचंद्रगच्छ और आगे बढ़े तो तेरापंथी मुनि भी जति महाराज के टोले में आयेंगे।

शब्द प्रयोग में कैसा भ्रम हो सकता है ?

कषायात्मा और वीर्यात्मा के लिए जानने का कि जहां कषाय हैं वहां वीर्यता है, परंतु केवली सवीर्य है फिर भी कषायी नहीं है, इसीलिए वीर्यात्मा के साथ कषायों की भजना जाननी।

आत्माओं की अल्प बहुलता :–

(१) चारित्रात्मा सबसे थोड़े हैं जो संख्यात हैं।
(२) सिद्ध और सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञानात्मा अनंत है।
(३) उससे कषायात्मा अनंतगुने है क्योंकि सिद्ध के जीवों से भी कषाय के उदयवाले बहुत ही होते हैं।
(४) उससे योगात्मा विशेषाधिक है।

(५) अयोगी की अपेक्षा से वीर्यात्मा विशेषाधिक है।

(६) उपयोगात्मा, द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा की संख्या तुल्य है, फिर भी वीर्यात्मा की अपेक्षा से विशेषाधिक है।

* * *

आत्मा का स्वरुप क्या है ?

चार ज्ञान के स्वामी गौतमस्वामीने पूछा कि, 'हे प्रभो ! आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस प्रकार बहुत अगत्य के प्रश्न पूछे है, क्योंकि कोई भी द्रव्य का स्वरुप जाने बिना उसकी यथार्थता की जानकारी होती नहीं है। आज के संसार की यही दशा है कि सब जन आत्मा आत्मा की बातें करतेहैं। उसकी व्याख्याये नक्की करते हैं, उसको प्राप्त करने के लिए बहुत कुछ अनुष्ठान भी करते है, परंतु अफसोस के साथ कहते हैं कि वे अब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति में जैसी चाहिए वैसी प्रगति करने नहीं पाये है फलस्वरुप घाणी के बैल की माफिक जहां थे वहां ही आकर माया के बंधन में बंध जाते हैं।

समवसरण में बैठे हुए सबों को, आत्मा का असली स्वरुप जानने में आये वैसी भावदया के कारण ही गौतमस्वामी ने पूछा कि, 'हे प्रभो ! आत्मा क्या ज्ञानस्वरुप है ? ज्ञान और आत्मा में क्या भिन्नता है ? ज्ञान ही आत्मा है कि अज्ञान आत्मा है ?

जवाब में भगवंतने फरमाया कि, 'हे गौतम ! आत्मा कथंचित् ज्ञान स्वरुप है, परंतु ज्ञान तो स्वयं आत्मा ही है।'

हे गौतम ! जमीन में से निकले हुए हीरे के पत्थर जैसी आत्मा, अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया और लोभ तथा मिथ्यात्व के मैल के

कारण अनादिकाल से व्याप्त है और जब तक उन कषायों की हाजरी है, तब तक दर्शन मोहनीय कर्म की ताकत कभी भी कम नहीं होगी उस स्थिति में वह आत्मा मिथ्यात्वी होता है जो आत्मद्रव्य का क्रम-भावी पर्याय कहलाता है। यद्यपि आत्मा के साथ अनादिकाल का सहभावी मित्र होने पर भी अभव्य आत्मा को छोड़कर दूसरे आत्माओं के साथ अंत तक का मित्र नहीं है, इसलिए वह मिथ्यात्व आत्मा का सहभावी गुण नहीं हो सकता पर क्रमभावी पर्याय है। जबकि ज्ञान सहभावी गुण होने से निगोद अवस्था से लेकर सिद्ध शिलापर्यंत भी ज्ञान और आत्मा अलग नहीं हो सकते।

दिव्यशक्ति के स्वामी सूर्य नारायण को भी आषाढ़ तथा श्रावन महिने के बादल इस तरह घेर लेते हैं कि जिससे सूर्य की किरणें २-४-६ दिन तक लगभग अदृश्य रहती हैं। किन्तु जोरदार पवन के सपाटे से जब बादल चलायमान होते हैं तब सूर्यनारायण अपनी अजबगजब शक्ति से उन बादलों को सर्वथा भगाकर खुद आकाश में देदीप्यमान होकर जनता को तथा सारे संसार को प्रकाशमय बना देता हैं। उसी तरह अनंतानुबंधी कषायों से उत्पन्न हुआ तथा भवभवांतर की माया से बढ़ा हुआ मिथ्यात्व रुपी बादलों से आत्मारुपी सूर्य भी आच्छादित होनेसे मिथ्यात्वी कहलाता है। किन्तु अपने आप घिसड़ाता हुआ गोलाकार, नदी के पत्थर की तरह यह आत्मा भी स्वाभाविक अथवा अपनी पुरूषार्थ शक्ति से अनंतानुबंधी कषायों को परास्त करता है तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के बादल भी धीरे-धीरे हट जाते हैं, और आत्मा जब अनिवृत्तिकरण नामक शक्ति को प्राप्त करता है तब वह मिथ्यात्व बिचारा बनकर कमजोर हो जाता है और अमुक मुदत के लिए अथवा सर्वकाल तक भी गच्छंति होता है। तब आत्मा को औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की अनंत शक्ति को अवरोध करनेवाले मिथ्यात्वजन्य हिसक

कर्म, चौर्य कर्म, मैथुन कर्म, परिग्रह कर्म तथा मृषावाद कर्म और क्रोधमानादि कर्मों के वेग कमजोर पड़ते हैं। उस वक्त अज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्म) का परिवर्तन होकर सम्यगज्ञान की प्राप्ति होती है यानि कि मिथ्यात्व की मौजूदगी में जो ज्ञान था उनमें से अज्ञानत्व का नाश होकर सम्यक्तत्व का प्रवेश होता है और वह सम्यग्ज्ञान बनता है।

इस कारण भगवंत ने कहा कि, 'आत्मा कथंचित् ज्ञानरुप है और कथंचित अज्ञान रूप है' कारण में कहा गया है कि तद् तद् गुणों की उपलब्धि उन द्रव्यों में ही होती है। ज्ञान अरूपी होने के कारण गुण है इसलिए चैतन्य स्वरुपी आत्मा का ही वह गुण हो सकता है। जड़ पदार्थ रूपी होता है इसलिए उसका गुण नहीं हो सकता।

मिथ्यात्व की उत्पत्ति मोहकर्म के आभारी है और कर्म जड़ होते हैं, इसलिए उनकी हाजरी में होनेवाला अज्ञान आत्मरूप नहीं हो सकता, पर सम्यगज्ञान आत्मा की चैतन्य और सम्यक्त्व शक्ति के आभारी होने से वह आत्मरूप है। इस बात को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि आत्मा स्वद्रव्य की अपेक्षा से ज्ञानी है और परद्रव्य की अपेक्षा से अज्ञानी है। जैसे कि स्वकीयद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से घट-पट आदि में अस्तित्व धर्म है और परद्रव्यादि की अपेक्षा से नास्ति धर्म की विद्यमानता को भी हम नकार नहीं सकते। ज्ञाता का अभिप्राय कभी भी एक सरीखा नहीं होने से किसी वक्त ज्ञेय पदार्थ की अमुक अपेक्षा से बात करता है और दूसरे वक्त भिन्न अपेक्षा से बात करता है। एक पिता ने अपने पुत्र को आदेश देते हुए कहा कि, 'तू कुम्हार के यहां जाना और अहमदाबाद का, लाल रंग का, छोटे कद का, पौष महिने का बना हुआ. मिट्टी का घड़ा ले आना। लड़का कुम्हार की दुकान में जाता है और उसके कहने से दुकानदार घड़ा बताता है तब खरीदनेवाला अस्तित्व धर्म की अपेक्षा रखे बिना नास्तित्व प्रकार से तरह तरह के प्रश्न दुकानदार को पूछ सकता है, कि, 'क्या यह घड़ा खंभात का है ? पाटण

का है ? सुवर्ण और चांदी का तो नहीं ? श्वेत-पीत व श्याम वर्ण का तो नहीं है ना ? चैत्र वैशाखादि महिने में बनाया हुआ हैं ? मेरे कहे हुए आकार से यह बड़ा तो नहीं ? मिट्टी का है तो फिर राजस्थान की मिट्टी का तो नहीं है ? चीमनभाई आदि कुम्हार के हाथ से बना हुआ तो नहीं ? इत्यादि अगणित प्रश्न पूछने के लिए खरीदनेवाला लड़का हकदार है, क्योंकि उसके पिता ने जिस प्रकार के घड़े की खरीदी करने को कहा है उससे यह घड़ा विरूद्ध तो नहीं है ? इसके लिए पूछा जाता है और दुकानदार को माहिती देनी पड़ती है । सारे संसार का व्यवहार इसी तरह चलता है ।

इसी तरह आत्मा नामक द्रव्य के लिए जिज्ञासु ज्ञाता भी अपने गुरू को पूछ सकता है कि, 'आत्मा रूपी है ? अरूपी है ? अनित्य है ? शरीरव्यापी है ? चैतन्य स्वरूपी है ? इत्यादि प्रश्नों का जवाब यदि गुरू 'ही' लगाकर दे, कि आत्मा रूपी ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, तब जिज्ञासु शिष्य के मन में पुनः प्रश्न उठेगा कि यदि आत्मा रूपी ही है तो घड़े की तरह दिखाई क्यों नहीं देती ? अरूपी है तो सब के शरीर में हलनचलन आदि से उसका प्रत्यक्ष अनुभव क्यों होता है ? और शरीर की चेष्टाओं से अनुभूत आत्मा अरूपी क्यों ? यदि नित्य है तो प्रत्येक आत्मा के सुखदुःखादि के द्वंद्व के आकार अलग अलग क्यों ? अनित्य और क्षणिक हो तो किये हुए पापों को भुगतने के लिए नरक में कौन जायेगा ! तथा पुण्य का भोगवटा कौन करेगा ? इस प्रकार के अगणित प्रश्नों में यदि निरपेक्ष भाषाव्यवहार किया जायेगा तो जिज्ञासु की जिज्ञासा शांत नहीं होगी । प्रत्युत संसार के भाग्य में विसंवाद, विवाद, वैर-विरोध, मारकाट आदि हिंसकवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभुत्व रहेगा इसलिए "वचन व्यवहार सापेक्ष सच्चा ।" यानि कि धार्मिक, सामाजिक, कौटुंबिक आदि प्रत्येक समस्याओं को सापेक्ष दृष्टि से देखना, समझना, बोलना और सुनना । इसके सिवा और कहीं भी कल्याण नहीं है, मोक्ष नहीं है, शांति-समाधि नहीं है ।

सत्तात्मक रूप से आत्मा ज्ञानी है परंतु व्यवहारात्मक रूप से तो ऊपर की बात सर्वांशे तथा अल्पांशे झूठ पड़ती है। क्योंकि संसार का व्यवहार सिर्फ सत्तात्मक रूप से नहीं परंतु व्यवहारात्मक रूप से भी चलता है। सुवर्ण की माला में यदि सौ टच का सोना हो, फिर भी उसकी किंमत सौ टच के भाव से नहीं मिलती। उसी तरह आत्मा का स्वरूप ज्ञान होने के कारण वह ज्ञानी है यह बात सच है परंतु सत्तात्मक रूप से यदि संसार का संचालन होता हो तो ज्ञानी आत्मा झूठ प्रपंच, कलह, हिंसा, मैथुन, परिग्रह, क्रोध मान माया और लोभ आदि वैकारिक भावों के कारण अपने संसार व्यवहार को क्यों कडुआ बनाता है? इसलिए झूठ प्रपंचादि कार्य अज्ञानजन्य होते हैं और वह अज्ञान आत्मा का स्वरूप न होने पर भी सिर्फ व्यवहारनय से आत्मा अज्ञानी कहलाता है। यहीं सुसंगत भाषा व्यवहार है, जो स्याद्वाद अर्थात सापेक्ष दृष्टि पाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

जिस तरह ज्ञान में भरती ओट आती है उसी तरह अज्ञान में भी आती है, फिर भी किसी वक्त अज्ञान का सर्वथा क्षय भी हो सकता है। जबकि ज्ञान का क्षय कभी भी नहीं हो सकता, इसलिए निगोदवर्ती आत्मा भी ज्ञानी है। यावत् सिद्धशिला में बिराजमान सिद्धात्मा भी ज्ञानी हैं। यद्यपि निगोद के जीवों का ज्ञान महद्अंशे आवृत हो जाता है और सिद्ध के जीवों का ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान है। इस कारण निगोदवर्ती जीव महद्अंशे अज्ञानी हैं। लेकिन केवलज्ञानी और सिद्धात्माओं में अज्ञान का एक भी परमाणु नहीं होता।

'द्रव्याश्रयाः गुणाः। यानि कि गुण हमेशा गुणवान के आश्रित रहे होते हैं। इसलिए वे भिन्न भी नहीं होते और अभिन्न भी नहीं होते। इससे कथंचित् किसी अपेक्षा से गुणवान गुणरहित भी हो सकता है। अज्ञानावस्था में आत्मा ज्ञानरहित नहीं है, और ज्ञानगुण गुणवान आत्मा को छोड़ नहीं सकता, इसलिए अभिन्न भी है। जिस तरह नीम के पेड़

में वनस्पतित्व है पर वनस्पति में नीम का तत्त्व हो या न भी हो सकता है। आम के पेड़ में वनस्पति तत्त्व है लेकिन नीम का तत्त्व नहीं होता है।

यहां 'अज्ञान' शब्द में 'अ' का अर्थ सर्वथा निषेध में नहीं लेना है, पर कुत्सित अर्थ में 'नञ्' का अर्थ लेना है। क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले संसार में सदाचारी-दुराचारी, दयालु-कसाई, संतोषी-लोभी, कृपण-उदार अहिंसक-हिंसक, सत्यवादी-मृषावादी आदि मानव में बुद्धि होती है और ज्ञान भी होता है। परंतु एक में सद्बुद्धि और दूसरे में दुर्बुद्धि है एक में सम्यक श्रुतज्ञान है, दूसरे में मिथ्याज्ञान है। इसलिए एक ज्ञान से संबोधित होता और दूसरा अज्ञान से संबोधित किया जाता है।

शराब के नशे जैसे मोहनीय कर्म के तीव्रोदय में व उदीर्णा में ज्ञानावरणीय कर्म की तीव्रता बढ़ जाने से मानव के विचारों में गंदापन संकीर्णता-स्वार्थान्धता आदि बढ़ जानेसे उनकी बुद्धि यानि कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी कुत्सित होता है। इसलिए वह ज्ञान मति-अज्ञान और श्रुतअज्ञान शब्द से व्यवहृत होता है।

पीलिया होने से सब कुछ पीला दिखता है, यहां सामने वाले के वस्त्र पीले नहीं पर सफेद हैं, उसी तरह पीले कांच के चश्मे (ऐनक) से भी सफेद वस्त्र पीले दिखते हैं। इन सब बातों में रोग और ऐनक कारणरूप हैं, उस तरह मिथ्यात्व और अज्ञान भी आत्मा का भयंकर रोग है, उसकी विद्यमानता में प्रत्यक्ष दिखनेवाली सत्य वस्तु को भी वह मानने के लिए तैयार नहीं है।

हिंसा-झूठ-मैथुन आदि के पाप और उसके कड़वे फल दिख रहे हैं फिर भी मानव के जीवन में रहे हुए मतिअज्ञान व श्रुतअज्ञान के कारण मानने को तैयार नहीं।

१. मांसाहार निर्दयी आदमी का भोजन है।

२. शराबपान निध्वंस परिणामवालों का कृत्य है।

३. बकरे आदि जानवरों की हत्या क्रूर आदमी का दुष्कृत्य है।

४. जुगार, रमी आदि खेल बेकार आदमीओं का काम है।

इत्यादिक प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पाप में धर्म की भावना अथवा पाप को पाप नहीं मानने की मानसिक दशा में अज्ञान काम कर रहा है।

प्रश्न हे प्रभो! नरक गति के जीवात्मा क्या ज्ञान स्वरूप हैं? अथवा उनका ज्ञान उनकी आत्मा से भिन्न होता है? अभिन्न होता है?

जवाब—भगवंत ने फरमाया कि गौतम! सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से नारक ज्ञान स्वरूप हैं। मिथ्यादर्शन के कारण अज्ञान हैं। सारांश यह कि नरक गति में रहनेवाले जीवों को भी सम्यदग्दर्शन की दुर्लभता नहीं है। क्योंकि कर्मों का उदयकाल प्रायः निमित्त की अपेक्षा रखता है। तब नरक में किन कारण से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है? जवाब में भगवंत ने नीचे दिये हुए कारण से सम्यक्त्व की प्राप्ति कही है।

नरक में सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण :

(१) जाति स्मरण :

'यद्यपि वह जीव विभंग ज्ञान के स्वामी होनेसे एक दो या तीन भवों को देखने की क्षमतावाले होते है, फिर भी मिथ्यात्व के जोर से वैर कर्मों की लेनदेन में समय पूर्ण हो जाने के कारण अपने गत भवों का उपयोग रख नहीं सकते। तथापि किसी जीवों को, भवितव्यता से यह स्मरण होता है कि, पूर्व भव में धर्मबुद्धि से मैं ने अनुष्ठानो का स्वीकार किया था परंतु मोहवश स्वीकारे हुए उन अनुष्ठानों की आराधना नकरते हुए विराधना की है। इसलिए मुझे नरकगति में आना पड़ा है।'

इस तरह पूर्व भव का स्मरण होते ही भान में आये हुए नारकों को सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ होती है।

(२) धर्म श्रवण :

यद्यपि नरक में ऋषि-महर्षि, साधु-संत या पंडित-महापंडित नहीं होते, फिर भी पूर्व भव के स्नेहवश तथा धर्म के राग से बद्ध हुए मित्रदेव नरक में जाकर उनको उपदेश देते हैं और नारक के जीवों को पूर्वभव का ख्याल आते ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(३) वेदानुभव :

अति उत्कट तीन प्रकार की वेदना भुगतनेवाले उन नारकों को, यदि ऐसा ख्याल आवे कि, पूर्व भव में मिथ्यामोह के वश होकर, भयंकर-रीति से आचरे हुए, हिंसा-जूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि के पाप से हजारों, लाखों व करोडों जीवों के साथ वैरानुबंध बांधे हैं, इसलिए उन पापों को, वैर को भुगतने के लिए नरक में उत्पन्न हुआ हूं और दुःख भुगत रहा हूं। यह समजकर सुधि में आये हुए नारक को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इस तरह सम्यक्त्व प्राप्त नारक ज्ञानस्वरूप होते हैं। जब कि उनसे अतिरिक्त जो नारक हैं वे अज्ञानमय होनेसे बार बार कर्म बांधते हैं और भुगतते हैं तथा संसार की वृद्धि करते हैं।

असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार देव तक समजना है। स्थावर-योनिक अनंतानंत जीव मिथ्यादृष्टि होनेसे अज्ञान स्वरूप होते हैं क्योंकि सम्यक्त्व को साथ लेकर कोई भी जीव एकेन्द्रिय को प्राप्त नहीं करता और गाढ़ मिथ्यात्व के कारण सम्यक्त्व को पा नहीं सकता। कहां गया है कि, 'एकेन्द्रिय जीव प्रतिपन्न तथा प्रतिपद्यमान सम्यक्त्ववाले

नहीं होते'। इसलिए मिथ्यात्वी होने के कारण अज्ञान है। और उनका अज्ञान उनके आत्मा से भिन्न नहीं होता।

दोइन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य, वाणव्यंतर, ज्योतिषिक और वैमानिक जीव भी नारक की तरह कभी ज्ञानरूप और कभी अज्ञानरूप होते है।

दर्शन के लिये फरमाते हुए भगवंत ने कहा कि, हे गौतम! आत्मा दर्शनरुप होता है, और दर्शन भी नियम से आत्मा रुप होता है। क्योंकि सम्यगदृष्टि तथा मिथ्यादृष्टी में दर्शन समान होता है। यहां दर्शन से मिथ्यादर्शन शब्द की व्याख्या नहीं होती है, परंतु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होनेवाली दर्शनशक्ति लेनी है।

नारक जीव, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य तथा देवों के जीव भी दर्शन स्वरुपवाले होते हैं।

रत्नप्रभादि की वक्तव्य विशेषता :

प्रश्न-हे प्रभो! रत्नप्रभा पृथ्वी क्या सद्रुप है? असद्रुप है?

कर्मवंश बना हुआ आत्मा प्रतिसमय पर्यायों का स्वीकार करता है। त्याग करता है, इसलिये आत्मा सद्रुप है, क्योंकि सद्रुप पदार्थ भिन्न-भिन्न पर्यायों को प्राप्त करता है, और असद्रुप आत्मा यह नहीं करता। इसलिये गौतमस्वामी ने पूछा कि, क्या रत्नप्रभा पृथ्वी सद्रुप है? या असद्रूप है?

जवाब में परमात्मा ने कहा कि, 'रत्नप्रभा पृथ्वी कथंचित (कुछ अपेक्षा से) सद्रुप यानि आत्मरुप है, और दूसरी अपेक्षा से कथंचित् असद्रूप है और उन दोनों को एक ही समय में कहना हो तो कथंचित् अव्यक्त भी है। सरलार्थ यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी अपने स्वभाव से सद्रुप है और परस्वभाव से असद्रूप है।

कोई भी पृच्छक, अमुक द्रव्य को अस्तित्व पर्याय से तथा नास्तित्व पर्याय से पूछ सकता है। जैसे कि रामलालने रतनलाल से पूछा कि 'केसरीचंद मरके कहां गया? तब जबाब मिला कि पहली नरक में गया है। तब फिरसे प्रश्न हुआ कि, 'पहली भूमि क्या सुखकारी है? वहां के शरीर क्या सुंदर हैं? ३३ सागरोपम, २२ सागरोपम या तीन सागरोपम की आयुष्य मर्यादावाले हैं। वे जीव परस्पर मिल जूल के रहते हैं? परमाधामी वहां जाते हैं? इत्यादि प्रश्नों के जवाब यह कि, नारक अत्यंत दुःखी हैं, कुरुप हैं। एक सागरोपम की आयुष्य मर्यादावाले और परस्पर एक दूसरे के बैरी हैं। परमाधामीओं की वेदनावाले हैं। पूछनेवालेने परभाव रूप से (असद् रूप से) पूछा है और जवाब देनेवाले ने स्वभाव रूप से (सद् रूप से) जवाब दिया है। इस तरह संसार के किसी भी द्रव्य के लिए विधेयात्मक तथा निषेधात्मक रूप से प्रश्न हो सकता है परंतु उत्तरदाता को जिस पद्धती से प्रश्न पूछे गये हैं, उस रीत से ही उत्तर देने होते है। मतलब कि द्रव्यमात्र स्वरुप से सद्रूप है और परभाव से असद्रूप है। यह दोनों एक ही द्रव्य में विद्यमान हैं। भगवान महावीर-स्वामी ने कहा कि, 'हे भाग्यशाली ओ! आप प्रत्येक प्रश्न को दोनों बाजु से देखने की आदत रखोगे तो वस्तु की यथार्थता पा सकोगे अव्यक्त के लिए यह जानना है कि पदार्थ में दोनों रुप विद्यमान होने पर भी यदि कोई मनस्वी प्रश्नकर्ता यह पूछता है कि, 'रत्नप्रभा पृथ्वी में दोनो दृष्टी हैं फिर भी एक ही वक्त एक साथ कहना हो तो कैसे कहां जाय?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'शब्द आकाश गुण नहीं है, पर पुद्गल होने से उनकी उत्पत्ति क्रमशः होती है, लेकिन एक ही वक्त में ज्यादा शब्द बोले नहीं जाते। इसलिए अव्यक्त शब्द का व्यवहार करना, यानि कि रत्नप्रभा पृथ्वी कथंचित् अवक्तव्य है, अर्थात् निरंशकाल सर्वथा नाजुक होने से जिस वक्त सद्रुप शब्द का व्यवहार किया जाता है, उसी वक्त असद्रुप शब्द बोलने के लिये अतीन्द्रियज्ञानी भी समर्थ नहीं होते, तो

दूसरों की बात ही क्या ? यह बात अपने आत्मत्व तथा अनात्मत्व की अपेक्षा से समझनी है । अर्थात् रत्नप्रभा पृथ्वी अपने गुण, पर्याय व नाम की अपेक्षा से सद्रुप है । परंतु दूसरी शर्करा प्रभा आदि के गुण पर्याय तथा नाम की अपेक्षा से असद्रूप है ।

अवक्तव्यता यानि रत्नप्रभा में अस्तित्व और नास्तित्व रूप दोनों का सर्वथा अभाव तथा अवाच्यत्व होता है, यह नहीं समझना है, परंतु वे दोनों पर्याय एक समय में बोले नहीं जाते इसलिए उनका अवक्तव्य शब्द से व्यवहार किया गया गया है। इस तरह आगे भी समजना तथा दूसरी पृथ्वी, अनुत्तर विमान तक के देवलोक और पुद्गल के लिए भी समजना ।

द्विप्रदेशिक स्कंध के लिए नीचे दिये हुए छः भांगे हैं । कथंचित् असत्, कथंचित अवक्तव्य, अथंचित् उभयात्मक, कथंचित् सत् अवक्तव्य, कथंचित् असत् अवक्तव्य । जबकि त्रिप्रदेशिक के लिए सात भांगे जानने हैं शेष मूलसूत्र से ज्यादा जानने की शिफारिश की गई है ।

॥ शतक १२ का उद्देशक १० पूर्ण ॥

समाप्ति वचनम्

जगतपूज्य नवयुगवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य स्व. श्री. १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी म. (काशीवाले) के शिष्य अद्वितीय वक्तृत्व शक्तिधारक, प्रासादिक लेखन सामग्री के स्वामी, ऐतिहासिक, धार्मिक, आगमीय आदि ग्रंथों के सर्जक, पंच महाव्रतों के पालक, अहिंसासंयम के प्रचारक, शासनदीपक, स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. सा के शिष्य, न्याय, व्याकरण, काव्यतीर्थ, भगवतीसूत्रादि आगमों के योगोद्वाहक, पन्यासपदविभूषित, गणिवर्य श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमारश्रमण) ने अपने स्वाध्याय के लिए तथा भवभवांतर में सम्यग्ज्ञान के संस्कारों की प्राप्ति हो, इसके लिये भगवती सूत्र जैसे गहनातिगहन, आगम सूत्र के बारहवें शतक का दस उद्देशकों के साथ समापन किया है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्
जैनत्वं प्राप्नुयुः सर्वे जीवाः ॥

॥ शतक १२ वां पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक–१

हेय (त्याग करने योग्य), उपादेय (स्वीकार करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थों का तलस्पर्शी ज्ञान केवलज्ञानी परमात्माओं को ही होता है, क्योंकि अनंत संसार में स्थित दृश्य पदार्थ भी अरिहंत देवके बिना दूसरों को पूर्णरूप से दृश्य नहीं होते हैं। तो अवश्य अदृश्य पदार्थों उनके स्थान, उनकी आयुष्यमर्यादा, उन स्थानों से जीवों का निष्क्रमण या प्रवेश आदि चर्मचक्षुओं के लिये अप्रत्यक्ष होने से उनका वर्णन यथार्थरूप से वे कैसे कर जायेंगे ?

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं, आगमगम्य और तर्कगम्य। आगमगम्य को सिद्ध करने के लिये तर्क, अनुमान, हेतु आदि का उपयोग करना सर्वथा अनुचित ही नहीं अक्षम्य अपराध भी है।

प्रत्यक्ष संसारके अनेक पदार्थों को, पूर्वजों के कहने से सत्य मानना पड़ता है, तो फिर सर्वथा अप्रत्यक्ष पदार्थों को जानने वाले केवली परमात्मा में श्रद्धा रखकर सत्यरूप में स्वीकारने में क्या आपति है ?

जहां तक हमारी बुद्धि की पहुंच है वहां तक और अंत में श्रद्धा से भी अरिहंत के वचन को सत्य मानने में ही बुद्धिमत्ता है।

देवाधिदेव, चरम तीर्थंकर, भगवान महावीर स्वामी और उनके सान्निध्य में रहने वाले केवलज्ञानी, चतुर्ज्ञानी, तपस्वी महातपस्वी मुनि महाराज और शियलकी साक्षात् मूर्तिसभ साध्वीजी महाराजों की चरणरज से पवित्र बनी हुई राजगृही नगरी में समवसरणकी स्थापना हुई है। उसमें विराजमान भगवंत के चरणों में इन्द्रों, देवों, राजा-रानी,

सेठ-सेठानी के अलावा अगणित मानवसमुदाय उपस्थित होकर भाववंदन-सह द्रव्यवंदनकर सब उचित स्थानपर बैठ गये हैं। भगवंत ने देशना देते हुऐ फरमाया कि, 'हे जीवात्माओं अनंत, अगाध और अगम्य संसार में चारों गतियां अनादिकाल से हैं और अनंतकाल तक रहेगी। उनमें जानेवाले और उनमें से बाहर आनेवाले जीव भी अनादिकाल से अनंतानंत हैं और अनंतकाल तक अनंतानंत संख्या में रहेंगे। उन चारों गतियों में नरकगति भी शाश्वती है, जिसमें रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमस्प्रभा और तमस्तमप्रभा नाम की सात नरक पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं, जो संख्यात योजनके विस्तारवाले और असंख्यात योजनके विस्तारवाले भी हैं।

प्रश्न : हे प्रभो! रत्नप्रभा के संख्यात योजनके विस्तारवाले ३० लाख नरकावासों में एक समय में कितने जीव जन्म लेते हैं?

(१) कापोत लेश्या के मालिक कितनी संख्या में जन्म लेते हैं।

(कृष्णलेश्यावाले जीव छठवी और सातवीं नरक में जाते हैं, और कापोत लेश्यावाले जीव रत्नप्रभा में जाते है।)

(२) जिनका संसार अर्धपुद्गल परावर्त से भी ज्यादा होता है वैसे कृष्णपाक्षिक जीव कितने हैं?

(३) शुक्लपाक्षिक जीव कितनी संख्यामें नरक में जन्म लेते हैं?

इस तरह संज्ञी, असंज्ञी, भवसिद्धिक, अभवसिध्दिक, आभिनिबोधिक (मतिज्ञानी), श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मतिअज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, आहारसंज्ञी, भय-संज्ञी, मैथुनसंज्ञी, परिग्रहसंज्ञी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसक, क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, श्रोत्रेन्द्रियोपयुक्त, चक्षुरिन्द्रियोपयुक्त, घ्राणेन्द्रियो-पयुक्त, स्पर्शेन्द्रियोपयुक्त, नोइन्द्रियोपयुक्त, मनोयोगी, वचनयोगी, काय-

योगी, साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी इस तरह ३९ प्रकार के जीव नरक में जघन्य से और उत्कृष्ट से कितनी संख्या में जन्म लेते हैं ?

उत्तर देते हुए भगवंत ने फरमाया कि 'हे गौतम ! रत्नप्रभा की प्रथम नरक भूमि के संख्यात योजन वाले ३० लाख नरकावासों में जघन्य से एक समय में, एक, दो या तीन जीव उत्पन्न होते हैं और उत्कृष्ट से अर्थात् ज्यादा से ज्यादा संख्यात जीव जन्म लेते हैं। अनंतानंत जीवराशि में जन्म-मरण पर्व जीवों के लिये अनिवार्य और नियत होने से एक समय में एक जीव से लेकर संख्यात तक के जीव पहली नरक में जन्म-मरण करते हैं।

नरक गति है, इससे उसमें जानेवाले जीव भी हैं। इसीलिये नरक गति भी सर्वदा सबके लिये खुली है। कर्म सत्ता को किसी की भी शर्म नहीं है। जिनके चलने से धरती कंपायमान होती हो, जो अपनी मूछ पर नींबू रखनेवाले हो या हीरा-मोती के आभूषणों से आभूषित हो इत्यादि सब जीव यदि मनुष्यगति में जन्म लेकर नरक गति के योग्य कर्म करेंगे तो इन सबको नरक गति में जाने से कोई भी नहीं रोक सकते। मनुष्य या तिर्यंच गति के जीव यदि वे कापोतलेश्या में रमण करने वाले हों तो उक्त संख्या में नरक में जायेंगे। इस तरह कृष्ण पाक्षिक, शुक्ल पाक्षिक, संज्ञी असंज्ञी, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, मतिज्ञानी, श्रुतिज्ञानी (जिनमें चतुर्दश-पूर्वधारी और ग्यारहवें गुणस्थानक के जीव भी समाविष्ट हैं। अवधिज्ञानी, विभंगज्ञानी, श्रुतअज्ञानी, जीव भी ऊपर की तरह जघन्य से और उत्कृष्ट से नरक में जाने वाले हैं।

नोंद :—सम्यग्दर्शन को स्पर्शना आत्मा को हुए बिना सम्यक् श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति होती नहीं है। इसलिये सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के बाद अथवा उसकी हयाती तक अथवा उससे पतित होकर जहां तक जीव मिथ्यात्व गुणस्थानक तक न आवे तब तक कोई भी जीव नरक का आयुष्य

बांध नहीं सकता। तो इस प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में यह बात समझने की है कि किसी जीवात्मा ने मिथ्यात्व की अवस्था में आरंभ-समारंभ के कारण नरकायुष्य उपार्जन किया हो और बाद में सम्यक्त्व की प्राप्ति होते हुए भी वह जीवात्मा नरक गति में जा सकती है। इसीलिये कहा है कि—

'श्रेणिक जैसा तुम अनुरागी, तो भी कर्म की बेड़ी न तोड़ी।'

अवधिज्ञानी देव की आत्मा देवलोक से सीधी कारणाभाव से नरक में नहीं जाती परंतु मनुष्य या तिर्यंच जीव को तपश्चर्यादि कारण से अवधिज्ञान हुआ हो तो भी चारित्रगुण की शुध्दि के अभाव से नरक गति में जाने की संभावना है। मतिज्ञानी आत्मा चाहे जितनी भी बुध्दिमान हो, तर्कवाद के द्वारा दूसरे को परास्त करनेवाली हो अथवा चाहे जितने विकट प्रसंग में भी अपनी बुध्दि से मार्ग निकालने वाली हो तो भी यदि वह चारित्रशुद्ध नहीं है तो उसके लिये भी नरक की संभावना है।

चक्षुदर्शनी जीव नरक में नहीं जाते हैं क्योंकि वह भव पूर्ण होने से चक्षुरिन्द्रिय का भी त्याग अवश्य होने से उस जीव को नरक नहीं है। तो भी इतना समझना चाहिये कि चाहे आंख नींबू की चीर जैसी या काजल से भरी हो, कान भी लम्बे हो, जीभ भी अच्छी हो, स्पर्शेन्द्रिय मक्खन जैसी मुलायम हो तो भी इनके विषयों को भोगने में चारित्रशुध्दि का लक्ष्य नहीं रखा जाय तो भले ही इन्द्रियां दूसरे जन्म में साथ न दें तो भी आत्मा को तो नरक गति ही मिलेगी और अचक्षुदर्शनी को नरक का विधान है। इधर अचक्षुदर्शन से इन्द्रिय निरपेक्ष सामान्य उपयोग प्रतिपाध है। नरक में उत्पत्ति होते समय उसका सद्भाव है। इसीलिये अचक्षुदर्शनी को नरक कहा है। अवधि दर्शनी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के मालिक कापोत लेश्या के समय आयुष्य बंध करे तो रत्नप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं।

पुरुषवेद या स्त्रीवेद के स्वामियों को नरक नहीं है लेकिन नपुंसक वेदी को नरक है।

क्रोधी, मानी, मायी और लोभी जीव नरक में जाते हैं। पांचों इन्द्रियां मरण के बाद साथ में नहीं रहती हैं, इसीलिये इन्द्रियोपयुक्त जीव नरक में नहीं जाते हैं और नोइन्द्रिय मनरूप होने से भाव मन का स्वामी नरक में जाता है। नरक में उत्पन्न होता हुआ जीव अपर्याप्त होने से मन वचनवाला नहीं होने से मनोयोगी, वचनयोगी जीव नरक में नहीं जाता है। लेकिन सूक्ष्म शरीर हमेशा साथ में रहता है इसलिये काययोगी को नरक कहीं है। इस तरह साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी जीव भी नरक में जाते हैं। इनकी संख्या जघन्य से एक से तीन तक और उत्कृष्ट से संख्यात समझना।

नरकों में उत्पादक नामक विषय समाप्त

उद्वर्तना विषयक वक्तव्यता :

रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरकभूमि के संख्यात योजन वाले ३० लाख नरकावासों में से एक समय में नरकायुष्य पूर्ण करके कितने जीव नरक से बाहर आते हैं ? इधर भी उत्पाद की तरह ३९ प्रकारों से निर्णय करने का है।

प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम ! उत्पाद की तरह जघन्य से एक, दो या तीन जीव और उत्कृष्ट से संख्यात जीव एक समय में कापोतलेश्या वाले, कृष्ण और शुक्लपाक्षिक और संज्ञी जीव नरक भूमि का त्याग कर बाहर आते हैं। असंज्ञी जीवों की उद्वर्तना इसलिये नहीं है कि वह पर भव के प्रथम समय में ही होती है और नारक जीव वहां से मरकर असंज्ञी भव नहीं करते है।

भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, नरक की तरह समझना, लेकिन नरकगति से आयुष्यक्षय के समय में विभंग ज्ञान और चक्षुदर्शन का अभाव होने से उद्वर्तना नहीं होती है। अचक्षुदर्शन के जीव और अवधिदर्शन की आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञी, पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदी और चारों कषायोंवाले जीव भी कापोतलेश्या की तरह समझना। पांचों इन्द्रियोंवाले जीवों की इंद्रियां वहीं ही समाप्त हो जाने से उद्वर्तना नहीं है। नोइन्द्रिय, काययोगी (कर्मण शरीर की अपेक्षा) तथा साकार और अनाकारोपयोगी जीव नरक से उद्वर्तित होते हैं लेकिन मनोयोगी, वचनयोगी जीवों का उद्वर्तन नहीं है।

नरक में नारक के जीवों की कितनी संख्या ?

हे प्रभो ! प्रथम भूमि के संख्यात योजन वाले ३० लाख नरकावासों में नारक जीव कितनी संख्या में हैं ? अर्थात उत्पाद और उद्वर्तना में कहे हुए ३९ प्रकार के जीव निम्नलिखित भेदों में कितने हैं ?

१. अनंतरोपपन्नक : नरक गति में उत्पन्न होने के प्रथम समय के नारक जीव कितने हैं ?

२. परंपरोपपन्नक : उत्पन्न हुए दो समय से अधिक समय हुआ हो ऐसे जीव कितने हैं ?

३. अनंतरावगाढ : विवक्षित क्षेत्र में प्रथम समय में अवगाढ अर्थात हाजिर कितने ?

४, परंपरावगाढ : विवक्षित क्षेत्र में परंपरा रूप में जिनकी हाजरी में दो समयादि हुए हों ऐसे जीव कितने हैं ?

५. अनंताहार : नरक में जन्म समय में ही आहार लेने वाले जीव कितने हैं ?

६. परंपराहार : दो आदि समय में आहार लेने वाले जीव कितने ?

७. अनंतर पर्याप्तक : प्रथम समय में पर्याप्तक कितने ?

८. परंपरा पर्याप्तक : दो आदि समयों में पर्याप्तक कितने ?

९. चरम शरीर : अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जिनका अंतिम भव नरक गति का हो उनमें सिद्धशिला को प्राप्त करने वाले जीव कितने ?

१०. अचरम शरीर : अधिक भव करने वाले जीव कितने ?

अनंत संसार की अनंत माया को प्रत्यक्ष देखनेवाले भगवान महावीरस्वामीने यह फरमाया है कि, 'हे गौतम, रत्नप्रभाके संख्यात योजनवाले ३० लाख नरकावासों में कापोतलेश्या, कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक, और संज्ञी नारकों संख्यात होते हैं। असंज्ञी नारकों कभी होते हैं, कभी नहीं होते हैं। जब होते हैं तब जघन्य से एक दो या तीन और उत्कृष्ट से संख्यात होते हैं। क्योंकि नरक में जाने से पहले असंज्ञी होने से अपर्याप्त अवस्था के कारण असंज्ञी कहे हैं। इसलिये उनकी संख्या अल्प है। भवसिद्धिक, अभवसिध्दिक, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी विभंगज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, चारों संज्ञा के जीव, नसपुंकवेदी और क्रोध कषायी जीव संख्यात हैं। पुरुषवेदी और स्त्रीवेदी जीव नहीं होते। महाभयंकर पापकर्म करनेवाले जीवों को नरक में नपुंसक वेद ही भोगनेका होता है। और उनको मारकूट, वैरविरोध कर्मों के उदयसे क्रोध की संभावना होती है, लेकिन मानकषाय कभी होता है कभी नहीं होता है।

प्रत्यक्ष संसार में भी हम अनुभव करते हैं कि भयंकर में भयंकर पापकर्मों को भोगनेवाले या पापकर्मों की उदीर्णा में पूर्ण मस्त रहनेवाले जीवों को मान-अपमान या स्वमान जैसा कुछ नहीं होता है। जैसे :—

(१) गणिका कर्म – परस्त्रीगमन या परपुरुषगमन करनेवाले को अपने पुरुषत्व का या स्त्रीत्व का या खानदान धर्म का स्वाभिमान हो ऐसा किसी ने देखा है ?

(२) कसाई, शिकारी, शराबी, जुआरी, तथा रमी खेलनेवाले जीवात्माओं में स्वाभिमान जैसा कुछ भी देखने में नहीं आता है बल्कि मिथ्याभिमान तो अवश्य दिखेगा।

(३) झूठे तौल-नाप :—ब्याज के धंधे करनेवालों में तथा दान-चोरी या राज्यविद्ध कर्मों के करनेवालों में तथा कसाई, शराबी, दुराचारिओं के साथ व्यापारादि करके जीवन यापन करनेवालों में अपने आर्यत्व का या जैनत्व का रत्तिमात्र भी अभिमान किसी ने देखा है ?

केवल मिथ्याभिमान; हठाग्रह, दुराग्रह, समाज में भांडाफोड करने के कुलक्षण के सिवाय दूसरा कुछ भी देखने में नहीं आता है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह जान सकते हैं कि ऐसे जीव मनुष्य भव पूंकर जब नरक के अतिथि बनते हैं तब उनमें अभिमान कैसे हो ? अथवा हो तो भी अप्रत्यक्ष होता है। उपर्युक्त पांचों इंद्रियवाले मायी और लोभी जीव संख्यात होते हैं। नोइंद्रिय जीव असंज्ञी की तरह समझना। मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी, साकारोपयुक्त, और अनाकारोपयुक्त जीव प्रथम पृथ्वी में एक से संख्यात तक होते हैं। अनंतरोपयुक्त जीव असंज्ञी की तरह समझना।

परंपरोपयुक्त नारक संख्यात हैं। इस तरह अनंतरावगाढ़, अनंतराहारक तथा अनन्तर पर्याप्तक जीव भी असंज्ञी की तरह समझना और परंपरावगाढ़, परंपराहारक तथा परंपरा पर्याप्तक जीव कापोत लेश्या की तरह समझना।

असंख्यात योजन विस्तृत रत्नप्रभा का वर्णन :

रत्नप्रभा पृथ्वी के असंख्यात योजन विस्तारवाले ३० लाख नरकावासों में उत्पाद, उद्वर्तना और सत्ता के तीनों आलापकों में जघन्य से एक दो या तीन और उत्कृष्ट से असंख्यात नारक समझना। वह कापोत लेश्या से लेकर अनाकारोपयुक्त तक के ३९ भेदों के जीव पूर्ववत् समझना। केवल अवधिज्ञानी या अवधि दर्शनी जीव प्रायः करके तीर्थंकर होने के कारण उनके तीनों आलापकों में संख्यात शब्द का प्रयोग करना। क्यों कि। तीर्थंकर असंख्यात नहीं होते है परन्तु संख्यात होते हैं।

शर्कराप्रभा से तमस्तमप्रभा तक का वर्णन उपर्युक्तानुसार जानना। असंज्ञी जीव रत्नप्रभा से आगे नही जा सकते हैं, इसलिये तीनों आलापक शर्करा प्रभा में नहीं होते हैं।

मन को प्राप्त हुए पंचेन्द्रिय मनुष्यों के पास तलवार, भाले आदि शस्त्रों से भी खतरनाक मन से हुए पाप के कारण मनुष्य सातवीं नरक भूमि तक भी जा सकते हैं। असंज्ञी जीवों को मन नहीं होता है। इसलिये वे यदि नरक में जाय तो प्रथम नरक भूमि से आगे नहीं जा सकते हैं। इन सब बातों को ख्याल में रखकर ही आध्यात्मिक महापुरुष कहते हैं कि, 'शरीर, इन्द्रिय, वेषभूषा या बाह्यपुद्गलों के ठाठ को सजाने के बदले तुम अपने मन को ही अच्छा और सच्चा शिक्षण देना। जिससे संस्कृत हुआ तुम्हारा मन तुम्हारा कल्याण करेगा। तुम जिस सोसायटी, संस्था या कल्याण ट्रस्ट के सभ्य होगे वहां भी आध्यात्मिकता का वातावरण उत्पन्न कर सकेंगे।' अन्यथा कुसंस्कारी, दुराचारी तथा मिथ्या मोहमाया से वासित तुम्हारा मन तुम्हें ईर्ष्यालु, क्रोधी, मैथुनी, परिग्रही, मायावी, प्रपंची और क्लेशित बनायेगा। इससे तुम अपने विनाश को निमंत्रण दोगे। और जिस संस्था के तुम सेक्रेटरी, प्रमुख मेम्बर, खजांनची या सामान्य संचालक होंगे उस संस्था को संपूर्ण रूप से

डुबा देने का पाप तुम्हारे सिरपर आयेगा। उन पापों के कारण नरक की ओर प्रस्थान करते तुम्हें कोई भी संस्था या ट्रस्ट नहीं रोक सकेंगे।

वालुकाप्रभा पृथ्वी के ३५ लाख आवास हैं। उनमें कापोत और नील लेश्या के मालिकों का उत्पाद है। पंकप्रभा पृथ्वी के ३० लाख आवासों में अवधिज्ञानी और अवधि दर्शनी की उद्वर्तना होती नहीं है। कारण कि सामान्य रीति से तीर्थंकर का जीव अवधिज्ञानी होता है। इसलिये उनके लिये चौथी नरकभूमि में उत्पाद भी नहीं है और उद्वर्तना भी नहीं है।

रावण ने तीर्थंकर गोत्र नहीं बांधा हैं :

बहुत स्थलोंपर 'रावण ने अष्टापदतीर्थपर तीर्थंकर गोत्र बांधा है।' ऐसा जो कहा गया है वह सामान्य प्रकार से समझना निश्चयात्मक रूप से नहीं, क्यों कि द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवतीसूत्र के अनुसार तीर्थंकर गोत्र बांधनेवाला जीव चौथी नरक में नहीं जाता है और वहां से बाहर आकर तीर्थंकर पद प्राप्त नहीं करता है। रावण और लक्ष्मण अभी चौथी नरक में हैं। दूसरी बात यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना कोई भी जीव प्रायः करके तीर्थंकर गोत्र नहीं बांधता और रावण का जीव अबतक क्षायिक सम्यकत्व का मालिक बनने के लिये भाग्यवान नहीं हुआ है। क्योंकि उसको अभी भी १५-१६ भव बाकी है। क्षायिक सम्यकत्व का मालिक नियमा तीसरे भव में मोक्ष में जानेवाला होता है। कृष्ण महाराज पांचवे भव में और एकाध जीव की अपेक्षा से सातवें भव में भी मोक्ष कहा गया है। इससे रावण ने तीर्थंकर गोत्र बांधा यह वचन केवलज्ञानी के कथन के अनुसार केवल व्यवहारनय से मानना।

धूमप्रभा में तीन लाख आवासों में नील तथा कृष्ण लेश्या के जीव हैं।

तमस्प्रभा के ९९,९९५ आवासों में कृष्ण लेश्या के जीव हैं।

सातवीं नरक के पांच नरकावासों में तीव्रतम कृष्णलेश्या है। यह भूमि, काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान नाम से संख्यात और असंख्यात योजन विस्तृत है और सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए जीवों का ही उत्पाद होने से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी का जन्म नहीं होता है, क्यों कि सम्यग्दर्शन के अभाव में चाहे कितना भी सम्यग्ज्ञान हो तो भी मिथ्याज्ञान में परिवर्तित होता है। बेशक, मिथ्यात्व के कारण सातवीं नरक में गये हुए जीवात्माओं को निमित्त पाकर पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्ति की संभावना है, बाद में उनका मिथ्याज्ञान फिर से सम्यग्ज्ञान हो जाने के कारण वहां भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान की सत्ता संभवित है।

हे गौतम, रत्नप्रभा के संख्यात योजनवाले ३० लाख नरकावासों में मिश्र दृष्टिवाले जीवों का उत्पाद और उद्वर्तन नहीं होते हैं, लेकिन सत्ता की अपेक्षा विद्यमानता हो सकती है और नहीं भी हो सकती। अगर हो तो जघन्य से तीन तक और उत्कृष्ट से संख्यात समझना।

लेश्या परत्वे नारक वक्तव्यता :

जीव मात्र को मरण के समय जिस लेश्या का उदय होता है उसी के अनुसार सद्गति या दुर्गति होती है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या दुर्गति दायक है और तेज, पद्म शुक्ल, लेश्या सद्गति प्रापक है। इसका वर्णन प्रथम भाग में दिया गया है, फिर भी संक्षेप में यहां दिया जाता है।

१. कापोत लेश्या में मरनेवाला पहली नरक में जाता है।

२. तीव्रतर कापोत लेश्या में मरनार के लिये दूसरी नरक है।

३. कुछ कापोत और कुछ नील लेश्याओं के मालिक के लिये तीसरी नरक का द्वार उद्घाटित है।

४. नील लेश्या का मालिक चौथी नरक का अतिथि है।

५. कुछ नील और कुछ कृष्ण लेश्या में मरता हुआ मनुष्य पांचवीं नरक में जाता है।

६. तीव्रतर कृष्ण लेश्यावाला मरकर छठवीं नरक में जाता है।

७. तीव्रतम कृष्ण लेश्यावाला सातवीं नरक में जाता है।

फिर भी अनेक निमित्तों अथवा ऐसे वातावरण से युक्त जीवात्मा के लेश्या स्थानक प्रतिसमय बदलते भी रहते हैं। इससे नील और कृष्ण लेश्या के स्वामी चंडकौशिक नागराज को पद्म लेश्या की झांकी होते ही देवलोक की प्राप्ति हुई। पद्म लेश्या के मालिक संगम देव को कुतूहल के कारण अशुभ लेश्या हुई और करुणासागर भगवंत श्री महावीर स्वामी को प्राणघातक उपसर्ग करने की हीनवृत्ति हुई।

इन सब बातों को लक्ष्य में लेकर श्री गौतम स्वामी के पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम लेश्या के अध्यवसायों के कारण आत्मा में भी शुद्धि अशुद्धि के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। अन्यथा प्रसन्नचंद्र राजर्षि सातवीं नरकतक कैसे पहुंचे? और फिर केवलज्ञान के मालिक कैसे हुए? भावशुद्धि में मुनिराज को गोचरी देते हुए एक वृद्धा ने एक के बाद एक देवलोक को कैसे पाया? और लेश्या में परिवर्तन होने से वृद्धा की पीछे हठ कैसे हुई? अत्यंत समताप्रधान साधक को तुमने किसी समय क्रोधावेश में आते हुए देखा है? या उससे विपरीत फड़कते होठ, लाल टमाटर जैसी आंखे, हाथपांव का चांचल्य और इससे आगे बढ़कर चरवले की उंडी का उपयोग दूसरे को मारने के लिये या धमकाने के लिये नहीं होता है क्या? शियल को ही संपत्ति मानने वाला साधक जब रूपवान और जवानी के झूलेपर झूलनेवाले

पात्र प्रत्यक्ष करता हैं तब कर्मग्रन्थ की गाथाऐं जीभ पर रहते रहते भी साधक के हाथपांव, आँख के इशारों के साथ भाषा का परिवर्तन कभी देखने लायक होता है।

श्री महावीर स्वामीजी ने कहा कि, 'हे गौतम इसी कारण से ही पद्म लेश्या, तेजोलेश्या या शुक्ललेश्या में लीन साधक को निमित्तों का साथ मिलते ही या निमितों की उदीर्णा के समय में कृष्ण लेश्यादि को आने में देर नहीं लगती है और कृष्णादि अशुभ लेश्याओं में झोला खाता हुआ मानवी यदि किसी समय में संत समागम और प्रभुभक्ति में बैठकर मस्त होता है तब शुद्ध लेश्या को प्राप्तकर एक निमेष में अपना आगामी जन्म सुधार सकता है।

यहां नरक का विषय होने से मनुष्य अवतार में रहनेवाला साधक प्राणातिपातादि द्रव्य पाप और क्रोधादि भावपाप में प्रवेश करता हुआ उसी समय के लिये कृष्णादि लेश्या से युक्त होकर आयुष्य का बंध करे तो उसके लिये नरक के सिवा दूसरा स्थान नहीं है। इसीलिये उत्तरा ध्ययन सूत्र में कहा गया है कि, 'गौतम' दीर्घायुष्यवाले मेरे गौतम! तुम समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना!

परम कारुणिक भगवान महावीरस्वामी की स्वच्छ और सूक्ष्म बुध्दि से ग्राह्या ऐसी पवित्र वाणी सुनकर गौतम आदि पर्षदा अतीव प्रसन्न हुई और स्वस्थान प्रति चली गई।

॥ शतक १३ का उद्देशक १ पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक–२

देवलोक संबंधी वर्णन :

श्री गौतमस्वामीजी ने प्रभु महावीरस्वामीजी से यह प्रश्न पूछा कि, 'हे प्रभो, देवों के कितने प्रकार हैं ?' उसके प्रत्युत्तर में भगवंत ने कहा कि, 'देव चार प्रकार के हैं :

१. भवनपति २. व्यंतर ३. ज्योतिषी ४. वैमानिक।

१८०००० योजन की स्थूलतावाली प्रथम भूमि के दस हजार योजन नीचे जाने के बाद भवनपति के भवन हैं। उनके दस भेद हैं। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, विद्युतकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, वायुकुमार, दिशाकुमार और स्तनितकुमार और वानव्यंतर आठ प्रकार के ज्योतिषीक देव पांच प्रकार के, वैमानिक देव बारह प्रकार के, ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के और अनुत्तर विमान पांच प्रकार के हैं। इनकी विस्तृत चर्चा प्रथम हो चुकी है।

श्री गौतमस्वामीजी के प्रश्न से भगवंत ने कहा कि 'असुरकुमारों के ६४ लाख आवास असंख्यात योजनवाले हैं। जो सबसे छोटे भवन हैं वे जम्बूद्वीप जितने बड़े हैं। मध्य के संख्यात योजन के और शेष भवन असंख्यात योजन के समझना।

उत्पाद के बारे में वक्तव्यता :

भगवंत ने कहा कि, 'प्रथम उद्देशक में नारकों के लिये जो कहा गया है वह यहां भी समझना अर्थात् लेश्या से लेकर अनाकारोपयोगयुक्त तक जघन्य से एक, दो, तीन और उत्कृष्ट से संख्यात तथा असंख्यात समझना

मात्र नपुंसक वेद के मालिकों का उत्पाद देवलोक में नहीं है। क्योंकि देव-भूमि पुण्य और भोगभूमि होने से इधर पुरुषवेद और स्त्रीवेद के स्वामी ही जन्म लेते हैं। उद्वर्तना के बारे में समझना कि असंज्ञी जीव भी देवलोक में से उद्वर्तित होते हैं। भगवंत ने कारण देते हुए फरमाया कि, 'असुरकुमार से लेकर सब भवनपति व्यंतर, ज्योतिषी और प्रथम तथा द्वितीय देवलोक के देव विषयवासना में अत्यन्त लम्पट होने से और भोग-कर्म में तत्कालीन पुण्यकर्मों का उनका दिवाला निकल जाने से वहां से च्यवन करके असंज्ञी पृथ्वीकायादि में उत्पन्न होते हैं, जहां से तीर्थंकर परमात्माओं की अगणित चौबीसियां पूर्ण होने पर भी बाहर नहीं निकल पाते।

तीर्थंकर परमात्मा भी देवयोनि का त्यागकर मनुष्यावतार प्राप्तकर तीर्थंकर होते हैं, परंतु वे असुरकुमार जैसी निकृष्ट देवयोनि में से उद्वर्तित नहीं होते हैं। इसलिये अवधिज्ञानी और अवधिदर्शनी जीव जो प्रायः करके तीर्थंकर होते हैं उनकी उद्वर्तना निषेध की गई है।

असुरकुमार देवलोक में स्त्रीवेद और पुरुषवेदक जीव संख्यात कहे हुये हैं। देवलोक में लोभ-कषायी जीव होते हैं परंतु क्रोध, मान और माया कषायवाले जीव कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं। जो होते हैं तो जघन्य से एक, दो या तीन और उत्कृष्ट से संख्यात होते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या इन चार लेश्याओं की सद्-भावना है।

असंख्यात योजन विस्तृत असुरवासों में उत्कृष्ट से असंख्यात समझना, शेष नरक की तरह समझना।

आवासों की संख्या :

	उत्तर दिशा में	दक्षिण दिशा में	कुल संख्या
असुरकुमार	३० लाख	३४ लाख	६४ लाख
नागकुमार	४० लाख	४४ लाख	८४ लाख
सुवर्णकुमार	३४ लाख	३८ लाख	७२ लाख
वायुकुमार	४६ लाख	५० लाख	९६ लाख
शेष सर्व में	३६ लाख	४० लाख	७६ लाख

पृथ्वी में स्थित मेरु पर्वत की अपेक्षा से भवनपतियों के आवास भी उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा में विभक्त हो जाने से ये भेद हुये हैं।

वान व्यंतरों के आवास असंख्यात लाख कहे हैं। उनका विस्तार संख्यात योजन का है। उनमें भी जो सबसे छोटे हैं वे भरत क्षेत्र के समान ५२६ योजन के हैं। मध्य के आवास महाविदेह क्षेत्र तुल्य हैं। सबसे बड़े आवास जम्बूद्वीप जितने बड़े हैं। उत्पाद, उद्वर्तना का और सत्ताविषयक वर्णन असुरकुमार की तरह समझना।

ज्योतिष देवों के आवास असंख्यात लाख कहे हैं। उत्पाद, उद्वर्तना और सत्ता व्यंतरों की तरह जानना। मात्र ये देव तेजोलेश्या के स्वामी ही हैं।

सौधर्म देवलोक के ३२ लाख विमानवास संख्यात और असंख्यात योजनवाले हैं। तीनों आलापकों को पूर्ववत जानना और अवधिज्ञान के स्वामी तीर्थंकरों का च्यवन विशेष समझना।

क्योंकि तीर्थंकर देव वैमानिक देवलोक से च्यवकर मानवशरीर धारण करते हैं। असंख्यात योजन विस्तारवाले विमानवासों में से अवधिज्ञानी

अवधिदर्शनी असंख्यात नहीं लेकिन संख्यात प्रमाण में च्यवते हैं क्योंकि तीर्थंकर संख्यात होते हैं। ईशान-सनत्कुमार को भी पूर्ववत जानना। मात्र सनत्कुमार नाम के देवलोक में स्त्रीवेदक उत्पन्न नहीं होते हैं और असंज्ञी जीव भी यहां नहीं होते हैं। क्योंकि इस देवलोक में संज्ञी जीव ही उत्पन्न होते हैं और उद्वर्तित होते हैं।

महेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र और सहस्रार पर्यन्त कल्पों में भी पूर्ववत जानना और बारह कल्पों में विमानों की संख्या 'सकलतीर्थ' सूत्र से समझना।

प्रथम और दूसरे में तेजोलेश्या, चौथे और पांच में कल्प में पद्मलेश्या और उसके बाद शुक्ललेश्या होती है

अनंत में ४०० विमानवास संख्यात और असंख्यात योजन के हैं और आरण तथा अच्युत में ३०० विमानवास हैं। ग्रैवेयक में ३१८ हैं और अनुत्तर विमान पांच कहे हैं। विशेषता इतनी है कि अनुत्तर विमान में कृष्णपाक्षिक, अभवसिद्धिक, मतिअज्ञानी या श्रुतअज्ञानी या विभंगज्ञानी का उत्पाद नहीं है, च्यवन नहीं है, सत्ता भी नहीं है।

॥ शतक १३ का उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक-३

देवों की परिचारणा :

चारों निकाय के देव मैथुन संज्ञा के मालिक हैं, इससे उनको भी परिचारणा (मैथुन) होती है, इसका वर्णन प्रथम भाग में दिया गया है।

नारक जिस समय में नरक में उत्पन्न होते हैं उस समय में आहार लेते हैं और शरीर की रचना करते हैं। परिचारण के लिये प्रज्ञापनासूत्र ३४ वां पद देखना।

॥ शतक १३ का तीसरा उद्देश पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक-४

नरकगति की विशेष वक्तव्यता :

नरक भूमियां सात हैं। अंतिम सातवीं नरकभूमि में पांच आवास हैं, वे इस प्रकार हैं, काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान।

छठ्ठी नरकभूमि के आवासों की अपेक्षा सातवीं के आवास लम्बाई और चौड़ाई में अधिक विस्तृत है। क्षेत्र विशाल है इससे अधिक अवकाश का अनुभव होता है। सातवीं नरक में नारकों की संख्या कम है, क्योंकि छठ्ठी भूमि में दूसरी गतियों में से आनेवाले जीवों का प्रवेश चालू है और सातवीं में सब जीवों का प्रवेश नहीं है। नारकों की संख्या कम होने से एक दूसरे का संघठन नहीं है, पीडन और गर्दी भी नहीं है। फिर भी सातवीं नरक में नारक जीव महाकर्मी, महाक्रियावंत, महाआश्रववाले होने से महावेदना के भुगतनेवाले होते हैं।

कारण में ऐसा कहा गया है कि :-

महाकर्मी जीवों :

मनुष्यावतार या मत्स्यावतार में उन जीवों ने मोह, माया, काम, क्रोध आदि के कारण महा भयंकर तीव्र और निकाचित कर्म बांधे हैं और जिस प्रकार कर्मों का उपार्जन किया हो उस प्रकार नरक में जाकर भी वे महाकर्मी होते हैं। तांदुल का अर्थ है 'चावल'। चावल के बराबर शरीरवाले तांदुल मत्स्य, महासागर में मगरमच्छ की आंखों की पलकोंपर ही जन्म लेते हैं, फिर भी मानसिक विचारधारायें अत्यंत क्लिष्ट होती हैं इसलिये जम्हाई खाने के समय पर मगरमच्छ के मुख में असंख्य मत्स्य प्रविष्ट होते है, और मुख बंद होते ही वे बाहर निकल जाते हैं। यह क्रिया दिन में अनेक बार होती है। लेकिन 'तेली का तेल जले और मुसाभाई का पेट फटे' इस न्याय से महाभयंकर कृष्ण लेश्या का स्वामी बना हुआ वह तांदुल मत्स्य सोचता है कि, यह मगरमच्छ कितना बेवकूफ है? कितना आलसी है? बिना प्रयत्न किये सिर्फ एक जम्हाई ली और इतनी सारी मछलियाँ पेटमें गई फिर भी इसने एक भी मछली नहीं खाई और सब बाहर निकाल दी। इसी स्थान पर यदि मैं होता तो एक भी मछली जिंदा नहीं रहती। यह बेचारे चावल के दाने

जैसे देहवाले तांदुल मत्स्य को जम्हाई आ आकर भी कितनी आयेगी ? हाथी की जम्हाई के मुकाबले में चींटी की जम्हाई की क्या हैसियत ? फिर भी सिर्फ मन में ऐसा सोचकर सातवीं नरकभूमि में जाता है। तब देवदुर्लभ मनुष्यावतार को पाकर भी जो पूरी जिंदगी तक अमर्यादित परिग्रह, मैथुन, माया, प्रपंचादि कर्मों के लिए मन के जरिए भिन्न भिन्न योजनाएं कर रहे हों जिह्वा के जरिये उन कार्यों को प्रोत्साहित कर रहे हो, तभी तो रौद्रध्यान में मरकर सातवीं नरक में जाते हैं इसलिए कहा गया है कि ऐसे जीव भयंकर कर्मों के मालिक होते हैं।

महा क्रियावाले :

जो महाकर्मी होते हैं वे महाक्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार के कर्म किये गये हों उन जीवों की क्रियाएँ भी मारने काटनेवाली प्रतिशोधभाव और विरोधभाववाली तथा द्वेषपूर्वक होती हैं।

महा आश्रववाले :

जिनके कार्य खराब होते हैं वे फिर से पापकर्मों को पैदा करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। जैसे अच्छे कर्मों की माया लगती है इसी प्रकार बुरे कर्मों की भी माया लगती है। बहुत से जीवों को हम जानते हैं कि वे निरर्थक वृत्तियां और प्रवृत्तियां करते रहते हैं। अमुक प्रसंगों में झूठ बोलने की जरूरत नहीं होती है फिर भी ऐसे लोग कुछ भी करके झूठ बोलते रहते हैं, बिना किसी निस्बत के एक-दूसरे को डांटने, मारने और गड्ढे में फेंकने के लिए उनको फूरसद की कमी नहीं होती है।

महा वेदनावाले :

सातवीं नरक के नारकों की वेदना इतनी तीव्र होती है कि वेदना सहन करने से पहले ही डर के मारे आकाश में बहुत ऊंचे उछलते हैं और चारों ओर डर के मारे कंपित हो जाते हैं।

छठी भूमि के नारकों से सातवीं भूमि के नारक अल्प ऋद्धि और दीप्ति वाले होते हैं। छठी नरक में ९९९९५ नरकावास हैं और सातवीं से ज्यादा जीव होने से वहां उनको कम जगह में रहना पड़ता है। दूसरी नरक के जीव पहली नरक से ज्यादा दुखी लेकिन तीसरी के मुकाबले कम दुखी होते हैं। उसी तरह छठी नरक के जीव पांचवी नरक के मुकाबले ज्यादा दुखी होते हैं तथा सातवीं की अपेक्षा से कम।

स्पर्शद्वार :

गौतमस्वामी के प्रश्न के जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'प्रथम भूमि के नारक पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक संबंधी अनिष्ट, एकांत, अप्रिय, अमनोम और अमनोज्ञ आदि स्पर्श के अनुभव करते हैं, शेष नारकों के लिवे भी ऐसा समझना चाहिए। केवल बादर तेजस्कायिक जीव मनुष्य लोक में होते हैं और सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव स्पर्शेन्द्रिय से अग्राह्य होते हैं, इसलिये तेजस्काय जैसी दूसरे प्रकार की उष्णता जो परमाधामियों से उत्पादित है उनका स्पर्श समझा जाता है!

परिधि द्वार :

रत्नप्रभा की परिधि (मोटापन) शर्कराप्रभा से ज्यादा है और पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्त प्रांतों में लम्बाई, चौड़ाई कम है। क्योंकि रत्नप्रभा का आयाम विष्कंभ (लम्बाई व चोड़ाई) एक निर्देशित प्रमाण है और शर्कराप्रभा का आयाम विष्कंभ उससे ज्यादा है। रत्नप्रभा की स्थूलता एक लाख अस्सी हजार योजन की है इसलिये रत्नप्रभा से शर्करा-प्रभा छोटी है। लेकिन लम्बाई और चौड़ाई में बड़ी है।

निरयान्त द्वार :

सातों नरकभूमियों में नरकावास है उनके आसपास जो अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिय जीव है ये भी महाकर्म,

महाक्रिया, महाआश्रव और महावेदनावाले हैं। यद्यपि अपने-अपने नाम-कर्मों को लेकर वे जीव इन स्थानों में जन्म लेते हैं फिर भी उनके पूर्वभवीय कर्म महाभयंकर वैरपूर्ण होते हैं। ईर्षा, द्वेष, प्रपंचादि की वजह से अकथनीय वेदनाएं भोगने के लिए उन स्थानों में जन्म लिए बिना अन्यमार्ग नहीं है! जैसे कि, अपकाय स्थावर नाम कर्म एक जैसा ही हो फिर भी अमुक अप्कायिक जीव गंगा, शत्रुंजय आदि पवित्र स्थानों में जन्म लेते हैं जिससे वहां का पानी वीतराग देवों के अभिषेक के लिए तथा दुःखी मनुष्यों के पीने के लिए, स्नान के लिए और अन्य कार्यों में भी काम आता है। जबकि नरकभूमि में पैदा होनेवाले जीवों के अच्छेकर्म बहुत कम होने की वजह से वहां का पानी नारकों के लिए गटरसा गंदा बन जाता है। जिसकी वजह से बेचारे नारक अपनी प्यास बुझा नहीं सकते हैं और गंदा पानी गंदकी फैलाने के अलावा और कर भी क्या सकता है? तेजस्कायिक जीव खाना बना के सब को तृप्त करते हैं। जबकि जंगल में आग लगती है तो कई वन, उपवन उन में जलकर खाख हो जाते हैं। इतना ही नहीं हजारों मनुष्य भी अपनी जान से हाथ धो डालते हैं। वनस्पतिकाय के संसार को आप देख सकते हैं? बिना किसी रुकावट या बाधा के बहुत से आम के या केले के वृक्ष उपवन की शोभा बढ़ा देते हैं जबकि अमुक स्थान पर के आम के वृक्ष के नजदीक दो या तीन बबुल के वृक्ष हों तो उनके कांटे क्षण-प्रतिक्षण आमके वृक्ष केपत्तों को चुभते हैं, लेकिन दूसरी तरफ के पत्तों को बबुल के कांटे नहीं चुभते। यानि कि एक तरफ के पत्तों को कांटे चुभते हैं और दूसरी ओर के पत्तों को नहीं चुभते हैं। ऐसे संसार को देखने के बाद भगवान महावीरस्वामी के वचनों की यथार्थता हम समझ सकते हैं कि पाप और पुण्य कर्म के चमत्कार कितने विचित्र होते हैं? जो प्रत्यक्ष होते हैं।

प्रत्यक्ष लोक में भी बहुत-सी वनस्पतियों के आसपास कांटेवाले वृक्ष होते हैं अथवा ऐसी वनस्पति ऐसे गंदे स्थान में होती है कि उसका कोई

उपभोग नहीं होता है। इसलिए कहा गया है कि नरकभूमि में पैदा होने वाला अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, महाकर्मी, महा-आश्रवी, महावेदनावाला होने की वजह से वहां रहकर भी वह पापकर्मों को ही जन्म देता है।

लोकमध्यद्वार वक्तव्यता :

प्रश्नः—कौनसे लोक का केन्द्र (मध्य) कहां आया है ?

उत्तर में भगवान ने कहा है कि—

'रत्नप्रभा पृथ्वी के आकाश की ओर बहुत भागों को पार करके जो स्थान आता है वह उस लोक की लंबाई और चौड़ाई का मध्य (केन्द्र) भाग है।

'पंकप्रभा नाम की चौथी नरक पृथ्वी के आकाशखंड के अर्ध भाग से कई गुना ज्यादा भाग को पार करने के बाद जो प्रदेश आता है वह अधो-लोक का मध्य भाग है, मतलब कि मेरु के मध्य में रुचकप्रदेश के नीचे ९०० योजन का अंतर पार करने के बाद अधोलोक आता है, जो सात रज्जू (निर्देशित) प्रमाण से ज्यादा है, इसका मध्य भाग चौथी और पांचवी पृथ्वी के मध्य का अवकाशान्तर आधे से ज्यादा पार करने के बाद अधो-लोक का मध्य भाग आता है।

सनतकुमार और महेन्द्र कल्पों के ऊपर और ब्रह्मकल्प के नीचे रिष्ट विमान का प्रतर है उसमें ही ऊर्ध्वलोक की लम्बाई का मध्य भाग है। अर्थात् मेरु पर्वत के रुचक प्रदेश से ९०० योजन ऊंचे ऊर्ध्वलोक आया है। उसका विस्तार सात रज्जू (निर्देशित) से थोड़ा कम है। उसका मध्य भाग रिष्ट नामक प्रतर की नजदीक में है।

जम्बूद्वीप में मेरू पर्वत के सममध्यभाग में रत्नप्रभा पृथ्वी की ऊपर नीचे के दो क्षुद्र प्रतरों की नजदीक में तिर्यक्लोक की लंबाई का मध्यभाग है। अर्थात् रत्नप्रभा के रत्नकांड में सर्व क्षुद्रक दो प्रतर हैं, उनमें से जो ऊपर का प्रतर है वहां से उर्ध्वलोक का जो प्रतर है वहां से अधोलोक का प्रारंभ होता है। इन दोनों क्षुद्र प्रतरों के नजदीक का अष्ट प्रदेशिक रूचक है जो तिर्यक्लोक का मध्यभाग कहलाता है। यह अष्ट प्रदेशिक रूचक में से पूर्व-दिशा, आग्नेयी-दिशा, दक्षिण-दिशा, नैऋत्य-दिशा, पश्चिम दिशा, वायव्य-दिशा, उत्तर-दिशा, ईशान-दिशा, उर्ध्व-दिशा, और अधोदिशा की प्रादुर्भूति होती है।

दिग्विदिक् प्रवहद्वार वक्तव्यता :

मतलब कि प्रत्येक दिशा-विदिशा का उद्गम स्थान कौन सा ? उसकी आदि में प्रदेश कितने ? आकार कैसे ? आदि प्रश्न हैं और उनके उत्तर भी हैं यह सब संक्षिप्त में निम्नानुसार हैं। ऐन्द्री का मतलब है, पूर्व दिशा की प्रादुर्भूति रूचक से हो मतलब कि पूर्व दिशा की आदि में रूचक है। आदि में दो प्रदेश होने से वह पूर्व दिशा द्विप्रदेशोत्तर है। लोक की अपेक्षा असंख्य प्रदेशवाली है और अलोक की दृष्टि से देखा जाये तो अनन्त प्रदेशी है। लोक की अपेक्षा में सीधी-सादी और अन्त सहित है लेकिन अलोक की दृष्टि से देखा जाये तो सीधी-सादी और अन्तरहित है लोक की दृष्टि से मृदंग के आकार जैसी है और अलोक की दृष्टि से बैलगाड़ी के अगले भाग के लकड़े के शकटोधि आकार जैसी है। आग्नेयी दिशा की आदि में रूचक है। एक प्रदेश उसकी आदि में है, और आकार मुक्तावली जैसा है। शेष दिशाएँ और विदिशाएं पूर्व और आग्नेयी जैसी समझी जाती हैं।

परिवर्तन द्वार वक्तव्यता :

'हे भगवन ! लोक किसे कहते हैं ? इसके जवाब में भगवन ने कहा कि यह लोक पंचास्तिकाय है मतलब कि पूरे ब्रह्मांड लोक में अस्तिकाय पांच हैं। उनकी विद्यमानता जहां हो वह लोक है।

(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) जीवास्तिकाय, (५) पुद्गलास्तिकाय। इसमें जीवास्तिकाय को छोड़ के बाकी सब अजीव हैं।

धर्मास्तिकाय की सद्भावना में जीव मात्र गमनागमन (एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने को गमन और वहां से आने को आगमन) कर सकते हैं। धर्मास्तिकाय की अनुपस्थिति में गमनागमन संभवित नहीं है। इसके अलावा बोलने की क्रिया, नेत्र खोलने की क्रिया और मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति में धर्मास्तिकाय का उपकार है। 'गई लक्खणेणं धम्मत्थिकाएं'' मतलब कि जीव या पुद्गलों की गति आदि क्रियाओं में धर्मास्तिकाय की सहायता अनिवार्य होती है। जीवों को खड़ा रहना, बैठना और शरीर की अन्य क्रियाओं के साथ मन को एकाग्र करने की क्रिया में अधर्मास्तिकाय की सहायता होती है। 'ठाण लक्खणेणं अहमत्थिकाएं.....'

जीव और अजीव द्रव्यों को जो आश्रय देता है, स्थान देता है वह आकाशास्तिकाय है। जिसके एक प्रदेश में एक परमाणु, दो परमाणु, सौ पुद्गल परमाणु यावत् स्कंध भी अवगाहित होता है। जिस तरह एक कमरे में एक से लेकर बहुत दीपमालिकाओं का प्रकाश समा जाता है अथवा औषधि से बने पारे में एक तोले से सौ तोला तक सुवर्ण समा जाता है। उसी तरह पुद्गल परिणाम की विचित्रताओं को लेकर कितने भी परमाणु एक आकाश-प्रदेश में भी समाविष्ट होते हैं।

'अवगाहना लक्खणेणं आगासत्थिकाए'

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि के अनन्त पर्यायों के उपयोग को ग्रहण करनेवाले जीवास्तिकाय हैं।

'उवओग लक्खणेणं जीवे ।'

पुद्गलास्तिकाय के सद्भाव में जीवमात्र से औदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस और कार्मणरूप पांच शरीर, स्पर्शेन्द्रियादि इन्द्रियों तथा मन आदि तीन योग आदि की प्रवृत्ति होती है।

'गहण लक्खणेवं पोगलिकाणं'

एकास्तिकाय प्रदेश स्पर्शाद्वार वक्तव्यता :

धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कितने प्रदेशों से स्पष्ट होता है।

इसी तरह के ऐसे प्रश्न हैं और भगवन् के उत्तर हैं।

भगवंत ने कहा है कि, धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश जघन्य से, धर्मास्तिकाय के तीन प्रदेशों से यह स्पष्ट होता है, लोकान्त क कोने में आया हुआ एक प्रदेश उपर के एक प्रदेश और आसपास के दो प्रदेशों यानि कुल मिलकर तीन प्रदेशों से स्पष्ट होता है। जब कि उत्कृष्ट से चारों दिशाओं के चार और उर्ध्वअधः के दो प्रदेश यानि कि कुल छः प्रदेशों से स्पष्ट होता है।

जहां धर्मास्तिकाय का प्रदेश है वहां अधर्मास्तिकाय का भी प्रदेश होता है, इसलिए जघन्य से चार और उत्कृष्ट से सात अधर्मास्तिकाय प्रदेश से स्पष्ट होता है। वे इस प्रकार है : धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, अधर्मास्तिकाय के ऊपर के एक प्रदेश, आसपास के दो और धर्मास्तिकाय के स्थान पर आये हुए अधर्मास्तिकाय के एक प्रदेश यानि कुल चार प्रदेश से स्पष्ट होता है। जब ज्यादा से ज्यादा धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश

छः दिशाओं में आये हुए अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश उसी तरह उत्कृष्ट से सात प्रदेशों द्वारा स्पर्श होता है।

आकाशास्तिकाय के सात प्रदेशों से धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्पृष्ट होता है। अलोकास्तिकाय को भी प्रदेश होता है।

जीवास्तिकाय के अनंत प्रदेशों से धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्पष्ट है। क्योंकि, एक प्रदेश के आसपास अनंत जीवों के अनंत प्रदेश विद्यमान होते हैं। इसी तरह पुद्गलास्तिकाय के अनंत प्रदेशों से धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश स्पृष्ट होता है, क्योंकि उसके अनंत प्रदेश धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश पर और उसके पास दिक्‌त्रयादि में रहते हैं। अढ़ाई द्वीप में ही काल मर्यादा होने से काल द्रव्य से किसी समय धर्मास्तिकाय के प्रदेश स्पृष्ट होते हैं और किसी समय स्पृष्ट नहीं होते हैं। इसी तरह इसको लागू होनेवाले दूसरे विकल्प मूल सूत्र से जानने का आदेश है।

अवगाहना द्वार :

आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश के स्थान में धर्म, अधर्म और आकाश का एक एक प्रदेश ही होता है। जब कि जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के अनंत प्रदेश होते हैं। कालद्रव्य का प्रदेश कदाचित रहता है और कदाचित नहीं रहता है। क्यों कि उसकी मर्यादा केवल मनुष्य लोक में ही है।

अलोकाकाश के एक भी प्रदेश में धर्म, अधर्म, प्रभृति अस्तिकाय के एक भी प्रदेश अवगाहित नहीं है। उसी तरह जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय और कालद्रव्य के भी प्रदेश नहीं है। जीवास्तिकाय का एक प्रदेश जो स्थान पर रहा है, वहां दुसरे जीव के अनंत प्रदेश भी रहते हैं।

पुद्गल परमाणु के दो प्रदेशों में यदि वे दोनों प्रदेश आकाश के एक प्रदेश में हो तो धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवगाहित होता है और वे दोनों परमाणु जिस प्रदेश में अवगाहित हों तो धर्मास्तिकाय के भी दो प्रदेश माने जाते हैं।

जहां धर्मास्तिकाय रहता है वहां उसका एक भी प्रदेश नहीं रहता है। क्योंकि धर्मास्तिकाय खुद समस्त प्रदेशों के साथ जुड़ा हुआ होने से उसका एक भी प्रदेश अलग नहीं होता है। इसी तरह दूसरी जगह भी कल्पना की जा सकती है।

जीवावगाढ़ द्वार वक्तव्यता :

श्री गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवन् ने कहा कि, हे गौतम! जिस स्थान पर पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं वहां दूसरे सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव भी असंख्य मात्रा में होते हैं। जहां एक होता है वहां नियमा असंख्य होते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव भी असंख्य मात्रा में होते हैं। जब कि वनस्पतिकाय जीव भी अनंत होते हैं। इस प्रकार जहां अप्कायिक अवगाढ़ होते हैं वहां भी ऊपर स्पष्ट की गई हकीकत समझी जाती है. और जहां एक वनस्पतिकाय जीव अवगाढ़ होता है वहां दूसरे अनंत जीव भी समझे जाते हैं।

अस्तिकाय प्रदेश :

'हे भगवन्! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकास्तिकाय के जो असंख्य प्रदेश कहे गये हैं उनमें आदमी बैठने, उठने और शरीर की अन्य क्रियायें करने के लिये समर्थ हो सकता है? उत्तर में भगवंत ने कहा कि, गौतम! उन प्रदेशों में कोई भी आदमी बैठ, उठ अथवा सो नहीं सकता।

जैसे कि एक कमरे में एक, दो, सौ अथवा हजारों दीपक जगमगा रहे हों तो गौतम ! उस प्रकाश पर जिस तरह कोई सो नहीं सकता, बैठ नहीं सकता उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेशों में भी बैठा नहीं जा सकता या तो सोया भी नहीं जा सकता। क्योंकि द्रव्य और प्रदेश अमूर्त है। इसलिये अमूर्त पर मूर्त पुरुष सो नहीं सकता। परंतु अनंत जीव अवगाढ़ रह सकते हैं।

बहु समद्वार वक्तव्यता :

लोक कौन-से स्थान पर समान हिस्सेवाला है ? यानि कि हानिवृद्धि रहित है ? संकीर्ण है ?

उत्तर में भगवन् ने कहा कि, 'रत्नप्रभा के ऊपर के अधःस्तन प्रतर जो सौ से लघुत्तर है एक रज्जु प्रमाण है और तिर्यक लोक के मध्यवर्ती है वे संकीर्ण भाग हैं। ब्रम्हलोक जो लोक रूप शरीर की कोनी जैसा है वह विग्राहिक वक्र भाग है।

लोकसंस्थान :

सुप्रतिष्ठित आकार का लोक है और तिर्यक लोक सबसे छोटा है। अठारह सौ योजन की लम्बाई है। उससे उर्ध्वलोक सात रज्जु से थोड़ा छोटा होने से मोटा है और सबसे बड़ा अधोलोक है। क्योंकि वह लोक सात रज्जु से थोड़ा ज्यादा है।

॥ शतक १३ का उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक-५

नारक अचित्ताहारी है ?

'हे भगवन् ! नारक क्या सचित्ताहारी है ? अचित्ताहारी है अथवा मिश्राहारी है ?

भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! नारक केवल अचित्ताहारी है मतलब कि उचित पदार्थों का भक्षण करनेवाले होते हैं। असुरकुमार के लिए भी यही जाना जाता है।'

देवाधिदेव परमात्मा की सत्यार्थ वाणी सुनकर गौतम और अन्य खुश हुए और द्रव्य तथा भाववंदना करके स्वाध्याय में लीन हुए।

॥ शतक १३ का उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक–६

क्या नारक की उत्पत्ति सांतर है ?

राजगृही नगरी में गौतमस्वामी ने भगवंत से पूछा कि, 'हे भगवन्! नरकगति में उत्पन्न होनेवाले नारक क्या सांतर उत्पन्न होते हैं, या उनकी उत्पत्ति निरंतर होती है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! नवें शतक के बत्तीसवे उद्देशक में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार यहां समझा जाता है अर्थात् नारक सांतर और निरंतर भी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नागकुमारादि, भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषिक और वैमानिक के लिए भी यही समझा जाता है। जिसमें अंतर यानि कि अवकाश हो उसका मतलब है सांतर और जिसमें अंतर न हो उसका मतलब है निरंतर। जिस समय एक जीव नारक होता है और उसी समय दूसरा नारक जन्म लेता है उसको निरंतर कहते हैं और दूसरे समय जन्म लेता है तभी उसे सांतर कहते हैं अथवा एक भव में से दूसरे भव में जाते वक्त तो अंतर पड़ता है उसको सांतर और उससे जो विपरीत है उसे निरंतर कहते हैं।

चमरचंचा नामक राजधानी कहां है ?

'हे प्रभो ! असुरराज, असुरेन्द्र चमर की चमरचंचा नामक राजधानी कहां आई हुई है ?' जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'जंबूद्वीप के मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा में तिर्च्छा असंख्य द्वीपसमुद्रों को पार करने के बाद अरुणवर द्वीप आता है उसकी बाह्यवेदीका के अंतिम छोर से अरुणवर समुद्र में बयालीस हजार योजन का अन्तर पार करने के बाद चमरेन्द्र का तिगिच्छ-

कुट नामक उत्पात पर्वत आता है, उसकी दक्षिण दिशा में छः सौ पचपन-करोड़, पैंतीस लाख, पचास हजार योजन तक अरुणोदक समुद्र में तिर्च्छा जाने के बाद नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के अंदर चालीस हजार योजन का अंतर पार करके चमरेन्द्र की चमरचंचा राजधानी आती है जिसकी लम्बाई, चौड़ाई एक लाख योजन की है।

परिधि (स्थूलता) तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ अट्ठाईस योजन से ज्यादा है। वह चमरचंचा राजधानी से नैऋत्य में ६५५ करोड़ ३५ लाख ५० हजार योजन तक तिर्च्छा अंतर पार करके आगे बढ़ते हुए जायें तो असुरकुमारों का इन्द्रचमर का चमरचंचा नामक आवास पर्वत आता है जिसकी लम्बाई, चौड़ाई ८४ हजार योजन की है, परिधि दो लाख ६५ हजार ६३२ योजन से थोड़ा ज्यादा है। भगवंत ने कहा है कि उस पर्वत पर इन्द्र महाराज आवास नहीं करते लेकिन, घूमने-फिरने के लिए और कामक्रीड़ा के लिए ही यह पर्वत है।' इतना कहकर चतुर्विध संघ के साथ भागवान ने विहार किया।

वीतभय नगरी का उदायन राजा :

उस काल में उस वक्त चम्पा नामक नगरी थी। पूर्णभद्र नामक उपवन था। देव, देवेन्द्रों और चतुर्विध संघ के साथ एक गांव से दूसरे गांव विहार करते हुए भगवान महावीरस्वामी पधारे। देवरचित समवसरण में बिराजित भगवान धर्मोपदेश देते हैं :–

उस वक्त सिंधु सौविर जनपद (देश) में वितभय नामक नगर था। उसकी ईशान्य दिशा में मृगवन नामक उपवन था। नंदनवन की जिसे उपमा दी गई थी ऐसे नगर में प्रत्येक ऋतु में पुष्प हमेशा विकसित रहा करते थे। वहां उदायन नामक राजा शासन करता था। जो विघ्न और उपद्रवों से रहित था। उदायन राजा महाहिमवान पर्वत की भांति निर्भय

था। उदायन राजा को प्रभावती नामक रानी थी। उसके हाथ-पैर कोमल और रक्तवर्ण के, शरीर की कांति सुवर्ण समान, कमल जैसी सुगंधित, नील और कमल के पत्तों जैसी लम्बे आंखोंवाली, लम्बे कान और अणीदार नाकवाली, सुन्दर दांतवाली, पूर्णिमा के चंद्रमा जैसे चेहरेवाली रानी प्रभावती के वैभव और विलास का कोई अन्त न होने पर भी वह जैन शासन के रंग में रंगे हुए हृदयवाली थी। पुत्र-परिवार से पूर्ण थी फिर भी जैन साध्वीओं का सहवास रानी के लिए अमूल्य था। पति का प्रेम अटूट तो था ही लेकिन जैन शासन के प्रेम में रानी को अनन्य श्रद्धा और अटूट प्रेम था। राजा-रानी को अभीजित नाम का राजकुंवर था। राजनीति में कुशल होने के नाते राजकुंवर प्रजा को प्रिय था। उदायन राजा को केसी कुमार नामक भांजा (भाणेज) था।

सिंधू सौविर आदि ग्यारह देशों का, वितभय आदि ३६३ नगरों का और १० मुगटबंध राजाओं की सेवा उदायन राजा को प्राप्त थी। इसके अलावा उदायन राजा को जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञान था और जैन श्रमणोपासक था।

जीवन में जब विचारशक्ति का प्रादूर्भाव होता है तब भोग के साथ योग की प्राप्ति सुलभ होती है। गृहस्थाश्रम से पूर्णतया मुक्त रहनेवाले योगियों को योगसाधना की जीतनी आवश्यकता होती है उससे ज्यादा गृहस्थाश्रमियों के भोग और योग की साधना पूरे संसार के लिए आशीर्वाद समान होती है, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम, संन्यासाश्रम और वानप्रस्थाश्रम नाम के तीन आश्रमों की पवित्रता तथा शुद्धता, गृहस्थाश्रम की पवित्रता पर निर्भर होती है। गृहस्थाश्रम की शुद्धि और पवित्रता केवल लाखों करोड़ों की अमीरी अथवा जैसी तैसी सत्ता पर निर्भर नहीं है। लेकिन अपने भोगप्रधान जीवन में यदि योग प्रधानता अथवा साधना का मिश्रण हो जाय या कर दिया जाय तो चार चांद लग जाय।

योग का मतलब यह नहीं है कि सिर्फ पद्मासन लगाकर बैठ जाना या पुत्र परिवार का त्याग कर देना लेकिन योग का मतलब यह है कि जीवन में प्राप्त भोगसामग्री को मर्यादित या संयमित करना। क्योंकि जब तक पाप का मार्ग सर्वथा या निरर्थक बंद न किये जाय तब तक पद्मासन, जाप, तप, दान, पूजा वगैरह फलित नहीं होते। इसलिए जीवन में पाप मार्गों को संयमित करना या मर्यादित करना ही योग है। जिसको जैन शासन में 'भोगोपभोग विरमण व्रत कहते हैं।

मनुष्य मात्र चाहे कितना भी श्रीमंत या सत्ताधारी क्यों न हो, लेकिन उसका पुण्य या शारीरिक शक्ति अधूरी ही होती है! तथापि इसलिए ही उसे भोगेच्छा होती है, फिर भी वह सब चीजों को एक साथ खा नहीं सकता है, और न ही सबको एक साथ खरीद सकता है। उसके पास शक्ति है तो चीजों की दुर्लभता है, और यदि चीजों की सुलभता हो तो उसके पास पाचनशक्ति का अभाव होता है, और यदि पाचन शक्ति हो तो किसी दर्द के मारे वो कुछ खा नहीं सकता।

भोगोपभोग के साधन हैं लेकिन भोग शक्ति कहां? ऐसे असंख्य प्रश्न अपने जीवन को संतप्त कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में जैन शासन कहता है कि, मनुष्य, ओ मनुष्य! तू थोड़ी देर के लिए सोच, संसार में अनंत भोग्य और उपभोग्य पदार्थ विद्यमान हैं फिर भी, जब वे अपने जीवन के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते तो उनके भोग की आकांक्षा करके तू तेरे मन में क्यों चंचलता पैदा करता है याद रखना कि जहां चंचलता है वहां शांति और समाधि नहीं है। इसलिए जो पदार्थ भोगे नहीं जा सकते उसका त्याग करने में अथवा उसको संयमित करने में कौनसी आपदा! क्योंकि संयमित जीवन में ही शांति और समाधि रहती है, टिक सकती है और आर्तध्यान बिना का जीवन बना के स्वस्थता प्राप्त की जा सकती है। इसी वजह से ही 'भोगोपभोग विरमण और अनर्थदंड विरमण व्रत की व्यवस्था केवल जैन शासन में ही है।

व्यव्हार में बड़े पापों को लौकिक शासन ने भी परखा है लेकिन अत्यंत सुक्ष्म पापों को जैन शासन के अलावा और कोई शासन पहचान नहीं सका है।

मनुष्य मात्र मनोबल से इन्द्रीयों का और मन का गुलाम न बने तो वह भोगी जीवन में भी योगी की आराधना सरलता से कर सकता है। राजारानी का जीवनव्रतधारी होने से वे दोनो भोगी थे फिर भी योगी जैसे थे। एक दिन पौषधशाला में पौषधावास में स्थित उदायन राजा को ऐसा संकल्प हुआ कि, जिस नगरी में, गांव में, निगम में भगवान महावीर स्वामी विचरते हैं वह गांव नगर आदि भी धन्य हैं। जो त्रिकाल वंदनापूर्वक देवाधिदेव को नमस्कार करते हैं ऐसे भाग्यशाली भी धन्यवाद के पात्र होते हैं।

"भगवान महावीरस्वामी विहार करते हुए सिंधु सौविर देश में पधारे और मेरी नगरी को पवित्र करे, समवसरण की रचना हो और उनमें जनता बैठे और मैं भी भगवंत के चरणों में बैठकर धर्मोपदेश श्रवण करूं। आश्रव और संवर के भेद और भेदानुभेद को ठीक समझकर मेरे जीवन में से आश्रवों का त्याग करके संवर की आचरणा करूं। ऐसे पुण्यकर्मों का उदय मेरे भाग्य में कब आयेगा? ऐसे विचार करते राजा उदायन ने धर्मजाग्रि का करके प्रातःकाल में पौषध को पाया।

इस तरफ भगवान महावीर भी चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए वीतभय नगर के मृगवन नामक उपवन में पधारे। समवसरण में बिराजमान होकर प्रभु ने धर्मोपदेश दिया। उपवन रक्षक माली ने राजा को बधाई दी और आनंदित राजा ने स्नान किया तथा वेशभूषा से सजकर समवसरण की ओर गये। प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर यथायोग्य आसन पर राजा बैठे और धर्मोपदेश श्रवण किया। वैराग्य वासित राजा ने दीक्षा का ख्याल प्रदर्शित किया और कहा कि, 'प्रभो, मैं मेरे पुत्र को शासन

सौंपकर आपश्री के पास से दीक्षा लेना चाहता हूं।' प्रभु ने कहा कि, 'हे राजन् अच्छे कार्यों में विलंब नहीं किया करते।' उसके बाद राजा हाथी पर बैठकर राजमहल में आये। पन्तु उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था। राजा ने सोचा कि, 'मेरा पुत्र राजनीति में कुशल है, प्रजाप्रिय है, संधि-विग्रह और मंत्रशक्ति में दीर्घदृष्टि रखता है। ऐसे पुत्र को राजगादी देने से वह मोहमाया में फँस न जाय और दुर्गति का मालिक न हो इसलिए मेरे भांजे केसीकुमार को राज्य सौंपना मुझे ठीक लगता है।' ऐसा सोचकर राजा ने मंत्रियों को बुलाया, उनकी सलाह ली और अच्छा मुहूर्त निकाल के भांजे का राज्याभिषेक किया और अपनी दीक्षा लेने का समय भी तय किया। उसके बाद भांजे का राज्याभिषेक करके राजाने शुभलग्न, नवमाँश दिनशुद्धि और चंद्रस्वर में दीक्षा ली और विविध प्रकार के ज्ञान, ध्यान, तप, से सब कर्मों का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

राजकुमार को आर्त्तध्यान :

अपने पुत्र को राजगद्दी न सोंपने में उदायन राजा का अपना अभिप्राय अच्छा होने के बावजूद भी कुमार के मन में ऐसा संताप था कि, 'राजा ने मुझे गादी न सौंपकर केसीकुमार को दी यह अच्छा नहीं किया।' फिर तो आर्त्तध्यान बढ़ता गया और कुमार अपना सरसामान लेकर चंचा-नगरी के कुणिक राजा को मिला और वहां रहने लगा। बहुत सालों तक श्रावक धर्म की आराधना की। १५ दिन की संलेखना करके ३० टंक का भोजन त्याग किया। फिर भी मृत्युकाल नजीक आने तक पिता के साथ जो प्रतिशोध पनप रहा था उससे उसे मुक्ति नहीं मिली थी। प्रतिशोध-पाप का प्रतिक्रमण नहीं किया। इसलिये मृत्यु प्राप्त करके भवनपति के आवासों में आतापनासूरकुमार नामक देव हुआ। जहां एक पल्योपम की आयुष्यमर्यादा है।

श्रमणोपासक धर्म (श्रावक धर्म) स्वीकारने के बाद भी अभीजित-कुमार हृदय के पवित्र भावों से श्रावक धर्म की आराधना नहीं कर सका। इसलिये हर क्षण विराधना बढ़ती गई। जिसमें हृदय की कलुषितता, आर्तध्यान, राग और द्वेष के भाव मुख्य होते हैं। चंपानगरी के बहुत से श्रमणोंपासकों के साथ रहने के बावजूद भी उनके साथ द्रव्याराधना करने पर भी अपने जीवन में भावाराधना ला न सका और पिता के साथ का जो द्वेष था वो भी कम न हुआ या तो कम करने के लिये पुरुषार्थ नहीं किया गया। इसलिये कहा गया है कि, 'क्षमा वीरस्य भूषणं' और द्रव्य से तप्रतिक्रमण, पौषध, प, जप करने के बावजूद भी ऐसे श्रावक वैमानिक गति प्राप्त नहीं कर सकते।

अभीजितकुमार के अग्निकुमार के भव में से गुजरकर महाविदेह क्षेत्र जन्म लेने के बाद मोक्ष में जायेगा।

॥ शतक १३ वाँ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १३ वा : उद्देशक- ७

भाषा रूपी है ? अरूपी है ?

जिस भूमि पर परमात्मा के कदम पड़ते हैं वह भूमि भी पवित्र होती है और वहां रहनेवाले धन्यवाद के पात्र होते हैं। जिनके घर का भोजन, पानी वस्त्र और औषध अरिहंत को अथवा उनके पवित्र साधु साध्वीओं के पात्र में पड़ता हो वे लोग भी धन्यवाद के पात्र होते हैं।

इस सातवे उद्देशक में बहुत प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर हैं। जो ज्ञातव्य, मननीय और उपादेय हैं। प्रारंभ में भाषा की वक्तव्यता है।

जो दूसरों को अपने हृदय के भाव स्पष्ट शब्दों में समझा सके उसे भाषा कहते हैं। 'भाष्यते इति भाषा' जिससे बोला जा सके वह भाषा है शरीरधारी आत्मा को ही मुख, नाक, दंत, ओष्ठ, तालु आदि की प्राप्ति होने से वह बोल सकता है। अर्थात् भाषा जीवात्मा से उत्पाद्य है और जो उत्पाद्य हो वो पौद्गलिक ही होता है, तथा आघात और प्रत्याघात उसके धर्म होते हैं।

संसार में सम्यगज्ञान से मिथ्याज्ञान, विपरितज्ञान और पूर्वग्रहज्ञान के परमाणु अनंतगुना ज्यादा होने से उनकी असर में आये मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान होता नहीं है। पूर्वग्रह से पीड़ित होने के नाते सम्यग्ज्ञान प्रात करने के लिए वे प्रयत्नशील भी नहीं होते हैं। इसलिए ही वे कहते हैं कि भाषा व्यवहार में जो शब्द बोले जाते हैं वे पौद्गलिक नहीं होते हैं, लेकिन गुण होते हैं। परंतु संसार का सब से बड़ा अशिक्षित, आदमी भी इतना तो जानता ही है कि 'गुण' किसको भी आघात या प्रत्याघात नहीं करता है। जब कि शब्दों में तो आघातत्व और प्रत्याघातत्व अवश्य

होते हैं। वर्णात्मक होने से शब्द 'गुण' हो नहीं सकते लेकिन वे पुद्गल होते हैं। शब्दों में स्पर्श भी होता है क्यों कि श्रवण इन्द्रिय को उसका स्पर्श होने के बाद ही सुननेवाला सुनता है। गुणों में स्पर्श नहीं होता है। शब्द उत्पाद्य होने से पौरूषेप है चैतन्य शक्ति संपन्न आत्मा शब्दों का उत्पादक होने से उनकी उत्पत्ति हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अपौरूषेय शब्द किसी ने भी सुना नहीं है, कोई सुनता नहीं और कभी सुनेगा भी नहीं, ऐसे सब कारणों से शब्द पौद्गलिक है। अब हम भगवती सूत्र और टीकाकार को सुनेंगे।

श्री गौतम स्वामी ने पूछा कि, हे प्रभो! जो भाषा बोली जाती है वो क्या आत्मस्वरूप है? या नहीं है? भाषा का प्रयोग जीव करता है। और संसार का बंधन तथा मोक्ष आदि की व्यवस्था भाषा द्वारा जीव करता है इसलिए ज्ञान की तरह भाषा भी जीव का धर्म है? तथा धर्म और अधर्मी में अभेद होने से क्या भाषा आत्मस्वरुप है? भाषा सिर्फ श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से वह रूपी है, इससे क्या वह आत्मा से भिन्न गिनी जाय?

भगवंत ने कहा कि, 'वह भाषा वर्गणाओं से उत्पन्न होने के कारण पौद्गलिक है, और जीवात्मा द्वारा उपयुक्त होती है, हाथ से फेके जानेवाले मीट्टी के गोले की तरह तथा आकाश की तरह जड़ है। सिर्फ जीव से व्यापार्यमाण होने से भाषा आत्मस्वरूप नहीं बनती है।

जिसमें वर्णगंधरस और स्पर्श हो वह मूर्त (रूपी) कहलाता है। गौतमस्वामीजी जानना चाहते हैं कि, 'कान में धारण किये जानेवाले गहने कान का उपकार और नाश करते हैं' उसी तरह मीठी-मधुरी सत्य और विनय विवेकपूर्वक की भाषा सुननेवालों के कान का अनुग्रह करती है, और कड़वी - कठोर - कर्कश - हिंसक तथा असत्य भाषा से

कर्णेन्द्रिय का उपघात भी होता है। इससे क्या भाषा रूपी है? और चक्षुरीन्द्रिय से भाषा ग्रहण नहीं होती इसलिए क्या वह धर्मास्तिकाय की तरह अरूपी है?

उत्तर में भगवंत ने कहा कि, 'गौतम! मेरे शासन में भाषा रूपी है पर अरूपी नहीं। धर्मास्तिकाय की तरह चक्षु से अग्राह्य होने मात्र से भाषा में अरूपित्व सिद्ध नहीं होता। जिस तरह परमाणु, वायु व पिशाचादि चक्षुग्राह्य नहीं होते फिर भी वह रूपी हैं। इसी तरह चक्षु से अग्राह्य होने के बावजूद भाषा रूपी है।

'हे प्रभो! भाषा सचित्त है या अचित्त है?

सारांश यह कि, 'भाषा अनात्मरूप होने पर भी जीव के शरीर की तरह सचित्त भी हो सकती है और जीव द्वारा निसृष्ट पुद्गलमय होने से भाषा अचित्त भी हो सकती है?'

उत्तर में कहा गया है कि, 'हे गौतम! भाषा सदैव पौद्गलिक होने से और जीव द्वारा निसृष्ट होने पर भी अचित्त ही होती है।'

'हे प्रभो! क्या भाषा जीवस्वरूप वाली है? या अजीव स्वरूप वाली है?'

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, 'हे गौतम! भाषा उच्छ्वासादि प्राणधारणवाली नहीं होने से अजीव रूप ही होती है। भाषा का व्यवहार जीवों से ही होता है, अजीवों से नहीं होता, इसलिए पुरुष प्रयत्न रहित अपौरुषेयी भाषा कोई भी काल में नहीं होती।'

भाषण पूर्व की भाषा भाषा नहीं है तथा बोली गई हुई भाषा भी भाषा नहीं कहलाती जब भाषा बोली जाती है तब भाषा भाषा रूप कहलाती है। जिस तरह मिट्टी के पिंड को घड़ा नहीं कहते व फूटे हुए

घड़े को भी घड़ा नहीं कहते; पर घड़े की विद्यमान अवस्था में ही उसे घड़ा कहते हैं। उसी तरह बोलने से पहले जिसकी उत्पत्ति ही नहीं और बोले जाने के बाद शब्दों का नाश हो चुका हो उसे भाषा किस तरह कहा जाय? इसलिए जिस समय भाषा बोली जाती है वह भाषा है जो अपना अर्थ छोड़कर नाश होती है।

'यह वह 'गकार' है जिसे आप पहले बोल चुके थे।' यह बोला गया प्रकार इसलिये असत्य है कि 'ग' का स्वरूप एक समान है; फिर भी प्रथम बोला गया वह 'गकार' का नाश हुआ है और बाद में बोला जाता 'गकार' प्रथम के 'गकार' से सर्वथा भिन्न हैं, इसलिये उच्चारित की जाती भाषा का ही भेद होता है; मतलब कि मंद प्रयत्न से उच्चारे हुए शब्द असंख्य प्रदेशात्मक और स्थूल होने से संख्य अवगाहना वर्गणाओं को पार करके उनका नाश होता है। अर्थात् वह शब्दरूप द्रव्य असंख्य योजन तक जाकर शब्द परिणाम का त्याग करता है, जबकि बड़े प्रयत्न से उच्चारे हुए शब्द सूक्ष्म होने से तथा ज्यादा होने से अनंतगुनी वृद्धिरूपी वर्धित होकर छः दिशाओं में लोकान्त का स्पर्श करते हैं (यहां या अन्य जगह भी भाष्यमाण भाषा को ग्रहण करना।)

भाषा के प्रकार :

'हे गौतम! सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषारूपी भाषा के चार प्रकार है, जिनका वर्णन प्रथम और द्वितीय भाग में देखना।

संसार भर में मनुष्य के चार प्रकार होने से भाषा के भी चार भेद हैं।

(१) कई भाग्यशाली स्वभावगत ही सत्यभाषी होते हैं, उनके जीवन में चाहे हजारों विघ्न आये, जीवन में सूखी रोटी मिले, उन्नति के कितने भी मौके चाहे हाथ से छूट जाय फिर भी सत्य भाषा से ही अपने

व्यवहार को चलाते है। थोड़ा ज्यादा सोचने पर हमें पता चलेगा कि कई भाग्यशाली कोई भी बात में झूठ भाषण को पाप और मिथ्यात्व माननेवाले होने से अपने व्यापार व व्यवहार को मर्यादित रखेंगे जिससे कहीं भी झूठा बोलना, या झूठी साक्षी देना, झूठे न्याय करना तथा घालमेल करना संभवित नहीं हो पाता है और ऐसे कोई प्रसंग भी उपस्थित नहीं हो पाते हैं।

(२) देवदुर्लभ मनुष्यावतार पाकर असंख्य मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो सत्य बोलने में पाप नहीं तो भी ढोंग माननेवाले होते हैं। उनका एक सिद्धांत होता है कि, बिना झूठ बोले पैसा नहीं मिलता, स्थान नहीं बढ़ता अथवा समाज में नेतृत्व नहीं मिलता। ये लोग ऐसा सोचते हैं कि, जब तक किसी प्रतिष्ठान (ट्रस्ट) की आगेवानी नहीं मिलती तब तक जिंदगी, शिक्षण, चतुराई आदि सब अर्थ हीन है। इसलिए ऐसे जीव झूठ व्यवहार, विचार, व्यापार, तोलमाप, ब्याज, भेलसेल और काला बाजार छोड़ नहीं सकते। महावीर स्वामी के बताये तीसरे व्रत के प्रति श्रद्धा होने के बावजूद भी जीवन में ये लोग इस व्रत के प्रति ध्यान नहीं देते और बुरे व्यवसाय को छोड़ नहीं सकते। वो अपने गूढ़, मूढ़ और गुप्त हृदय में लक्ष्मीदेवी के परमोपासक होने से ठोस मानते हैं कि, अभी तो झूठ-प्रपंच करके लाखों करोडों की माया इकट्ठी कर ले बाद में कथित अनुष्ठान करके अपने पापों से मुक्ति ले लेंगे ऐसे कई प्रसंग इन जीवात्माओं में होते हैं।

(३) आंतर हृदय से कोरे होने की वजह से मायामृषावाद (राजनैतिक भाषा) के झूले पर झूलते बहुत भाग्यशाली धर्म के अधिकारी, ठेकेदार, राजनीतिज्ञ, प्रधान और अमीरों को हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं अथवा उनके साथ वार्तालाप करते हुए वे लोग बोलते हैं, तब उनकी भाषा में सत्यता नहीं होती है और नहीं असत्यता नजर आती है। परंतु उनकी भाषा में पोलीटिकल्स भाषा (मायामृषावाद) ही पनपता महसूस

होता है। ऐसे भाग्यशाली लोग सफेद वस्त्र पहनते हैं इसलिए झूठ बोलने में पाप नहीं मानते हैं और हृदय के निष्ठुर होने से सत्य बोलने से भी कतराते हैं। इसलिए राजनैतिक भाषा का अभ्यास करके ऐसे लोग राजनीति के झूले में झूलने के नशे में चकनाचूर होते हैं। बाद में नशे में बेहोश होकर यह लोग अपने मांबाप, गुरूदेव, पुत्र और धर्मपत्नी के साथ भी हर बात में राजनैतिक भाषा का उपयोग करके अपने आपको धन्य समझते हैं। अथवा जीवन धनको पूर्णतया नष्ट कर देते हैं।

(४) असत्यामृषा भाषा के मालिक धर्म की गहराई में नहीं उतरते और न ही इतनी क्षमता भी रखते हैं, फिर भी दिल के भद्रिक, पाप से डरनेवाले तथा विश्वासघात को भी पाप मानने वाले यह लोग केवल व्यावहारिक भाषा का आश्रय लेकर जीवन यापन करते हैं।

अरिहंत का शासन घंटे की चोट के साथ ऐसा फरमाता है कि, सत्यभाषा बोलने वाले जीव भाषासमिति के स्वामी बनते हैं और बहुत से पापों से अपना जीवन बचा सकते हैं। जबकि बीच के दोनों जीवात्माओं ने भाषा समिति का दिवाला निकाल के अरिहंत शासन की एक बार नहीं किन्तु बार-बार आशातना करते हैं। इसलिए कहा गया है कि :—

'भाषा समिति न पहचानी जिनशासन का मूल,
करणी काम न आई गया धूल में धूल'

मन की वक्तव्यता :

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने या उसे बढाने के लिए सर्वथा लापरवाह मनुष्यों का ऐसा अभिप्राय है कि, 'मन और आत्मा एक हैं'। किन्तु यह मान्यता इसलिए भ्रामक है कि, जीव चैतन्य स्वरूपी और मन पौद्गलिक होने से निर्जीव है इसलिए दोनों एक नहीं हैं किन्तु सर्वथा भिन्न हैं।

जीव अमर और अजन्मा है। जबकि मन उससे विपरीत है, जो आत्मा की माफिक शरीर व्यापी है।

मन के दो भेद हैं, द्रव्यमन और भावमन। विद्यमान भव में अंतिम समय पर इन्द्रियों के साथ द्रव्यमन की भी समाप्ति हो जाती है और गर्भस्थ जीव जब मनः पर्याप्ति के जरिए मन की रचना करता है तब पुनः द्रव्यमन का मालिक बनता है और भावेन्द्रियों की तरह भावमन जीव के साथ सदैव सहचारी होता है।

रागद्वेष मोहप्रमाद आदि की वजह से भवभवांतर में किये गये कुसंस्कार, अपराध, हिंसात्मक विचार आदि का संग्रह स्थान मन के पास होने से जीव की तरह मन की भी अनेक शक्तियां होती है।

अब हम सूत्र के अनुसार मन की व्यवस्थिति को समझेंगे।

'मन आत्मा नहीं है लेकिन अनात्मा है'।

अरूपी नहीं है लेकिन पौद्गलिक होने से रूपी है'।

'सचित नहीं बल्कि अचित है।'

'जीवरूप नहीं किन्तु अजीवरुप है।'

जीवों में ही उसका सद्भाव है, अजीवों को मन होता ही नहीं है।

भोगी जा चुकी या नहीं भोगी जा चुकी कोई भी वस्तु के मनन से पहले मन नहीं होता है, किन्तु भुक्त या भोग्य पदार्थ के मनन के समय में ही मन होता है और उसके बाद उसका भेदन होता है।

मन के चार प्रकार हैं, उसके चार प्रकारों को भाषा के अनुसार समझा जाता है।

काय (शरीर) की वक्तव्यता :

शरीर की विद्यमानता में ही मन होता है, इसलिए शरीर संबंधी प्रश्न करते हुए श्री गौतमस्वामी कहते हैं कि, 'हे प्रभो ! शरीर से आत्मा भिन्न है ? अभिन्न है ? मतलब कि आत्मा और शरीर एक ही है या दोनों भिन्न-भिन्न है ? यदि दोनों एक है तो शरीर के नाश में जिसतरह हाथ, पैर, आंख, कान, नाक का नाश हो जाता है इसतरह आत्मा का भी नाश हो जाना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं है। कदाचित् ऐसा हो तो परलोक के नाश में परलोक में जाने वाले का अभाव होने से परलोक (स्वर्ग, नरक आदि) का भी अभाव पैदा होगा लेकिन ऐसा कभी भी नहीं होता है, हुआ नहीं है और होगा भी नहीं।

शरीर को आत्मा से भिन्न समझा जाये तो शरीर के किये गये कर्म आत्मा से कैसे संबंधित हो सकते है ? जिस तरह रामजी और शामजी दोनों भिन्न है इसलिए यदि रामजी पान खाये तो शामजी का मुंह लाल नहीं हो सकता, इसी तरह खान-पान, स्नान आदि शरीर के कर्म का पाप आत्मा को किस तरह लग सकता है ?

जबाब में यथार्थवादी भगवन ने कहा कि, 'हे गौतम, आत्मा शरीररूप भी है और उससे भिन्नभी हैलोहे के गोले और अग्नि के बीच में जो अभिन्नता है ऐसी ही अभिन्नता शरीर और आत्माके बीच है और इसी वजह से शरीर के कृतकार्यों की संवेदना आत्मा को होती है, इसी प्रकार शरीरके माध्यम से किये गये कर्मों को लेकर आत्माको भवांतरमें भी उसकी वेदना होती है और इसप्रकार जीव मात्र कर्मोंके फल भुगत रहा है, जो प्रत्यक्ष है यदि आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न समझा जाये तो किये गये कर्मो का नाश और नहीं किये गये कर्मो को भोगना पड़ता है यह दो दोष लागू होते हैं, क्यों कि, कृतकर्म हमेशा भोक्तव्य ही होते है तथा अकृतकर्म की वेदना कभी भी नहीं होती है।'

अमुक आचार्य 'काय' शब्द से कार्मण शरीर का ग्रहण करते हैं जिसका संबंध संसारी आत्मा से अभिन्न कहा गया है। और औदारिकादि शरीर की अपेक्षा से आत्मा भिन्न है, उसका संग्रह और नाश होने में देर नहीं लगती है।

शरीर रूपी है कि अरूपी है ?

जवाब में कहा गया है कि, शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है पौद्गलिक होने से तथा औदारिकादि शरीर स्थूल होने से भी रूपी है। कार्मण शरीर में अति सूक्ष्मता होने से शरीर अरूपी भी है।

शरीर में जब तक जीवन है तब तक वह सचित्त है और मृतावस्था में अचित्त है।

औदारिकादि शरीर में उच्छवासादि क्रिया होने से शरीर जीवरूप और कार्मण शरीर में उनकी नास्ति होने से अजीवस्वरूप है।

जीवों में काय (शरीर आकार) होता है। इसी तरह अजीव जैसे पुद्गलों में भी हाथ-पैर आदि होने से काय कहा जाता है।

जीवसंबंध से पहले और भविष्य में भी जिसमें जीवसंबंध होनेवाला हो ऐसे मृत मेंढ़क के चूर्ण में भी जीवसंबंध है।

पुद्गल का ग्रहण होने के समय में भी काय (शरीर) का सद्भाव है और जीव के जरिये कायताकरणरूप काय का समय व्यतीत होने के बाद भी मृत शरीर में काय होता है। शरीर रूप में ग्रहण होने से पहले भी काय का भेदन द्रव्यकाय की अपेक्षा से होता है। क्योंकि पुद्गल को चय और उपचय प्रति समय होता रहता हैं और मुट्ठी में समाई रेती प्रत्येक क्षण हाथ में से निकलती रहती है उसी तरह शरीर ग्रहण करने के वक्त शरीर का भेदन होता है और काय समय व्यतीत होने के बाद काय का भेद होता है।

परमात्मा ने सात शरीर का वर्णन किया है। (१) औदारिक (२) औदारिक मिश्र (३) वैक्रिय (४) वैक्रिय मिश्र (५) आहारक (६) आहारक मिश्र (७) कार्मण

मरण वक्तव्यता :

जहां जीवन है वहां मृत्यु अनिवार्य है। अमरफल का भोजन या अमृतपान तो सिर्फ बेचारे कवियों की कल्पना मात्र है। अथवा किसी खानदान में चार, पांच, दस पीढ़ी तक सिर्फ अल्प आयुष्यवाले जीव जन्म लेते हों और अन्य के वहां ८४ लाख पूर्व के आयुष्यवाले मनुष्य का जन्म होता हो तब अल्प आयुष्यवाला कहेगा कि, यह जीव मेरे बाप के समय में हाजिर था अर्थात् दादा, परदादा, उनके दादा आदि हमारी आठ, दस पीढ़ीयों ने इस आदमी को देखा है। किसी गांव के बाहर ईमली आदि का वृक्ष खड़ा होता है तभी लोग कथते हैं कि 'इस वृक्ष को मेरे परदादा, दादा और बाप भी देखते आये हैं। इत्यादि कारणों को लेकर ऐसी लोक-कथा बन जाती है कि अमुक जीव अमर होते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं होता है परंतु और ऐसी कल्पनाओं में आयुष्य कर्म की मर्यादा का चमत्कार होता है। मनुष्य की आयुष्य मर्यादा ८४ लाख पूर्व की है और युगलिक तीन पल्योपम के आयुष्य वाले हैं जो मनुष्य योनि के ही जीव कहलाते हैं।

आयुष्य कर्म ईश्वर के आधीन नहीं है, किन्तु कर्म सत्ता के आधीन है और आठों कर्मों में आयुष्य कर्म केवल एक बार ही बांधा जाता है। जो हथकड़ी की उपमावाला है। जिस तरह हथकड़ी वाला कैदी जेलर के आधीन होता है उसी तरह चारों गति के ८४ लाख योनि के जीवात्मा भी आयुष्य कर्म रूपी हथकड़ी के आधीन होते हैं और जब तक इस हथकड़ी में बंधे रहनेवाले जीवात्मा को मृत्यु के हजारों मौके मिले फिर भी वह

मर नहीं सकता और पूर्णतया निरोगी आदमी बातों-बातों में पलक झपकते ही मृत्यु की गोद में सो जाता है।

मनुष्य मात्र को सर्वथा परोक्ष, मृत्यु संबंध की वक्तव्यता महावीर स्वामी के शासनानुसार इस प्रकार समझी जाती है।

मृत्यु के प्रकार :

गौतम स्वामी के पूछने पर भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम ! मृत्यु पांच प्रकार का है: (१) आवीचिक मृत्यु (२) अवधि मृत्यु (३) आत्यंतिक मृत्यु (४) बाल मृत्यु और (५) पंडित मृत्यु।

१. आवीचिक मृत्यु :

अगम-निगम का ज्ञान पर्षदा को सूक्ष्म प्रकार से हो सके। इससे पूछने पर गौतमस्वामी को भगवंत ने कहा कि, 'जिस तरह तालाब या सागर में प्रथम लहर उत्पन्न होती है और पीछे से आनेवाली लहरों के साथ मिल जाने पर प्रथम लहर का नाश होता है उसी तरह जिन जीवात्माओं ने आयुष्यकर्म के जितने प्रमाण में दलीक बांधे हैं वे अपनी स्थिति अनुसार प्रति समय उदय में आते हैं और अन्य समय में उदित होने वाले दलिक के साथ पहले जो दलिक उत्पन्न हुए हैं उनका नाश होता है, उस मृत्यु को अवीचिक मृत्यु कहते हैं। उदाहरण के तौर पर गत भव में मनुष्यगति का आयुष्यकर्म बांधकर तथा वह भव पूर्ण करके जिस समय माता की कुक्षि में आता है तबसे मनुष्यभव के आयुष्यकर्म का वेदन शुरु होता है। निषेक अवस्था की मर्यादा में प्रविष्ट हुए वे कर्मदलिक प्रतिसमय नाश होते रहते हैं, अन्त में अन्तिम दलीक भी नाश होते हैं। प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले इस संसार के स्वरूप का निर्णय कभी व्यवहार पद्धति से किया जाता है तो अन्य किसी समय पर निश्चय पद्धति से किया जाता है।

दोनों रीति अपने-अपने स्थान पर प्रधान है फिर भी निश्चय दृष्टि को गौण रख के सिर्फ व्यवहार दृष्टि से किए हुए निर्णय, जीवन में बहुत प्रकार से अज्ञान सूचित करते हैं, जिससे वैर-विरोध, वितंडावाद आदि के लिए नये-नये कुतर्क भडकेंगे और आध्यात्मिक जीवन की क्रूर मजाक करेंगें। इस तरह व्यवहारिक दृष्टि को गौण रखकर सिर्फ निश्चयदृष्टि से संसार की माया हल करने से हृदय और मस्तिष्क कोरे रह जायेगें। जिससे केवलज्ञान तो दूर रहेगा परंतु भाग्योदय से प्राप्य मतिज्ञान भी मतिज्ञानवरणीय में परिणत होने में देर नहीं लगाएगा। इस प्रकार दोनों को साथ लेकर चलने की वृत्ति से सम्यग्ज्ञान में वृद्धि हो पाएगी। इस प्रश्न में निश्चयदृष्टि का उपयोग करने से और द्रव्य आयुष्य को नजर में रखने से प्रश्न का हार्द समझा जाएगा। वह इस प्रकार है :—

यदि प्रथम समय से ही आयुष्यकर्म के दलिकों का नाश अस्वीकार किया जाय तो मृत्यु समय में दलिकों का क्षय एक साथ कैसे हो सकता है और बाल्यकाल, युवाकाल, तरुणकाल और वृद्धकाल की प्राप्ति भी कैसे सुलभ हो पाएगी ?

इसलिए, चलता हुआ चलित हुआ।

वेद्यमान वेदित हुआ।

म्रियमाण मृत बना।

और पीड्यमान पीड़ित हुआ।

इस तरह भगवान महावीरस्वामी की यथार्थ वाणी से ही हम सम्यग्-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और पाया हुआ ज्ञान बढ़ा सकते हैं। सारांश यह है कि प्रति समय मनुष्य का मृत्यु हो रहा है यह समझकर हरेक जीव को अज्ञान-मोह-माया आदि के कुसंस्कारों को छोड़कर वैराग्य वासित बनना चाहिये, जिससे आनेवाले भव के लिए सद्गति का आयुष्य सरलता से बांधा जाये।

२. अवधि मृत्यु :

जितनी अवधि मर्यादा का आयुष्य हो उतनी अवधि में अपने उपार्जित दुसरे कर्मों के कारण ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, संयोग वियोग आदि कर्म जो इस वर्तमान भव तक सीमित है उनको भोगने के बाद वर्तमान आयुष्यकर्म के अंतिम परमाणु का नाश होने पर आदमी की मृत्यु हो जाती है। मतलब कि इस भव के सुख दुख आदि को भुगतने की अंतिम मर्यादा आयुष्य कर्म के अंतिम परमाणु में है, उसके बाद 'आप मरे मर गई दुनिया' खेल खत्म हो जाता है। मदारी अपना खेल खत्म होने पर जिस तरह दूसरे बाजार में चला जाता है उस तरह यह जीवात्मा इस भव की अमीरी, सत्ता, हिरे-मोती के आभूषण और पुत्र परिवार आदि छोड़कर चला जाता है। आयुष्य की यह मर्यादा, चरम-शरीरी, देव, नारक या लम्बे आयुष्यवाले तिर्यंच या मनुष्य को छोड़कर घट सकती है, लेकिन बढ़ती नहीं है। विषपान, शस्त्रघात जलसमाधि पर्वत आदि से पतन, ज्यादा भूख प्यास आदि के कारण मर्यादा घटती है और उस वक्त अन्य कर्मों के भोग का हिसाब एक साथ समाप्त हो जाता है।

३. आत्यंतिक मृत्यु :

नरक आदि आयुष्यकर्म दलिकों को भोग के जीव मरता है और मरके उसी वक्त आयुष्यकर्म दलिकों को भोगे बिना उसकी जो आगामी मृत्यु होती है, वह आत्यंतिक मृत्यु है।

४. बाल मृत्यु :

वर्तमान जीवन में हमने पंडित-महापंडित, त्यागी महात्यागी वैरागी और थोड़े बहुत व्रतधारी होने के नाते बहुत से सद्नुष्ठानों में जीवन

पूर्ण किया हो फिर भी आंतर जीवन का मापदंड (थर्मा-मीटर) तो मृत्युशय्या ही हैं उस वक्त तुम्हारी स्थिति कैसी होगी ? यह ही एक महत्त्व की बात है। इसलिए आंतरजीवन को किसी हालत में भी अशुद्ध न होने देना चाहिए, तभी मृत्यु समय पर अपनी शुद्धि के दौरान वह जीव अपने आप ८४ लाख योनि के जीवों को और १८ पापस्थानों को आलोचित करता हुआ उनका प्रतिक्रमण करेगा। चार शरण स्वीकारेगा और अपनी यात्रा पूर्ण करेगा। अन्यथा बाह्य जीवन चाहे कितना भी अच्छा होगा फिर भी आंतरजीवन की मलिनता, पापिष्टता, माया-मृषा वादिता, अंतिम वक्त पर विश्वासघात किये बिना रहेगी नहीं। क्योंकि दुसरी सब अवस्थाओं में हम सबके साथ विश्वासघात कर सकते हैं लेकिन मृत्युशय्या पे तुम्हारा कुछ भी नहीं चल सकता पूरी जिंदगी में किये गये, कराये गये, या जिनका अनुमोदन हुआ है ऐसे पापप्रपंच, फिल्म की तरह आंखों के सामने उपस्थित होते हैं और तुमको आर्तध्यान या रौद्र-ध्यान में डूबाके मृत्यु बिगाड़ देते हैं। बहुत से जीवों को हम मरते हुए देखते हैं कि वे मरते समय ही आंखों में से आंसू निकाल रहे होते हैं। जैसे कि :—

'अब तो भई मेरा आखरी वक्त है इसलिए सुपारी का टुकड़ा दे, नये वस्त्र पहना। अमेरिका से दामाद आया कि नहीं ? बेटी आई की नही ? और देख ! कोर्ट में जो चाचा के विरूद्ध केस है वो बरोबर लड़ना दूसरा वकील करना और उसे जेल में भिजवाकर ही चैन लेना। दूसरी बहुत योनियों के जीवों को मिच्छमि दुक्कडं करना लेकिन तेरी बूआ, चाची, जेठाणी, सास और फलाने पड़ोसी को मिच्छामि दुक्कडं करने मत जाना और देख बेटा धर्मध्यान में ज्यादा पागलपन नहीं रखना लेकिन माया इकट्ठी की होगी तो काम में आयेगी।' इत्यादि प्रसंग जो हम अपनी आंखों से देख रहे हैं अनुभव कर रहे हैं ऐसी मृत्यु के

बारे में भगवती सूत्र ने कहा है कि, ऐसी मृत्यु बाल मृत्यु है । इसमें जिस गृहस्थ या साधु की मृत्यु होती है वह सद्गति नहीं पा सकता ।

पापी पेट की खातिर एक बाजार में लोकरंजन करके दो पैसा कमानेवाले मदारी या हस्तकला के खेल दिखानेवाले मंत्रवादी एक बाजार में खेल खत्म कर के दूसरे बाजार में जाते हैं, इसी तरह मानव शरीर प्राप्त जीवात्मा भी एक भवपूर्ण कर के संसार की माया में यदि कर्जदार बन के आया हो तो कर्ज चुकाता है और यदि लेनदार बनके आया हो तो अपना लेना वसूल करके जीवन का अंत आने पर संसार के दूसरे बाजार में जाने के लिए कर्मसत्ता के सूत्र में बंधा होता है । ऐसी स्थिति में मनुष्य मात्र को इतना ही सोचना चाहिए कि पिछले भव में बहुत प्रकार के दान शील, तप और पवित्र भावादी धर्म की आराधना कर के जो पुण्य प्राप्त हुए हैं उनके बलपर इस भव में मनुष्यावतार पाया है । जहां ऋणानुबंधन की हथकड़ियों में फंसा होने से मुझे कर्मानुसार कर्म करने पड़ते हैं । ऐसा स्थिति में मैं मोक्ष प्राप्त न करूँ या केवल ज्ञान के मार्ग पर न चलूँ तो भी कुछ बुरा नहीं है लेकिन दुर्गति में न फँस जाऊं इतना ही ध्यान रखू तो भी बहुत है । इसलिए जीवन में ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जिससे मेरा मृत्यु खराब हो, मुझे आर्तध्यान या रौद्रध्यान हो, जिससे संसार की माया में मेरा मन और जीव खो जाय । बस इतने ही विचार केन्द्र में रख के अपना जीवन बनाया जाय तो मनुष्य बाल-मृत्यु से बचने के लिए भाग्यशाली होता है ।

५. पंडित मृत्यु :

जीवन की रामलीला खेलने पर भी वैरी और विरोधीयों के बीच रहने पर भी, हजारों लाखों की माया इकट्ठी करने पर भी जो अपना आंतर्जीवन निर्लेप, अनासक्त और सम्यक्त्ववासित रखता है उसे मृत्यु समय पर संसार की कोई भी माया याद नहीं आती है । कदाचित् उस समय असह्य शारीरिक वेदना भोगता होगा फिर भी शरीर और आत्मा

अलग है यह समझकर वेदना के प्रति दुर्लक्ष्य रखकर आत्मा को परमात्मा के ध्यान में मस्त बनाएगा और अपने आप ही संसार की बाजी में खेलते पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर यावत् देवलोक तक के जीवों की त्रिविध से हुई अशातना का पश्चाताप करेगा, मिथ्यादुष्कृत देगा तथा अठारों पापस्थानकों की निंदा गर्हा करेगा तथा भवांतर में मैं पापों को संपूर्ण त्याग कर दीक्षा ग्रहण करू और यह भव की अपूर्ण आराधना दूसरे भव में पूर्ण कर पाऊँ, भवोपम मुझे अरिहंत देव, जैन धर्म तथा उनकी मूर्ति मिले और मैं आराधक बनने पाऊँ, ऐसी भावना में मृत्यु पाता मनुष्य पंडित मृत्यु का मालिक बनता है।

उपर्युक्त पांचों प्रकार के आयुष्य का भेद-भेदांतर समझाते हुए भगवंत ने कहा कि, 'आवीचिक मरण के पांच भेद हैं।' वे इस प्रकार हैं :

१. द्रव्यावीचिक मरण २. क्षेत्रावीचिक मरण ३. कालावीचिक मरण ४. भवावीचिक मरण ५. भावावीचिक मरण।

द्रव्यावीचिक मरण भी नैरयिक द्रव्यावीचिक मरण, तिर्यंच द्रव्यावीचिक मरण, मनुष्य द्रव्यावीचिक मरण और देव द्रव्यावीचिक मरण, चार प्रकार के हैं। नरकगति में रहे हुए नारक ने जिस प्रकार आयुष्य कर्म बांधा हो (जैसे कि मजबूत, ज्यादा रसदार, ज्यादा स्थितिवाला बांधा हो) वह कर्म नरकभूमि में जाने के समय से प्रति समय भुगता जाता है और भुगता हुआ जो कर्म है वह आत्मप्रदेश से अलग होता है, उसी तरह तिर्यंच, मनुष्य और देव के जीवों का कर्म समझना।

क्षेत्रावीचिक मृत्यु भी ऊपर दिये गये पांच भेद में और प्रत्येक के चार चार भेद में जान ने का आदेश है। क्योंकि नरकगति के क्षेत्र में भुगतने योग्य आयुष्यदलिक नरकक्षेत्र में भुगतने होते हैं और कालावीचिक मृत्यु भी नरकगति में जाने के बाद के काल में आयुष्यदलिक भुगतने होते हैं।

इसी तरह अवधि तथा आत्यन्तिक समझना। बाल मृत्युके प्रसंग प्रथम भाग में देख चुके हैं

पंडित मरण– १. पादपोगम मरण २, भक्त प्रत्याख्यान रूपसे दो प्रकार का हैं। पादपोगम मतलब सम्यक्श्रद्धा ज्ञान और चरित्र की शुध्दि-पूर्वक विषय कषायों को अत्यंत बारीक करने के लिए, फिर से संसार वृध्दि न हों इसलिए मरणांतिक संलेखनापूर्वक अपने शरीर को पेड़ की तरह सर्वथा निश्चल बनाता है। मन, वचन तथा काया के हलन चलन को ज्ञानशक्तिपूर्वक अवरोध देता है। ऐसी स्थिति में मरनेवाला साधक पाद-पोगम मृत्यु का अधिकारी बनता है। जब कि अपने अदम्य पुरुषार्थ से आत्मा की शक्तिओं का विकास करता साधक चारों प्रकार के आहार का और आहारजन्य विषय कषायों का त्याग कर के मरता है वह भक्त प्रत्याख्यान मरण कहलाता है।

पादयोगम मृत्यु के दो प्रकार हैं।

निर्हारिम मतलब मृत घोषित किये हुए साधक को घर के बाहर लाकर संस्कारित करना। जब कि अनिर्हारिम में पर्वत की गुफा में जंगल में या एकान्त स्थान में पादपोगम से मरने वाले का संस्कार नहीं किया है। इस तरह दोनों प्रकार के पादपोगम मृत्यु में साधक को चार प्रकार के आहार त्याज्य होता हैं। शरीर का संस्कार सेवा शुश्रुषादि से रहित होता है। अपने शरीर की सेवा खुद नहीं करता और अन्य किसीसे करवाता नहीं है। जब की भक्त प्रत्याख्यान मृत्यु भी निर्हारिम और अनिर्हारिम रुपसे दो प्रकार का है, फिर भी दोनों सप्रतिकर्म यानि कि मरणान्तर के बाद संस्कारित होता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के पंडित मरण अपनी शक्ति और परिस्थिति का ख्याल रखकर अवश्यमेव स्वीकार्य है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। परंतु यह ध्यान में रखना जरूरी है कि वज्रऋषभनाराच संघयण के मालिक के आत्मिक व शारीरिक बल की तुलना में अंतिम संघयण के मालिक का बल सर्वथा नगण्य है। कदाचित शरीर बल साधारण तथा अच्छा हो तो ज्ञानबल में थोड़ी बहुत खामी होती है। अथवा अपेक्षाकृत ज्ञान या आत्मबल अच्छा हो तो शरीरबल वैसा नही हो सकता और आत्मिक या मानसिक बल को शरीरबल की अपेक्षा रखना जरूरी है। फिर भी गृहस्थाश्रम में रहनेवाला श्रावक या श्राविका चाहे कितनी भी अपने बल की बातें करे पर वे छठे गुणस्थानक के मालिक कतई हो नहीं सकते। क्यों कि महाव्रत धारण किये बिना छठ्ठा गुणस्थानक हरहालत में नहीं स्पर्शा जा सकता है। फिर भी इस छठ्ठे गुणस्थानक में आर्तध्यान की प्रमुखता का कोई भी तत्त्वज्ञानी इन्कार करने में असमर्थ है। और आर्त-ध्यान की प्रमुखता में या शक्यता में आत्मिक या मानसिक मनोबल को चाहे जितना भी पानी चढ़ाया जाय यह पानी कब तक टिकेगा? और यदि शारीरिक वेदनाओं की वृद्धि में फँसने पर महसूस होता है कि भूख बहुत खराब चीज है और उससे आँखे अंदर चली हैं तथा पैर थक जाते हैं और आँखों में आंसू आ जाते हैं। अर्थात् भूख और प्यास को जो ध्यान में रखेगा उसका अनशन कब तक टिकेगा? या फिर धर्म की मजाक की जायेगी? इन सब बातों को ध्यान में रख के किये जाते अनशन पादपोगम या भक्तप्रत्याख्यान की तुलना में नहीं आ सकते यह हकीकत है।

॥ शतक १३ वाँ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १३ : उद्देशक–८

कर्मसत्ता :

जीवमात्र का कल्याण चाहनेवाले श्री गौतमस्वामी ने भगवंत महावीर स्वामी से पूछा कि, 'हे प्रभो ! जैन शासन में कर्म की प्रकृति कितनी है यानि कर्म के भेद कितने हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम ! अनंत चोवीशी के अनंत तीर्थंकरों ने कर्मों को आठ भागों में विभाजित किया है अर्थात् कर्मों के आठ भेद हैं, जो प्रकृतिबंध, रसबंध, स्थितिबंध और प्रदेशबंध से प्रत्येक कर्म के चार-चार प्रकार हैं और प्रज्ञापना सूत्र के १३वें पद में कहे गये प्रकरण को देखने के लिये सूत्रकार श्री सुधर्मास्वामीजी सिफारिश करते हैं ।

मदिरापान में मस्त आदमी के ज्ञान तंतु इस तरह दब जाते हैं कि उसे पांच या सात मिनट पहले की घटनाओं की विस्मृति हो जाती है। इस तरह सातों कर्म का मूल मोहनीय कर्म है जो शराबपान को चरितार्थ करनेवाला होने से मोह और माया में रत मनुष्यों को संसार की खराब बातें, शृंगारादि रस की बातें और भजन याद रहते है लेकिन सम्यग्ज्ञान की बातें, चर्चाऐं याद नहीं रहती है। ऐसी परिस्थिति में दया के सागर समान, प्राणीमात्र के कल्याण के इच्छुक गौतमस्वामी बार-बार कर्मों के संबंधवाले प्रश्न पूछते हैं और भगवंत जवाब देते हैं । यह प्रस्तुत प्रश्न भी कर्म संबंधी है ।

मोहवश जीव के अध्यवसाय असंख्य और अनंत होने से कर्म भी अनंत होते हैं । लेकिन उन सबका समावेश आठ की संख्या में हो जाता

है। क्योंकि कोई भी अध्यवसाय ऐसा नहीं है जो आठ कर्मों में से एक में समा न जाता हो इसलिए सामूहिक दृष्टि से आठ कर्म कहे गये हैं। उन सबका विस्तृत वर्णन प्रथम भाग में और दूसरे भाग में आ गया है।

बिना कर्माणु का जीवात्मा तो ईश्वर ही होता है, जो निरंजन, निराकार होने से उसे एक भी कर्माणु असर नहीं करता है। जबकि संसार वर्ती जीव अनादिकाल से कर्मों के थोड़े-बहुत अणुओं से मिश्रित होता है।

प्रथम जीव या प्रथम कर्म :

इस संसार में बहुत-सी चीजें ऐसी है जिसके लिए प्रश्न और उत्तर का कोई अवकाश नहीं होता है। जैसे कि 'आम की गुठली प्रथम उत्पन्न हुई या आम का वृक्ष ?' हम माया के चमत्कार प्रत्यक्ष देख रहे है कि यदि ३३ करोड़ देवता साथ में मिलकर भी आम की गुठली के बिना आम का वृक्ष तैयार नहीं कर पाते हैं, इस तरह आम के वृक्ष के बिना गुठली का उत्पादक संसार में नहीं मिलेगा। इसी तरह अण्डे के बिना कबूतर नहीं होता और अण्डे का उत्पादन आकाश से नहीं होता। अण्डा कबूतर के बिना संभव नहीं है। अनादिकाल से दिन और रात चलते आ रहे हैं लेकिन कोई यह नहीं बता सकता कि पहले रात्रि का निर्माण हुआ या दिन का? इत्यादिक प्रश्नों में मतिज्ञान को फंसाना सर्वथा निरर्थक है। क्योंकि जिसका जवाब है ही नहीं, ऐसे प्रश्न भी बेकार होते हैं। आकाश में से वर्षा, मछलियां या बिजली गिरते हुए कोई भी देख सकता है। परन्तु आकाश में से आम की गुठली या कबूतर के अण्डे गिरे हो या किसी फैक्टरी में बनते हो ऐसा किसी को न भूतकाल में अनुभव हुआ है और न ही भविष्य में अनुभव होगा।

सत्यार्थ यह है कि संसार को, मनुष्यों को, वृक्षों को, नदियों को जो ईश्वर का सर्जन मानता है या ऐसे मिथ्याभिमानी हो ऐसे सवाल करते

हैं। लेकिन अब तक एक भी ब्रम्ह देवता ऐसा पैदा नहीं हुआ जो अपने भक्तों को संसार से मुक्ति दिला सके। जब कि अरिहंत के शासन में ऐसा आदेश दिया गया है कि, 'हे पुण्यशाली जीव! यह संसार और उसकी माया सब के लिये प्रत्यक्ष है, इसलिये तू खुद उसका अनुभव कर, ताकि सत्य ज्ञान के मालिक बन सके।' मुक्तात्मा को छोड़ के कर्म बिना का एक भी जीव नहीं है। इसलिये जीव और कर्म का मिश्रण ही संसार है, उन कर्मों का उत्पादक, संग्राहक और विनाशक जीव है लेकिन जीवों का उत्पादक, कोई हो नहीं सकता। ऐसा होने पर भी संसार या जीव के रूपांतर को जैन शासन मान्य करता है और उस कार्य में भी कर्मसत्ता का आधिपत्य मानता है।

घी, तेल या रंग आदि की इच्छा न होने पर भी काष्ठ पर रजकण आदि चिपक जाते हैं। उसी तरह रागद्वेष की चिकाशवाले आत्मा को मन, वचन तथा शरीर के व्यापार सर्वथा अनिवार्य होते हैं। और जहां व्यापार है वहाँ कर्मरज चिपक ही जायेगी। जैन शासन इस प्रक्रिया को कर्मबंधन कहता है।

खाद्य अनाज का अमुक भाग खून में, मेद में, हड्डियों में, शुक्र या रज में परिवर्तित होता है। उसी तरह नये कर्मों के भी चार विभाग हो जाते हैं। उसे प्रकृति (स्वभाव), रस, स्थिति और प्रदेश कहते हैं। भिन्न भिन्न अध्यवसायों से बने कर्मों का स्वभाव एकरूप नहीं होता है। लेकिन आठ रूप से होता है। जैसे कि—

(१) चैतन्य स्वरूप आत्मा के चैतन्य (ज्ञान) को जो अवरोधता है वह ज्ञानावरणीय।

(२) दर्शन स्वरूपी आत्मा को दर्शन अवरोध का अनुभव हो वह दर्शनावरणीय।

(३) शुद्ध स्वरूपी आत्मा को जिससे सुख दुख का अनुभव हो वह वेदनीय।

(४) अपनी मूलभूत स्थिति का आभास न होने दे और शुद्धस्वरूप के प्रकटीकरण में बाधा डाले वह मोहनीय कर्म।

(५) सुख दुःख को भोगने के लिये शरीर की रचना में जो पार्थक्य है वह नामकर्म के कारण है।

(६) जीव का बड़प्पन या छोटापन गौत्र कर्म के आधीन है।

(७) चारों गति में भागमभाग करानेवाला आयुष्यकर्म है।

(८) जीवन की प्रत्येक बात में जो विघ्न डालता है वह अंतराय कर्म है।

इस प्रकार अध्यवसायों के अधीन होकर कर्मों को बांधते वक्त ही उनमें फल देने का स्वभाव भी अपने आप बंध जाता है।

स्वभाव की तरह आत्मा के साथ रहने का काल भी उस वक्त या उसके बाद बंध जाता है। प्रथम भाग में इस विषय की चर्चा हो चुकी है लेकिन महत्त्व का होने की वजह से इस पर फिर से थोड़ा गौर कर ले अनंत संसार के अनंत भवों को भोगनेवाला यह जीवात्मा रागद्वेष, मोह-माया और कामोपासना आदि के कारण प्रत्येक भव में लाखों करोड़ों से भी ज्यादा अन्य जीवों के साथ संबंधित हुआ है। अध्यवसायों की भिन्नता के कारण संबंध भी विचित्र होते हैं। अनिकाचित संबंध वाले कर्मों की बात नहीं भी करे तो भी निकाचित, गाढ़निकाचित बने राग के या द्वेष के संबंध या कर्मों में तो बहुत ही विचित्रतायें आने का कारण यही हैकि—

कर्मों की जंजीर से बंधे दोनों जीव कौन जाने कब फिर से एक स्थान पर इकट्ठे होंगे उसके बारे में कुछ भी कहा नहीं जा सकता क्यों कि सर्व जीवों की गति और आगति सर्वथा कर्मापेक्ष है।

महावीर स्वामी की आत्मा, शय्यापालक की आत्मा को ८० सागरोपम के बाद मिली है, जब कि पार्श्वनाथ की आत्मा कर्मठ को तथा गुणसेन की आत्मा अग्निशर्मा को एक एक भव के समय बाद लगभग सागरोपम की संख्या पूर्ण होने पर मिला है। इस तरह अति निकाचित राग के संबंध से आनतप्राणत देवलोक का देव अपनी २० सागरोपम जितनी आयुष्य मर्यादा लगभग पूर्ण करने के बाद अपनी २० सागरोपम से पहले की और निकाचित बंधन में बंधी तथा परपुरुष द्वारा तत्काल भोगी गई स्त्री के शरीर के साथ पलक झपकते ही कामचेष्टित होकर देव अवतार पूर्ण करता है तथा पुत्र बनकर उस स्त्री की कुक्षि में जन्म लेता है।

इसलिए ही मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की कही गई है। इस प्रकार मरीचि मुनिने आत्मा की शिष्य के लोभ में निकाचित बांधा हुआ दर्शन मोहनीय कर्म सोलहवे भव तक कायम रहकर उपशमित हुआ है। बीच में कई सागरोपम देवलोक में और लाखों पूर्वों की आयुष्यमर्यादा ब्राम्हण कुल में पूर्ण हुई है, वो इस प्रकार है—

मरीचि		८४ लाख पूर्वायु
चौथे भव में		१० सागरोपम आयु
पांचवे भव में	ब्राम्हणकुल	८० लाख पूर्वायु
	(उसके बाद लम्बे अर्से तक का भ्रमण)	
छट्ठे भव में	ब्राम्हण	७२ लाख पूर्वायु
सातवे भव में	सौधर्म स्वर्गमें	मध्य स्थिति

आठवे भव में	अग्निद्योत ब्राम्हण	६० लाख पूर्वायु
नववे भव में	ईशान स्वर्गमें	मध्य स्थिति
दशवे भव में	अग्निभूत ब्राम्हण	५६ लाख पूर्वायु
ग्याहरवे भव में	सनत्कुमार स्वर्गमें	मध्य स्थिति
बारहवे भव में	भारद्वाज ब्राह्मण	४४ लाख पूर्वायु
तेरहवें भव में	माहेन्द्र स्वर्ग	मध्य स्थिति
चौदहवें भव में	स्थावर ब्राह्मण	३४ लाख पूर्वायु
पंद्रहवें भव में	ब्रह्मलोक स्वर्ग	मध्य स्थिति

ऊपर दिये गये छः भव देवलोक के हुए हैं, उसमें भी दो बार पांचवे स्वर्ग में और चार भव में अन्य स्वर्ग में उत्कृष्ट और जघन्य के बीच मध्य आयु का स्वामी हुआ, जब कि मनुष्य अवतार में ४३० लाख पूर्वायु पूर्ण हुए हैं।

एक पूर्व में ७०५६०००००००००० जितने सालों का समावेश होता है। इस तरह के चार सौ लाख और ३० लाख पूर्व समझना।

शरीर की सुखाकारी के पाप से बंधा चारित्र मोहनीय भी जाने कितने सागरोपम पूर्ण करने के बाद पूरा होता है और उसी भव में ही बंधे नीच गोत्र का उदय जाकर महावीर स्वामी के भव में उदित होता है इसके बीच लगभग कोड़ाकोड़ी सागरोपम का समय पूर्ण होता है। इस कारण से सूक्ष्मदर्शी जैन शासन ने कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति इस तरह बताई है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्म की ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। नाम और गोत्र कर्म की २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम और मोहनीय कर्म ७० कोड़ाकोड़ी है और आयुष्यकर्म केवल ३३ सागरोपम की मर्यादावाला है।

लेश्याओं की स्थिति अनियत होने से बंधे और बंधने वाले कर्मों में रस (कर्मों में फल देने की योजना) भी विचित्र प्रकारसे होता है। जैसेकि ब्राम्हण संस्कृति के चक्कर में फँसे राजाओं के जमाने में दशहरा के दिन हजारों आदमियों के बीच शराबपान कराए गये भैंसे को भाले से अत्यन्त दयनीय पद्धति से मारा जाता था। क्रिया एक ही है लेकिन फिर भी हजारों आदमियों के अध्यवसाय अलग-अलग होने से कुछ आदमी क्रूर लेश्यावाले होकर भैंसे को भाला मारते हैं। कुछ जिज्ञासु होकर और कुछ लोगों को सिर्फ देखने में मजा आता होने से खड़े-खड़े तालियां बजाते हैं और कुछ लोग इस हिंसक क्रिया को देखने की कतई भावना नहीं रखते लेकिन दोस्तों की शर्म के मारे देखते होते हैं। इस तरह सब लोगों की भावना विचित्र और अलग-अलग होने से एक ही क्रिया से बँधे कर्मों में इसका तारतम्य भी उतरे तो उसमें आश्चर्य की बात नहीं है। रेल्वे, मोटर या विमान के अकस्मात में कई लोग मरते हैं उसमें कुछ लोग बहुत पीड़ा सहन करने के बाद मरते हैं। कुछ लोग अपने हाथ-पैर गवां के कष्टमय जीवन जोते हैं। जबकि कुछ लोगों को कोई भी हानि नहीं होती हैं और बच जाते हैं। इसमें रसबंध की विचित्रता के अलावा कोई दूसरा कारण नहीं है।

प्रदेशबंध कर्माणुओं के प्रदेशों का समूह होता है। क्रियामात्र में प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध अनिवार्य है। जबकि रस और स्थिति में कषाय-भावों की तरतमता रहती है।

रसघात, स्थितिघात और गुण संक्रमण :

भवभ्रमण करते जीव को जब मोक्षगमन की योग्यता प्राप्त होती है तब उसमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण (आत्मा की अजब-गजब की शक्ति) की प्राप्ति होते ही दीर्घस्थिति और तीव्र रस के कर्म भी छोटी

स्थितिवाले और कम रसवाले हो जाते हैं। कर्मसत्ता के पास जिस तरह अनन्त शक्ति है इसी तरह जीव भी अनन्त शक्ति का स्वामी है। अनादि-काल से दोनों मैदाने जंग में खड़े हैं लेकिन अब तक कर्मराजा ने जीव पर विजय प्राप्त की है, परन्तु भवभ्रमण में किसी समय जीवात्मा को जब अपना भान होता है तभी वह अपनी अभूतपूर्व शक्ति से कर्मराजा को हराने के लिए समर्थ बनता है। उसी वक्त लम्बे अर्से के कर्म का निकंदन निकल जाता है और अंत में कोड़ा-कोड़ी जीतने समय वाले कर्म ही शेष रहते हैं। आत्मा की इस शक्ति को 'निवृति करण' कहा जाता है। यहां अनन्तानु-बंधी शरीर कषाय और मोहनीय की तीन प्रकृतिओं का क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक और क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवात्मा को होती है जो मोक्ष में जाने का प्रथम चरण होती है। इस स्थान से स्थगित होकर आत्मा यदि सम्यग् ज्ञान बढ़ा सके तो कोटाकोटि सागरोपम में से भी पल्योपम जितने कर्मों को तोड़कर उस स्थिति में यह जीवात्मा प्रवेश करेगा जहां चिकने कर्मो को फिर से बाँधने की योग्यता भी नष्ट होगी और आहिस्ता-आहिस्ता या ज्यादा जोर से अपनी गति में आगे ही आगे बढ़ता हुआ वह भाग्यशाली मोक्षमहल में जा सकेगा।

॥ शतक १३ वाँ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक १३ वाँ : उद्देशक–९

अविचारों कि आलोचना न की जाय तो ?

तीसरे शतक के पाँचवे उद्देशक में इस विषय की चर्चा की गई है। ऐसा ही विषय प्रस्तुत उद्देशक में भी कहा गया है। सारांश इस प्रकार है :

गृहस्थाश्रम में रहता हुआ गृहस्थ चाहे कितना भी सम्यक्त्वधारी या व्रतधारी क्यों न हो फिर भी मुनिराजाओं के महाव्रत के आगे श्रावक के व्रत सर्वथा अल्प ही कहलाते हैं क्यों कि वे अणुव्रतधारी है और मुनिराज महाव्रतधारी हैं।

गुरु की आज्ञा में रहकर ज्ञान, ध्यान और वैराग्य की धारा में आगे बढ़ता हुआ मुनि वैक्रिय शक्तिओं का धारक होने के बावजूद भी यदि आत्मशक्ति का विकास न कर सके तो उसकी आध्यात्मिकता, मायामृषा-वाद से मुक्त नहीं हो सकती। इसलिए भाव आध्यात्मिकता जिस मुनि में न हो वो चाहे कितनी ही लब्धियां प्राप्त करें, आकाश में भ्रमण करे, कैसे भी और कितने भी रुपों की विकुर्वणा करें फिर भी वह प्रमादी बन के अपने व्रतों को लगे अतिचार, प्रमादिता आदि दोषों का प्रतिक्रमण या आलोचना नहीं करता है तो वह मुनि आराधक नहीं बनता है लेकिन विराधक बनता है।

लगे या लगाये हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण यदि भाव आवश्यक (प्रतिक्रमण) से सभर होगा तभी उन अतिचारों से मुक्त बन के भाव आध्यात्मिकता की ओर प्रस्थान कर के कल्याण प्राप्त करेगा, अन्यथा अकल्याण भाग्य में रहेगा। केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले छद्मस्थ मुनि

को या गृहस्थ को सुखदायक भौतिक पदार्थ और चमत्कारों की प्राप्ति से किसी समय चारित्र बल या किसी समय में पुण्यबल भी काम करता है।

महाव्रतों की या समिति गुप्तिधर्म की आराधना कर्मों की निर्जरा के लिए करनेवाले मुनि का जीवन और शरीर दूसरों के लिए भावमंगल होता है। जिससे ऐसे महातपस्वी मुनिओं का दर्शन, वंदन और उपासना से गृहस्थ संसार के भौतिक लाभ पा सकते हैं, जब कि निर्जरा के लिए आराधना न करनेवाले मुनि केवल पूर्व के पुण्यों के कारण गृहस्थों के लिए चमत्कार रूप होते हैं। खास बात यह है कि यदि वो मुनि आराधक होगा तो प्रतिक्रमणादि से अपनी आत्मा को बचा लेगा, अन्यथा गृहस्थों के टंटे फिसाद में रक्त वह मुनि विराधक बन के अपने आप अपना अधःपतन करेगा।

प्रथम भाग में दिये गये वैक्रिय रुप आदि को मूलसूत्र से समझना।

॥ शतक १३ वाँ : उद्देशक-९ पूर्ण ॥

शतक १३ वाँ : उद्देशक–१०

तेरहवें शतक का यह अंतिम उद्देशक है। केवल ज्ञान को प्राप्त करने के बाद भगवान महावीर स्वामी ३० साल तक विहरमान रहते हैं, अपने जीवन के अंतिम श्वास तक भव्य जीवों को नया ज्ञान देने के लिए समवसरण में विराजमान होकर भिन्न-भिन्न विषयों को स्पर्शनेवाला ज्ञान जनता को दिया है। खास ध्यान में यह रखना है कि, 'बुद्ध' की तरह बहुत से प्रश्न प्रभु ने जाने नहीं दिये हैं।

जिज्ञासु को कौन से समय पर कौनसा विषय जानना हो वह कहा नहीं जा सकता, इसलिए किसी समय में संबंधित और दूसरे समय में असंबंधित विषय के बारे में भी सवाल किये हैं और दया के सागर प्रभु ने उनके उत्तर भी दिये हैं।

इस उद्देशक में गौतमस्वामी ने पूछा कि, 'हे प्रभो ! छद्मस्थ जीव को कितने समुद्घात होते हैं ? भगवंत ने उत्तर में कहा कि, 'छः समुद्घात होते हैं, जो इस प्रकार हैं : वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक और तेजस समुद्घात..... जो प्रथम भाग में चर्चित किये गये हैं।

संसार में केवली और छद्मस्थ के रूप में जीव दो प्रकार हैं। केवली संसारातीत जीव कहलाता है और संसार की चारों गतियों में कर्म-वश चक्कर काटनेवाले छद्मस्थ है। जिसमें पहले गुणस्थानक को लेकर ११ वें गुणस्थानक के सब जीव यानि कि क्षपक श्रेणी बिना के जीव और मतिज्ञान से लेकर मनपर्यव तक के सर्व ज्ञानी छद्मस्थ है। इन सब

छद्मस्थों को समुद्घात छः होते हैं। विशेष प्रज्ञापना सूत्र से जानने के लिये सिफारिश है।

॥ शतक १३ वां : उद्देशक १० पूर्ण ॥

॥ समाप्ति वचनम् ॥

जगत्पूज्य, नवयुग प्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्यतम शासनदीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्य पंन्यास श्री पूर्णानन्दविजयजी (कुमार श्रमण) ने अपने स्वाध्याय के लिये, ज्ञान की ताजगी के लिए और मतिज्ञान के विकास के लिये और भव-भवांतर में भी जैन शासन के संस्कार उदित हो इसके लिये भगवतीसूत्र सार-संग्रह के दस उद्देशक के साथ १३ वां शतक पूर्ण किया।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्।
सर्वे जीवाः सम्यग्ज्ञानं प्राप्नुयुः ॥

॥ १३ वां शतक पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक १

भावित्मा मुनिओं के उत्पाद :

सम्यक्चारित्रदाता, गुरुदेव १००८ श्री विद्याविजयजी महाराज को भाववंदन करके भगवती सूत्र के १४ वे शतक का विवेचन करने के लिए प्रयत्न करता हूं। जिसकी चर्चा राजगृही नगरी में हुई थी।

देवाधिदेव परमात्मा श्री महावीर स्वामी का आवागमन सुनकर श्रेणिकादि राजा-मंत्री, शेठ आदि समवसरण की तरफ आते हैं और नमन वंदन करके देशना सुनते हैं। भगवंत ने कहा कि, 'हे भाग्यशालीओं! जो जीवात्मा जैसी लेश्या में मरता है, उसको उस लेश्या के स्थानरुप दूसरा अवतार मिलता है। क्यों कि 'यल्लेसे मरइ तल्लेरसे चैव उववज्जाई' देशना के अन्त में पर्षदा अपने-अपने घर गई और गौतमस्वामी ने पूछा कि, 'हे प्रभो! जो भावितात्मा (संयमभाव से जिनका मन आत्मा में वासित है वह) अणगार, मृत्यु के समय से पूर्व भागवर्ती सौधर्म देवावास (देवलोक) की उत्पत्ति की हेतुभूत योग्यता को अपनी लेश्या परिणाम से उल्लंघन कर लिया है। परंतु सनतकुमारादि देवावास में उत्पन्न हेतुभूत लेश्या परिणाम की प्राप्ति हो उसके पहले ही यदि मुनि का मृत्यु हो तो वह कौन से देवलोक में जाय? उसका उत्पाद कहां पर हो? प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है : उत्तरोत्तर प्रशस्त लेश्याओं में रहे मुनि ने सौधर्म देवलोक के देवों की स्थिति आदि बन्ध योग्यता का उल्लंघन किया है, अर्थात् पहले देवलोक से भी लेश्या के बल से वह मुनि आगे निकल गया है और सनत्कुमारादि देवलोक में रहे हुए देवों की स्थिति आदि बन्ध योग्यता को प्राप्त करने से पहले ही मनुष्कभव का

आखरी आयुष्यकर्म परमाणु समाप्त होने पर मुनि की उत्पत्ति कौन से देवलोक में होगी ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि जिन अणगार ने अपने अध्यवसायों से पहले देवलोक के ३२ लाख विमानों को उलांग लिया है, परंतु अब भी सनतकुमारादि देवलोक तक अध्यवसाय पहुंचे नहीं है और मर गये हैं। ऐसी स्थिति में वह मुनि ईशान नामक दूसरे देवलोक में उत्पादित होगा और उसमें भी यदि २८ लाख विमानों से ज्यादातर विमानों को उलांघ लेने के बाद मृत्यु होता है। इसलिये उस समय जिस विमान के योग्य लेश्या का मालिक वह मुनि होगा वहां उनका उत्पाद होगा। अर्थात् वह दूसरे देवलोक में उसी विमान में अवतार लेगा और कर्मलेश्या (भाव-लेश्या) का त्याग करके उस विमान की द्रव्यलेश्या का मालिक बनता है। अथवा मृत्यु समय वह मुनि जिस भाव लेश्या में है, उसको यदि नहीं छोड़ता है तो वह भावलेश्या भी उस देव को कायम रहती है। यह कथन सामान्य हैं।

जिस मुनि ने स्थिति आदि की अपेक्षा से असुरकुमारवास के पूर्व भागवर्ती का उल्लघंन कर के भी अगले आवासों को प्राप्त नहीं किया है और बीच में मर जाता है, तो जवाब में भगवंत ने कहा कि पूर्व की तरह ही बीच के देवावासों में उत्पाद होगा।

ऐसे पवित्र भावितात्मा मुनि का उत्पाद वैमानिक देवलोक में कहा जाता है, तो असुरकुमारों में उनकी उत्पत्ति कैसे संभवित है ? उत्तर में कहा गया है कि, पहले वह मुनि भावसंयमी हो और बाद में संयम में स्थित होकर भी विराधक बना हो... बनता हो और अंतिम सांस तक भी विराधनाओं का प्रतिक्रमण न किया हो तो वह मुनि असुरकुमारादि में जन्म लेता है जो निकृष्ट देवलोक हैं।

इस प्रकार नागकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार आदि ज्योतिषक और वैमानिकों के लिए भी समझना।

नर्क में जानेवालों की शीघ्रगति कैसी होती है ?

नारकों की शीघ्र गति कैसी होती है ? यहां शीघ्रगति से शरीर का गमनागमन नहीं लेने का है, लेकिन काल समयवाचक यह शब्द है इस लिए शीघ्रगति का समय कितना ?

भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, जैसे कोई युवान बल संपन्न हो, सहनशक्तिवाला हो, दोनों भुजाएं मजबूत हो, मुष्टि यथासमय संकोच सकता हो या विस्तृत कर सकता हो ऐसे युवान की गति में शीघ्रता होती है। भगवान के इस कथन को स्वीकारते हुए गौतम ने कहा कि, 'हे प्रभो ! जिसकी भुजा या मुष्ठि शीघ्रता से सिकुड़ सकती है या विस्तृत हो सकती है, क्या इसी तरह नारकों की गति इतनी शीघ्रतावाली होती है।

जवाब में 'ना' फरमाते हुए भगवंत ने कहा कि जिस जीवात्मा ने नरक गति के योग्य आयुष्य कर्म, नरकगति कर्म और नरकानुपूर्वी कर्म बांधा हो उप जीवात्मा की ऋजुगति से एक समय में ही नरकभूमि में जाने की क्षमता होती है और विग्रहगति (वक्रगति) से दो या तीन समय में नरक भूमि में जायेगा।

यद्यपि आदमी के बाहु प्रसारण में शीघ्र गति तुरंत जरूर दिखती है फिर भी उस गति में असंख्यात समय होता है इसलिए नरकगति की शीघ्रता को पुरुष की उस गति के साथ तोला नहीं जा सकता। उसी प्रकार असुरकुमारादि भवनवासीओं, पृथ्वीकायिक आदि विकलेन्द्रियों की, मनुष्य तथा पशुओं की, वानव्यंतर, ज्योतिष्क तथा वैमानिकों की गति भी एक, दो या तीन समय की होती है, उसमें स्थावरों के लिये चार समय की

मर्यादा है। सारांश यह है कि, एक भव में से दूसरे भव में जाने के लिए समश्रेणी में ऋजुगति से एक समय में और विश्रेणी में विग्रह गति से दो या तीन समय में उत्पत्तिस्थान में जीवमात्र को जाना पड़ता है, इसलिए हकीकत में तो इसे ही शीघ्रगति कही जाती है। बाहुप्रसारण में अपनी चर्मचक्षु चाहे शीघ्रता की कल्पना कर ले फिर भी उसमें असंख्य समय समाये रहते हैं।

दो समय में एक विग्रह गति, तीन समय में दो और चार समय में तीन विग्रह समझे जाते हैं। दो समय की विग्रह गति इस प्रकार है : कोई भी जीव जब भरत क्षेत्र की पूर्व दिशा से नरक के पश्चिम दिशा में उत्पन्न होता हो तब प्रथम वह नीचे आता है और दूसरे समय तिर्च्छा होकर उत्पत्तिस्थान में जाता है। इसको दो समय की एक विग्रह गति समझना।

तीन समय की विग्रहगति इस प्रकार है : जब जीव भरत क्षेत्र की पूर्व दिशा से नर्क के वायव्य में उत्पन्न होता हो तब प्रथम समय में समश्रेणी से नीचे आता है और दूसरे समय में तिर्च्छी गति से पश्चिम में आता है और तीसवे समय में तिर्छी गति से नर्क की वायव्य दिशा में जाता है।

चौथे समय की विग्रह गति इस प्रकार है : एकेन्द्रिय जीव एक समय में त्रस नाडी से बाहर अधोलोक की विदिशा में से दिशा में आता है। दूसरे समय में लोक के मध्य में प्रवेश करता है। तीसरे समय में उर्ध्वलोक में और चौथे समय में नारकी में से बाहर आकर दिशा में रहते उत्पत्तिस्थान में आता है।

इस प्रकार दूसरे भवों को प्राप्त करनेवाले जीवों की शीघ्र गति की वक्तव्यता कही गई है।

नर्क के योग्य जीव क्या अनंतरोपन्नक होते हैं ?

'हे प्रभो ! नरक में जानेवाले जीव क्या अनंतरोपन्नक होते हैं ? परंपरोत्पन्नक होते हैं ? या अनंतरपरंपरक अनुत्पन्नक होते हैं ?

नर्क में उत्पन्न होने में समयादिक का व्यवधान न हो उसे अनंतरोपन्नक कहा जाता है, दो या तीन समय का व्यवधान हो तो उसे परंपरोत्पन्नक कहा जाता है और जो ऊपर कहे गये दोनों प्रकार से ताल्लुक नहीं रखता है उसे अनंतर परंपरक अनुत्पन्नक कहा जाता है। ऋजुगति से नरक में जानेवाले प्रथम भेद में है और वक्रगति से दूसरे भेद में समझना।

अनंतरोपन्नक नारक चारों गतिओं के बंधन नहीं करते हैं, जब कि परंपरोत्पन्नक जीव चारों गतिओं में से मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बंधन करनेवाले होते हैं तथा तीसरे भेद के नारक भी चारों गतियों का आयुष्य बंधन नहीं करते हैं।

वर्तमान भव तक अपने आयुष्य का तीसरा भाग जब तक शेष हो तब आयुष्य कर्म बंधता है। जैसे कि किसी जीव का आयुष्य ३३ साल का हो और उनमें से २२ वर्ष कट गये हों तो शेष ११ वर्ष में कभी भी आयुष्य-कर्म का बंधन होगा अन्यथा अंत में आखरी सांस में बंध जायेगा।

अनंतरोपन्नक जीवों को इस प्रकार के आयुष्य बंधन के अध्यवसायों का अभाव होने से आयुष्य बंध नहीं होता है। अनंतरपरंपरक अनुत्पन्नक जीव विग्रहगति में होने से उनका उत्पाद नहीं है, इसलिए आयुष्यबंधन भी नहीं है। जब कि परंपरोत्पन्न जीव आयुष्य के ६ महिने शेष हों तब और जघन्य से केवल अंतर्मुहुर्त शेष हों तब वे दूसरे भव के लिए मनुष्य का अथवा तिर्यंच का आयुष्य बांधते हैं। लेकिन नर्क या देवगति के आयुष्य बंधन की योग्यता न होने से आयुष्य नहीं बांधते हैं।

इस प्रकार असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक समझना।

परंपरोत्पन्नक, जो तिर्यंच और मनुष्य हैं वे चारों गतिओं का बंधन करते हैं। इस प्रकार नर्क गति में से बाहर आने वाले नारकों को दूसरे स्थान पर उत्पन्न होने में एक समय लगता है उसे अनंतर निर्गत कहा जाता है और दो समय लगें तो उसे परंपरोत्पन्नक नारक कहा जाता है। और वे नरक गति में से निकल गये हैं लेकिन अब भी विग्रहगति में हैं यानि की उत्पति क्षेत्र को प्राप्त नहीं कर सके हैं। उसे अनंतर परंपरक अनिर्गत कहा जाता है।

॥ शतक १४ वाँ : उद्देशक १ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक–२

इस उद्देशक में निम्नलिखित वक्तव्यता है। जीवों का उन्माद; इन्द्र क्या वृष्टि करता है? इन्द्र वृष्टि किस तरह करता है? असुरकुमार वृष्टि करते हैं? ईशानादि इन्द्र क्या तमस्काय करते हैं? इत्यादि प्रश्न और उनके उत्तर हैं?

उन्माद की वक्तव्यता :

उन्माद क्या है ? व्युत्पत्ति के अनुसार "उन्मादन मिति–उन्मादः" अथवा "उन्माद्यते उन्माद" जिससे जीवात्मा को उन्माद (नशा) चढ़े वह उन्माद है । साधारणतया भांग-शराब-पान, अफीम आदि का नशा चढ़ने के बाद आदमी की ज्ञानग्रंथियां कमजोर हो जाती है और संभव है कि ज्यादा कमजोर ज्ञान ग्रंथियों को लेकर आदमी को हिस्टोरिया, होश खो देना या मस्तिष्क रोग भी हो सकते हैं ।

इस प्रकार आत्मा को नशा चढ़ाने वाला भी 'उन्माद' है । जिससे आत्मा अपनी सर्व शक्तियों से अंकुश गंवा बैठता है और आदमी का अधःपतन निश्चित बनता है ।

भगवतीसूत्र के इस उद्देशक में गौतमस्वामी ने पूछा कि, 'हे प्रभो ! उन्माद क्या है ? उनके भेद कितने ?

जवाब में महावीर स्वामी ने बताया कि, हे गौतम ! उन्माद के दो प्रकार हैं : (१) यक्षावेश उन्माद और (२) मोहकर्म के उदय से उत्पन्न होता हुआ उन्माद ।

(१) यक्षावेश उन्माद- आदमी में पूर्वभव के किसी बैरी देव या देवी का प्रवेश होने से वह अपनी सभानता और बुद्धि खो बैठता है तभी किसी वक्त अपने सर को घुमाता है, और अतिशय बकवास करता है, घर में तोड़-फोड़ करता है, तथा सबको परेशान करता है और दूसरे समय लकड़े की तरह सोया रहता है । ऐसे सब लक्षण यक्षावेश उन्माद के हैं ।

(२) मोहोदयोन्माद-मोह, मिथ्यात्व और संसार की माया में होश खो कर तीव्रातितीव्र रुप से उपार्जित किये गये मोहकर्म का उदय, जब इस भव में होता है, तब मानव के शरीर में मोहवासना, विषयवासना अग्नि की तरह प्रज्वलित होती है । उस वक्त जीवादी तत्वों का ज्ञाता भी पुरुषवेद या स्त्रीवेद के तूफान में

मर्यादातीत मस्ती करता है. जिसकी वजह से अपने जीवनतत्व की सुध-बुध खो बैठता है। उस वक्त मोहवासना का गुलाम बनकर कैसी भी असभ्य चेष्टा, प्रवचन, इशारे, पत्र व्यवहार आदि में, रागान्ध बनकर बड़ों के, गुरुओं के तथा धर्मपत्नी के प्रति धर्म व्यवहार भूल जाता है और भूंड या कुत्ते के कर्मों जैसी क्रियाऐं करके अपनी खानदानी या अभ्यास की मर्यादा से बाहर हो जाता है ऐसा उन्माद जब भी मर्यादा से बाहर जाता है तब कैसे भी पुरुष या स्त्री को, पंडित या मूर्ख को, परिणीत या अपरिणीत को सर्वथा तूफान में धकेल देता है।

संसार की भयंकर वेदनाओं को भोगने के बाद दीक्षित हुए संभूत मुनि को वंदन करने वाली सनत्कुमार चक्रवर्ती की रानी के मृदुलबाल के स्पर्श-मात्र से मोहोन्माद के नशे में चकनाचूर बने उस मुनि को देखकर चित्रमुनि को ख्याल आता है कि—

यावन्निदानं सम्भूतो विधातुमुपचक्रमे
तावश्चाचिन्तश्चित्रोऽहो मोहस्य विश्रृम्भितम्
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं-विषयाणां दुरन्तता।
अहो भोगपिपासाया दुर्जयत्वमतृप्तता॥
तपोऽतिशययुक्तोऽपि ज्ञाताऽर्हद्वचनोऽपि यत्।
अयं युवतिबालाग्रस्पर्शादित्यध्यवस्यति॥

(उत्तराध्ययन सूत्रः कमलसंयमी टीका)

चित्रमुनि ने उस मुनि को समझाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी फिर भी वह मुनि का चढ़ा हुआ मोह माया का नशा उतरा नहीं और निदानग्रस्त होकर ब्रम्हदत्त चक्रवर्ती हुए उस वक्त मुनिराज ने चक्रवर्ती को समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन अफसोस ! कामदेव के नशे के आगे कुछ भी नहीं चला तब हताश होकर मुनि ने कहा कि :—

"कुतः कृतनिदानानां बोधिबीजसमागमः"

इस उन्माद के दस भेद हैं उन्हें क्रमशः देख लें :—

(१) चिन्तन - सामनेवाली प्रेमपात्र स्त्री या प्रेमपात्र पुरुष परस्पर मिलन या संकेत के समय हाजिर नहीं होते हैं तब एक दूसरे के चिन्तन में (हृदय में) ऐसी चिंगारी प्रकट होती है कि अब तक वह क्यों नहीं आई ? क्या हुआ होगा ? दूसरे मार्ग पर तो चली नहीं गई होगी ? या अन्य कोई पुरुष के साथ तो नहीं गई होगी ? इत्यादि चिन्तोन्माद है।

(२) देखने की अभिलाषा - अपने प्रेमपात्र व्यक्ति को बार-बार देखने की इच्छा होने से आदमी उसके लिए इधर उधर छान-बीन करता है। उसे दर्शनोन्माद कहते हैं ।

(३) दीर्घ श्वासोच्छवास- प्रेमपात्र व्यक्ति ढुंढने पर भी जहां दिखाई न दे तब श्वास जोरों से चलती है और मकान में, खिड़की दरवाजे में या रास्ते की चारों ओर नजर डालता है वह दीवानों की तरह बहुत सा समय खड़ा खड़ा व्यतित करता है, वह श्वासोन्मादक कहलाता है।

(४) बुखार - श्वांसोश्वास जोरों से चलने पर भी प्रेमपात्र दिखाई नहीं देता तब बेकरार (मर्यादा की बाहर) बने हुए मनजीभाई और तनजीभाई (मन और तन) में ताप की उष्णता बढ़ने लगती है, जिसे कामज्वर कहते हैं। यह तापोन्माद कहलाता है।

(५) दाह (जलन) - ताप की गरमी ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों शरीर में जलन भी बढ़ती रहती है। उसके फलस्वरूप हाथ, पैर, आँख, भाषा आदि बेकाबू होने से सबके साथ बोलने, चलने, खाने-पीने आदि दैनिक क्रियाओं में भी उसे बिलकुल रस नहीं रहता, जोर में आकर अटश बोलने लगता है और आखिर में जोरों से रोने लगता हैं, इसे दाहोन्मापक कहते हैं।

(६) भोजन अरुचि : खाने-पीने आदि से बेहद नफरत होती है और ठण्डे पेय भी बेस्वाद लगते हैं, केसरयुक्त दूध को भी गले के नीचे जाने में देर लगती है, मेवे मिष्ठान्न विष जैसे, मखमल के गद्दे अंगारे जैसे लगते हैं।

मूर्च्छा - फिर से बार-बार चक्कर आते हैं, आंख के आगे अंधेरा छा जाता हैं, पैर की चाल वक्र होती है, मुंह में से झाग और गहरी आह निकलती है, आंखें टगरमगर फिरने लगती है।

(८) और चद्दर या रजाई ओढ़कर लकड़े की तरह पड़ा रहता है।

(९) अज्ञान स्थिति में सामने कौन खड़ा है? क्या कहता है? उसकी स्मृति उसे नहीं रहती है।

(१०) और मृत्यु, आखिर कांकरिये के तालाब में या जुहू के समुद्र में या फिर जहर का प्याला आ जाता है।

नोंध : जब जीवात्मा मनुष्य अवतार लेता है तब अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के गहन अन्धकार में सैकड़ों-हजारों या लाखों-करोड़ों जीवामात्माओं के साथ निकाचित रूप से बैर विरोध के कर्म बांधे होते हैं जिनके कारण बैर में बंधे दोनों जीवों को कर्मों का विपाक उदय जब आता है। तब देवगति में गया वह बैरी आत्मा मनुष्यावतार में रहे हुए अपने शत्रु को मारेगा नहीं फिर भी उसके गृहस्थाश्रम के सुख और सुख के साधनों के भोगवटे में अंतरयभूत हुए बिना नहीं रहता। इसमें भी यदि वैरानुबंध कमजोर होंगे तो दवा-दारु से रोग साध्य होने पायेगा और निकाचित होगा तो मुसीबतें असाध्य होती हैं।

कई साधनसंपन्न गृहस्थाश्रमिओं को हम देखते हैं कि जिनको भौतिक साधनों की कोई कमी नहीं, पर भी उनका आंतर्जीवन भयंकर अशांत होता है, दुःखी होता है। पुण्यकर्म मजबूत होंगे तो संपन्नता में कुछ रुका-

बट नहीं होती पर कमजोर होंगे तो दिवाला निकाल के, लूटाके, आर्थिक स्थिति की तंगदिली में और दूसरी ओर गृहस्थाश्रमकी तंगदिली में उस भाई को घुट-घुट के मरने के अलावा और कोई चारा नहीं। इसी कारण-वश भाव दया की परमसीमा प्राप्त किये हुए परमात्माओं ने कहा है कि, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह महापाप है।

कुत्ते के सिर पर डंडा मारते हैं, तब थोड़ी देर के लिये कुत्ते की आँख, मारनेवाले के ऊपर ही जमी रहती है और मानो कहती है कि, बेटा! आनेवाले भव में तुझे कभी भी सुखी नहीं होने दूँगा। कोर्ट में या अन्य कहीं जिसके लिए गलत साक्षी अथवा सामने वाले के लिये बहुत ही असत्य भाषा, कलंक या चुगली करें तो वह सामने वाला इस भव में तो चाहे कुछ अपना बुरा न कर पाए पर फटी हुई आँखों सेकहेगा कि, अगले भव में तुझे और तेरे गृहस्थाश्रमी को बेहाल किये बिना नहीं छोड़ूँगा। जिसकी चोरी की हो, अमानत हड़प की हो और सामनेवाले को जब पता चले तो वह मन में निश्चय कर के कहेगा कि इस विश्वास-घाती को अघग भवमें दांत और अनाज का बैरी बनाए बगैर नहीं रहूँगा। अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रीयों के साथ गुलछर्रे उड़ानेवाले पति के लिए बैरन बनती वह स्त्री कहती है कि अगले भव में व्यंतरी बन कर तेरे सारे गृहस्थाश्रम के सुखों को आग में जलाकर ही चैन लूँगी और परिग्रह तो "सर्वेषां दुर्गुणानां जनकः सर्वपापानां मूलमंत्र जीवमात्रैः सह विरोधकारको परिग्रहः" होने से भगवान जाने कितने ही जीवों के साथ बैर बांधने का कारण होता है। उपर्युक्त सब प्रत्यक्ष दिखाई देती संसार के मायाजाल को देखने के बाद इस भव में या अगले भव में सुखी होना हो तो अपने भाग्य पर भरोसा रखके, सब तूफान मिटाने के लिए महावीर स्वामी के फरमाये हुए बारह व्रतों को स्वीकारना, उनका पालन करना और व्रतों से दैदीप्यमान जीवन बनाना, इसके अतिरिक्त सुखी होने का और कोई मार्ग नहीं है।

मोहकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले तांडव हम दूसरे भाग में पढ़ चुके हैं, इसलिए यहां उनको खोलने की कोई आवश्यकता नहीं है। यक्षावेश उन्माद एक भव के लिए ही होने से ज्यादा कष्टदायक नहीं है। किन्तु मोहकर्म से उत्पन्न हुआ उन्माद अत्यन्त दुर्जेय होने से कष्टदायक है अथवा कुछ जीवों के लिए असाध्य भी हो सकता है। इसलिए ही भव-परंपरा को बिगाड़नेवाला है। उदीर्णा करके भड़काया हुआ उन्माद मानव-जीवन में पशुता लाकर ही रहता है। अनंतानुबंधी कषाय को लेकर उदीर्णापूर्वक के मोहोदय में सम्यक्त्व का नाश, व्रतों का ह्रास, मानवता का सर्वनाश प्रायः नकारा नहीं जा सकता।

ज्यादातर मोहकर्म के स्वाभाविक उदय में मानव का मन बेकरार या बेकाबू नहीं होता है। जबकि औरतों को - कन्याओं को, विधवाओं को गंदी भावना से मनाया जाये तब सोये हुए अजगर की तरह भड़काया हुआ मोहकर्म उसके मालिकके, मन-वचन तथा शरीर आदि को मर्यादातीत बेकाबू बनाकर ही छोड़ेगा और उससे उसका उन्माद शायद मौत का कारण भी बन सकता है।

स्वस्त्री के भोगवटे में अतिशय कामांध बनकर, तीव्रानुराग मतलब कि जिसमें कामवासना भड़क उठे वैसे खानपान तथा मादक पदार्थ आदि के सेवन करनेवाला और अनंगक्रीडा यानि पशुओं को भी शर्म आये उस प्रकार निर्दयी बनकर कामांध बनी आत्मा, मृत्यु में प्रवेश करती या पूर्ण सगर्भा स्त्री के साथ कुत्तों जैसी हरकतें करते शरमाता नहीं है, ऐसे आदमीयों को विषयोन्मादी कहा है जो मरने के बाद वापस एकेन्द्रिय अवतार में नपुंसक वेद और लिंग के मालिक बनके असंख्य या अनंत उत्सर्पिणी पूर्ण होने पर भी वहाँ से बाहर आ नहीं पाता।

नारक जीवों का उन्माद :

गौतमस्वामी के पूछने पर भगवंत ने नारक जीवों के दो प्रकार के उन्माद कहे हैं। देवरुप से बना बैरी आत्मा नरक में रहे अपने शत्रु पर अशुभ, गंदे और काले आदि पुद्गलों का क्षेप करके भी बेचारा नारक की हैरानी में वृद्धिदायक बनता है। मोहकर्मजन्य उन्माद से नपुंसक लिंग में रहे वे नारक कायम के उन्मादी होते हैं। मनुष्यलोक में मनुष्य अवतार को पाये हुए नपुंसक मानव और हीजड़ों की आंतरवेदना कितनी तीव्र होती है वो उनके दीदार देखकर ही हम जान सकते हैं। वे बेचारे जब जब अन्य स्त्रियों का और पुरुषों का भोगविलास देखते हैं तब तब अपनी नपुंसकता पर बड़े बड़े आँसू बहाते है। फिर भी मिथ्यात्व के उदयवर्ती उन जीवों को कौन समझा सके कि, 'हे महानुभवों! पूर्व भव में आचरे हुए मोहकर्मजन्य पापों से अथवा कुमारी कन्या, विधवा, सधवा स्त्रीयों के साथ अथवा छोटी बालिकाओं तथा छोटे खूबसूरत बालकों के साथ अगले भव में की हुई गंदी चेष्टाओं के पापरुप आप नपुंसक हुए हैं।"

असुरकुमार में दो प्रकार के उन्माद समझना। उसमें महर्द्धिक अन्य देव अपने से नीचे के देव पर पुद्गलोत्क्षेप करते हैं और मोह के उन्माद की भी पहले की तरह कल्पना करना।

पांचों स्थावर; विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य में दोनों प्रकार का उन्माद समझना। तथा व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक के लिए भी उपर की तरह समझना लेना।

देवों की वृष्टि कायकरण की वक्तव्यता :

हे प्रभो! वर्षा ऋतु में बरसनेवाला मेघ और जिनजन्मोत्सव आदि प्रसंगों में पर्जन्य, यानि कि इन्द्र महाराज क्या मेघ बरसाते हैं? प्रभु ने

हकार में जवाब दिया तभी गौतमस्वामी ने फिर पूछा कि हे प्रभो, जब इन्द्र को मेघ बरसाने की इच्छा होती है तब वे किस तरह मेघ बरसाते हैं ? भगवान ने कहा कि इन्द्र सबसे पहले आभ्यंतर सभा के दोनों देवों को बुलाते हैं, वे देव मध्य सभा के देवों को, मध्य सभा के देव बाह्य सभा के देवों को और बाह्य सभा के देव बाहर के देवों को और बाहर के देव आभियोगिक (सेवक जैसे) देवों को और आभियोगिक देव वृष्टि कारक देवों को बुलाते हैं। वे देव अप्काय की वर्षा करते हैं जब कि असुरकुमार के देव अरिहंतों के जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक और निर्वाण कल्याणक के समय पर वर्षा करते हैं। इस प्रकार नागकुमारादि, व्यंतर, ज्योणिष्क और वैमानिक भी अप्काय की वर्षा करते हैं।

देवों की तमस्काय करण वक्तव्यता :

तम् का मतलब होता है अंधकार, जो अप्काय (पानी) के परिणाम से कोहरा (धूमस) होता है वही तमस्काय है। इसके बारे में प्रश्न करते हुए गौतमस्वामीने पूछा, 'हे प्रभो ! ईशानईन्द्र को जब तमस्काय जैसा अंधकार करने की इच्छा होती है तब वे कैसे करते हैं ? भगवंतने कहा कि इन्द्र तभी यावत् तमस्काम करने वाले देवों को बुलाते हैं और वे देव इन्द्र, की आज्ञा को मानकर तमस्काय करते हैं लेकिन असुरकुमारों को तमस्काय करने के लिए सूत्र में चार कारण बताये गये हैं। (१) रति-क्रीडा करनी हो तभी (२) अपने शत्रुदेवों को मोहित करना हो तभी (३) जमीन में पड़ा गोपनीय धन आदि की रक्षा करनी हो तभी और (४) अपने शरीर को छुपाना हो तभी।

उपरोक्त चार कारणों को लेकर असुरकुमार तमस्काय करते हैं। समझना सरल है कि पापवाले, कुतूहलवाले और प्रतिशोध वाले असुर-कुमारों के लिए यह चार कारण दिये गये है।

शतक १४ वाँ : उद्देशक ३

देवों में क्या विनय आदि कर्म होते हैं ?

आकाश के सूर्य और चन्द्र के विमानों की भांति लोक शाश्वत होने के कारण स्वर्ग नरक भूमि भी शाश्वत हैं । इसलिए स्वर्ग नरक में जाने वाले और वहां से बाहर आने वाले जीव भी अनादिकाल से हैं और रहेंगे। पुण्यकर्मी आत्मा स्वर्ग में जाता है और पापकर्मी आत्मा नरकमें जाता है। इसलिए अपने अपने कर्मों की जंजिरों में जकड़े हुए आत्मा पराधीन है। आत्मा के एक-एक प्रदेश में बंधे हुए महा भयंकर वैर विरोध के अनंत परमाणु से ग्रस्त हुये नारकों के पास सद्विचारणा के लिए समय नहीं होता है। देवगति के देव महापुण्यवंत होने के कारण पुण्यकर्म को भोगने में रत होते हैं और तिर्यंचों के पास अभिव्यक्त भाषा और हाथ आदि का अभाव होने से सत्कर्म करने का मौका प्रायः प्राप्त नहीं होता है। फिर भी सम्यग्दर्शन के प्रकाश में कभी कभी अच्छा अवसर मिल जाता है और चंद जीव उसका लाभ भी उठाते हैं।

द्रव्यसत्कर्म यद्यपि महत्व के हैं फिर भी भाव सत्कर्म उससे भी ज्यादा महत्व रखते हैं इसमें कोई शंका नहीं है।

संसार के सभी जीवात्माओं की अपेक्षा भाव संयम धर्म की आराधना करने में जैन मुनि उत्कृष्ट रहे हैं ? क्योंकि बाह्य तप त्याग से भी वे श्रेष्ठ हैं और भाव तप त्याग से श्रेष्ठतम होने के कारण ऐसे पवित्र मुनिओं का विवेकपूर्वक का विनय व वंदन व्यवहार, सुखपृच्छा आदि की आराधना के लिए सम्यग्दृष्टि जीव मौका मिलने पर तैयार रहते हैं।

यद्यपि देवों की आराधना मनुष्य लोक के जीवों को दृष्टिगोचर होती हो अथवा न भी हो तो भी सम्यग्दृष्टिवाले देव उसका ख्याल रखे बिना भी अपनी सारी क्रियाएं करने में बेध्यान नहीं होते हैं। देवगति के देव प्रायः भ्रमणशील और क्रीड़ा प्रिय होने के कारण अपनी वैक्रिय गति से स्थानान्तर करते रहते हैं, इसलिए मुनिराज को भूमिस्थ, ध्यानस्थ और कार्योत्सर्गस्थ अवस्था में देख के देव अपना विनय और विवेक संभाल के रखें या न रखें ? प्रश्न का यही हार्द है।

जो देव विशाल परिवारवाले हो, वे भावि आत्मा अणगार के बीच में जा सकते हैं ? अर्थात उनका उल्लंघन देव करते हैं ? जवाब में भगवन् ने कहा कि अमुक देवता मुनिओं का उल्लंघन करते हैं और अमुक नहीं करते। इसका कारण बताते हुए भगवंत ने कहा कि, देवयोनि के देवों के दो प्रकार हैं :

(१) मायी मिच्छादिट्ठी उववन्नगा अर्थात अनादिकाल से जो मिथ्यात्वी हुए हैं।

(२) "अमायी समदिट्ठी उववन्नगा" अर्थात् मनुष्य के या तिर्यंच अवतार से सम्यक्त्व को लेकर, अथवा देवगति में आने के बाद अरिहंतों के पंचकल्याणों को देखकर सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाले देव। इन दोनों देवों में से प्रथम नंबर के देव वैक्रियगति से आकाश मार्ग में आते जाते वक्त भी भूमिस्थ मुनियों को या आकाश में विचरते जंघाचरण मुनिओं को देखकर उन्हें वंदन नहीं करते हैं और कल्याण मंगलरूप धर्मचैत्य को दोनों हाथ मिलाकर पर्युपासना भी नहीं करते हैं जब कि दूसरे नंबर के देव मुनियों को देखकर उनका सत्कार, सम्मान, वंदन, नमन और पर्युपासना करते हैं, मतलब कि रास्ते में आते मुनि वेशधारी मुनियों को वंदन किये बिना आगे नहीं बढ़ते हैं।

इस प्रकार असुरकुमार, नागकुमारादि भवनपति देव, व्यंतर, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव के लिए भी यही समझा जाता है।

नारक और पृथ्वीकायिकादि में प्रस्तुत विषय की असंभावना होने से केवल देवदंडक तक सीमित समझी जा सकती है।

नारकों की अविनय संबंधी वक्तव्यता :

पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगवंत ने कहा कि संख्यात, असंख्यात जीवात्माओं के साथ बंधे बैरवाले नारक एक समय के लिए भी भयमुक्त न होने के कारण उनके जीवन में निम्नलिखित विनय व्यवहार होता नहीं है।

(१) सत्करणीय व्यक्तियों के आगमन के वक्त खड़े नहीं हो सकते।

(२) सन्मानीय व्यक्तियों को कुछ दे नहीं सकते।

(३) पूज्य व्यक्तियों को वंदन नहीं कर सकते।

(४) विनय योग्य जीवात्माओं को देख के खड़े नहीं हो सकते।

(५) दोनों हाथ मिलाने की क्षमता नहीं होती।

(६) किसी को आसन आदि नहीं दे सकते।

(७) दूसरे स्थान पर जाकर भी आसनादि नहीं दे सकते।

(८) किसी के सामने जा नहीं सकते।

(९) मान्य व्यक्तियों का सन्मान नहीं करते।

(१०) मानार्ह के पीछे जा नहीं सकते।

ज्यादातर नारक जीव परस्पर प्रतिशोध की भावना से बँधे हुए होते हैं। इसलिए एक द्वेषी आदमी को, दूसरे द्वेषी आदमी का विनय करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। तभी प्रश्नोत्तर का मर्म समझते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्यावतार में -

(१) सास बहु मैत्रीभाव और पूज्यभाव होने के बावजूद भी।

(२) दोनों भाई एक दूसरे के साथ मैत्री भाव रखते हों फिर भी।

(३) गुरु शिष्य अच्छे संबंध से संबंधित हो फिर भी, थोड़ी देर के लिए ऐसा समझा जाय कि सास बहु, दोनों भाई, या गुरु शिष्य दूसरे प्रकार से भारीकर्मी होने से नरकगति में से आये हों और वहां गुरु की आत्मा शिष्य की आत्मा के साथ संबंधित हुई हो फिर भी वे दोनों दूसरे असंख्य जीवों के साथ बैर युक्त होने के कारण एक दूसरे का विनय या अच्छे संबंध कायम रखने के लिए समर्थ नहीं होते। लोक व्यवहार में भी हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, सरकार की आँखों में धूल झोंककर लाखों-करोड़ों की गोल-माल करनेवालों के पीछे, सरकार की ओर से उनको पकड़ने के लिए गुप्तचर पुलिस आदि पीछे पड़ी हो तब अत्यंत भयग्रस्त बने ऐसे आदमी, कभी कलकत्ता, तो कभी मद्रास, तो कभी बम्बई तो कभी हूडी के घंटाकर्ण के पास, तो कभी नाकोडा के भैरुजी के पास तो कभी बालकेश्वर की पद्मावती के पास, तो कभी किसी ज्योतिषी के पास, तो कभी वासक्षेप निक्षेपकों के पास, तो कभी विमान में, तो कभी पैदल चक्कर काटता रहता है। ऐसे समय में ऐसे आदमी किसी के साथ आंख नहीं मिला सकते और ना ही गुरु का विनय करने की क्षमता रखते हैं। इसी प्रकार नारकों के लिए भी यही समझा जाता है।

असुरकुमारादि देव होने के कारण वे योग्य व्यक्तियों का सत्कारादि करने के लिए समर्थ होते हैं। जबकि पांच स्थावर और विकलेन्द्रिय जीवों के लिए नरक तुल्य समझना। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में विनयादि हो सकता है, लेकिन किसी को आसानादि देना आदि विनय प्रकार, तथा व्यक्त वचन, और हाथ का अभावहोने से विनयादि नहीं होता है।

दूसरे देवों और मनुष्यों में विनय प्रकार होता है।

देवों में अविनयकरण की वक्तव्यता :

विषयकषाय की भावना को उपशमित करनेवाली आत्मा को विनय विवेक की प्राप्ति सुलभ और चिरस्थायिनी होती है। अन्यथा धनवैभव-से मान, युवानी से मद, ऐश्वर्य के अतिरेक से गर्विष्ठता, विद्वता से अहंकार और शरीरबल से तृप्त होकर अपने से छोटों का अपमान करने में ऐसे जीवात्माओं को देर नहीं लगती।

अल्पर्धिक देव, महर्द्धिकदेव के बीच में आ नहीं सकता और नाहीं उसका उल्लंघन कर सकता है। समानर्द्धिक देव भी दूसरे समानर्द्धिक देव का उल्लंघन नहीं करता है। यदि सामनेवाला देव प्रमादी हो तो उस पर प्रहार करके उसका उल्लंघन करता है। जब कि महार्द्धिक देव पर प्रहार करके या प्रहार न करके भी उल्लंघन नहीं करते हैं। शेष कथन दूसरे भाग से समझना।

नारकों के दुःख की वक्तव्यता :

एकान्त दुःखी नारक जीवों का पुद्गल परिणाम, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय और अमनोज्ञ होता है। इस प्रकार अगले नारकों के लिए भी समझा जाता है।

जीवाभिगम सूत्र में २० प्रकार की वेदनाओं का वर्णन किया गया है। (१) पुद्गल परिणाम वेदना (२) लेश्या परिणाम वेदना (३) नाम गौत्र परिणाम वेदना (४) अरति परिणाम वेदना (५) भय परिणाम वेदना (६) शोक परिणाम वेदना (७) क्षुधा परिणाम वेदना (८) पिपासा परिणाम वेदना (९) व्याधि, उच्छवास, अनुताप, क्रोध, मान, माया, लोभ, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

इसमें से बहुत से परिणामों का वर्णन प्रथम भाग से जानना।

॥ शतक १४ वां : उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक–४

गौतमस्वामी के पूछने पर भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, शाश्वत काल में रुक्ष और स्निग्ध, ये दोनों स्पर्श, परमाणु तथा स्कंध में रहे हुए हैं, मतलब की परमाणु में रूक्षत्व और स्निग्धत्व दोनों में से एक स्पर्श रहा होता है और द्वयणुकादि में दोनों की विद्यमानता है। प्रयोग और विस्रसाकरण से नीलादि वर्णों का परमाणु तथा स्कंध में परिणाम होता है जब वह परिणाम निर्जीर्ण होता है तब परमाणु बनता है उस वक्त परमाणु में एक ही वर्ण गंध, और रस शेष रहता है। जबकि उष्ण या शीत स्पर्श में से एक और कक्ष या स्निग्ध में से एक यानि दो स्पर्श शेष रहते हैं और लघु, गुरु मृदु और कठोर यह चार स्पर्श अपेक्षाकृत होने से परमाणु में उनकी हाजरी नहीं होती है।

जीवात्मा भी एक काल में दुःखों के निमित्तों को लेकर दुःखी हुआ है तथा सुखों के निमित्त से सुखी हुआ है। इस प्रकार सुख दुःख के निमित्त एक ही समय में प्राप्त हो सकते हैं। लेकिन दोनों का वेदन एक समय में नहीं होता। और काल, स्वभाव, आदि के कारण भी शुभ-अशुभ कर्मबंधन की हेतुभूत क्रियाओं से अनेक प्रकार के दुःखीत्व आदि परिणाम प्राप्त होता है और ज्ञानावरणीयादि कर्म जब क्षीण होते हैं तब जीव सिद्ध होता है।

पुद्गल परमाणु शाश्वत या अशाश्वत :

भगवंत ने कहा कि, अमुक अपेक्षा से परमाणु शास्वत है और अमुक अपेक्षा से अशास्वत है पुद्गल, परमाणु रूप और स्कंध रूप दो प्रकार के

हैं। उसमें द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से परमाणु शाश्वत हैं, क्योंकि उनका अंत नहीं होता।

परंतु वह परमाणु जब स्कंध में मिश्रित होता है तब वह परमाणु के रूपसे संबोधित नहीं होता। लेकिन प्रदेश के रूप में नामांतरसे व्यपदेशित होता हैं और भिन्न भिन्न वर्णादि पर्यायों को लेकर स्कंधान्तर्गत परमाणु भी-वर्ण गंध, रस और स्पर्शादि पर्यायों की अपेक्षा से रूपांतर पाता है, इसलिए लाल घड़े में रहा परमाणु लाल घड़े के नाम से संबोधित होता है और वही परमाणु निमित को लेकर लाल रंग छोड़ता है और पीला रंग प्राप्त करता है, तब पीले रंग से संबोधित होने पर भी भिन्न भिन्न पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत है, इसलिए पर्यायास्तिकनय से अशाश्वत है। नोंध। शुद्ध परमाणु में जो द्रव्य रहा हो चाहे वह मिट्टी द्रव्य, सुवर्ण द्रव्य, वस्त्र द्रव्य या वनस्पति आदि का द्रव्य हो द्रव्यकी अपेक्षा से शाश्वत है मतलब कि वह हमेशा शास्वत पदार्थ है।

जैन शासन में परमाणु एक ही जाति के होते हैं, क्योंकि सब में एक वर्ण, एक गंध एक रस और दो स्पर्श होते हैं, लेकिन प्रयोग या विस्रसाकरण को लेकर भिन्न भिन्न निमित्त मिलकर परमाणु जैसे स्कंध में मिश्रीत होता है उसी प्रकार परमाणु भी भिन्न भिन्न पर्यायों में बदलता रहता है, जैसे कि, मिट्टी द्रव्य से घड़ा बना। इस घड़े में मिट्टी द्रव्य का जो शास्वत परमाणु था वह स्कंध में मिलते ही घड़े के पर्याय से संबोधित हुआ। फिर घड़ा फूटा तब ठिकरे पर्याय से संबोधित किया गया। और वह लम्बे अर्से तक गड्डे में कहीं दबकर पड़ा रहा और किसी अदृष्ट कारण से कोयले के पर्याय में परिवर्तित हुआ। हीरे में रूपांतरित हुआ। उसकी भस्म बनकर किसी स्त्री के शरीर में आकर, खून का रूप लेकर, तदन्तर उस खून से मानव शरीर के पर्याय में आकर वह मीटी द्रव्य का परमाणु, बहुरूपी की तरह रूप बदलकर मानव शरीर के काम आया है। मनुष्य मरा, उसकी खाक बनी और वह वह खाक भगवान जाने फिर

कौन से स्कंध के साथ मिश्रित होगी ? इस तरह एक ही परमाणु कितने ही पर्यायों में रूपतांरित होता है। इसलिए पर्यायनय से अशास्वत कहलाता है। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए की उसको अशास्वत अवस्था पर्याय के आभारी है। इस कारण से चराचर संसार को साक्षात् करनेवाले देवा- धिदेव भगवंत ने कहा कि, 'तृण से लेकर आकाश तक के द्रव्य अपने द्रव्यत्व को लेकर शाश्वत हैं और पर्यायों को लेकर अशास्वत हैं।

परमाणु चरम या अचरम :

परमाणु शाश्वत होने पर भी उसकी चरमता और अचरमता संबंधी पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में भगवंत ने कहा कि, उसका निर्णय चार प्रकार से किया जावेगा। (१) द्रव्यादेश से (२) क्षेत्रादेश से (३) कालादेश से (४) भावादेश से।

१) द्रव्यादेश से परमाणु को अचरम बताते हुए भगवंत ने कहा कि, 'हे गौतम ! किसी स्कंधभाव से विमुख बना परमाणु कालान्तर में स्कंध से फिर न मिले तो उसे चरम कहते हैं और पुनः मिले तो अचरम कहते हैं। द्रव्यादेश से आज का विमुख बना परमाणु फिर से कभी भी उस स्कंध को वापिस मिलेगा क्योंकि संसार अनंत है और प्रयोग तथा विस्त्रसारण की शक्ति भी अचिंत्य है, इसलिए जिस स्कंध से परमाणु विमुख होता है वह फिर उस स्कंध को मिले ऐसी संभावना होती है।

२) क्षेत्रादेश से परमाणु चरम और अचरम भी हैं। चरम के लिए कारण बताते हुए परमात्मा ने कहा, कि केवली भगवंत जब केवली समुद्घात करते हैं तब उसी वक्त जिस क्षेत्र में केवली भगवंत के साथ जिस परमाणु संबंध हुआ हो वह का परमाणु पुनः किसी काल में भी

केवली के आत्मा के साथ संबंधित होकर उस क्षेत्रादेश को प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि केवली की आत्मा सिद्धशीला में बिराजमान है। इसलिए उस क्षेत्र में केवली का पुनरागमन नहीं है। इसी वजह से क्षेत्रादेश से परमाणु चरम है और साधारण क्षेत्र की अपेक्षा से अचरम भी है।

(३) कालादेश से भी चरम और अचरम समझना। अमुक समय में केवली ने समुद्घात किया और मोक्ष में गया, अब केवली को पुनः समुद्घात नहीं करना है इसलिए समुद्घात के काल की अपेक्षा से परमाणु चरम है और साधारण काल की अपेक्षा से अचरम भी है।

(४) भावादेश से जिस समय वर्णादिवंत पुद्गल परमाणु केवली समुद्घात के समय था वह कालांतर में मोक्ष में गये केवली की अपेक्षा से चरम भी है और साधारण भाव की अपेक्षा से चरम है।

परिणाम भेद की वक्तव्यता क्या है ?

हे प्रभो ! परिणाम के कितने प्रकार हैं ? जवाब में भगवन् ने कहा कि परिणाम के दो प्रकार हैं। (१) जीव परिणाम और (२) अजीव परिणाम। छ द्रव्यों में परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गल हैं। द्रव्यास्तिक नय के हिसाब से रूपांतरित होकर भी सर्वथा जिसका विनाश नहीं है। और पर्यायांतर नय से पूर्व पर्याय का नाश और दूसरे पर्याय का उत्पाद यह द्रव्यों का परिणाम है जीव परिणाम, जीवके आधीन होने से प्रायोगिक है। उसके दस भेद हैं :

(१) गति परिणाम—गति नाम कर्म को लेकर गत्यंतर यानि कि नरक से मनुष्यादि पर्यायों की प्राप्ती हो उसे गति परिणाम कहते हैं।

(२) इन्द्रिय परिणाम—जिससे इन्द्रियों का परिणाम हो।

(३) कषाय परिणाम—संसार में परिभ्रमण कराने वाले कषायों के कारण परिणाम हो।

(४) लेश्या परिणाम—प्रति समय बदलती लेश्याओं की वजह से परिणाम हो।

(५) योग परिणाम : मन, वचन और काया का परिणमन।

(६) उपयोग परिणाम : उपयोग में फर्क महसूस करना।

(७) ज्ञान परिणाम (८) दर्शन परिणाम (९) चरित्र परिणाम

(१०) वेद परिणाम।

परिणामों में क्रम का कारण :

सब भावों में गति परिणाम होना ही चाहिए, इसलिए गति परिणाम को प्रथम क्रमांक दिया गया है। उसकी मौजूदगी में ही इन्द्रिय परिणाम की आवश्यकता होती है। इसलिए उसको दूसरा क्रमांक दिया गया है। इन्द्रिय परिणाम की प्राप्ति में पुण्योदय के समय मिलनेवाले इष्ट पदार्थों में राग और पापोदय के समय मिलनेवाले अनिष्ट पदार्थों में द्वेष की मात्रा होने से जीव को कषायों की परिणति हुए वगैरा रहती नहीं है। इसलिए कषाय परिणाम को तीसरा क्रमांक दिया गया है। कषायों को लेश्याओं के साथ सीधा संबंध है। क्यों कि सयोगी केवली को भी ९ वर्ष कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण की शुक्ल लेश्या की सद्भावना है और कषाय का चमत्कार दसवे गुणठाणा तक ही होता है। इसलिए "यत्र यत्र कषायभावः तत्र तत्र लेश्याऽस्त्येव" जहां जहां कषाय हैं वहां वहां लेश्याएँ रहती हैं। लेकिन लेश्याओं के सद्भाव में कषायों की भजना है।

यानि कि कषाय होते भी हैं और नहीं भी होते हैं। इसलिए कषायों के पीछे चौथे क्रमांक पर लेश्या परिणाम आता है। लेश्या के परिणाम भी योग की मौजूदगी में होते हैं, क्योंकि 'योग परिणाम लेश्या' इसलिए योग परिणाम का पांचवा क्रमांक है। योग (मन, वचन,

काया) की विद्यमानता में ज्ञान, परिणाम अवश्य होता है इसलिए ज्ञान परिणाम को सांतवां स्थान दिया गया है। लेकिन ज्ञान में सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के परिणाम होने से और उसके मूल में सम्यक्त्व, मिथ्यात्व होने से दर्शन परिणाम को ज्ञान परिणाम के पीछे रखा गया है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जिनवचन को वैराग्यपूर्वक सुनना पड़ता है जो चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के कारण बनता है और ऐसा होने से देश विरति या सर्वविरति चरित्र की प्राप्ती हुए बिना रहती होगी?

अर्थात् नहीं रहती है; इसलिए इनकी संख्या अखंड सुख और मंगलकारी है और बिना चरित्र, अखंडसुख और मांगल्य प्राप्त नहीं होता है! इसलिए नववें क्रमांक पर चारित्र परिणाम आता है और दसवें स्थान में वेद परिणाम क्यों? इसका जवाब देते हुए कहा गया है कि, उदय में आता या उदीर्ण करके उदय में आया हुआ पुरुष का पुरुषवेद और स्त्री का स्त्रीवेद सम्यक्चारित्र बगैर किसी काल में भी उपशमित नहीं होता है। इसकी वजह से वेद परिणाम को आखिरी स्थान दिया गया है।

अब अजीव के भी दस परिणाम निम्नलिखित हैं। बँध, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरू लघु और परिणाम अजीव के हैं।

॥ शतक १४ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक ५

अग्नि के बीच में से नारकादि पसार हो सकते हैं?

अगम्य संसार की कई बातें इतनी अगम्य, अलभ्य और विचित्र होती हैं कि, केवलज्ञानी के बिना अन्य कोई भी जानने के लिये असमर्थ हैं। इसलिए ही "अर्हद्वक्त्र प्रसूता" द्वादशांगी रत्नों की खान कही गई है। उसमें भी भगवतीसूत्र की शिरोधार्यता किसी से भी नकारी नहीं जाती।

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो !
अग्नि के बीच से भी क्या नारक निकल सकते हैं ?

उत्तर में भगवंत ने कहा कि, कई नारक अग्नि के बीच से निकल सकते हैं और कई नहीं निकल सकते।

आश्चर्यचकित हुए गौतम ने फिर पूछा कि हे प्रभो ! इसकी क्या वजह है कि कई नारक अग्नि के बीच से निकल सकते हैं और कई नहीं निकल सकते। भगवंत ने कहा कि नारक जीव दो प्रकार के होते हैं : (१) विग्रह गति समापन्नक और (२) अविग्रह गति समापन्नक। विग्रह और अविग्रह गति का वर्णन प्रथम भाग में दिया गया गया हैं, उसमें से यावत् चौथे समय पे, तीन विग्रह से नरक में जानेवाले जीव अग्नि के बीच से जा सकते हैं। उस समय उनके पास सूक्ष्म कार्मण शरीर होने से वे अग्नि से जल नहीं सकते, पानी में डूब नहीं सकते, शस्त्र से और जहर से मर नहीं सकते। इसलिए मैं कहता हूं कि, उस समय नरकानुपूर्वी रूप बेड़ी में बंध जाने से, नरक में जाते समय यदि किसी स्थल पर अग्नि की

ज्वाला होती हो, फिर भी किसी की रूकावट के बिना उसमें से आर-पार होकर अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुंच जाते हैं। जबकि अविग्रह गति समापन्नक नारक एक ही समय में अपने इष्ट समय में पहुंच जाता है। जहां बादर अग्निकाय का सर्वथा अभाव होने से जलने का सवाल ही पैदा ही नहीं होता।

सूक्ष्म और बादर रूप से अग्निकाय दो प्रकार के हैं। उसमें से सूक्ष्म अग्निकाय सार्वत्रिक होने पर भी किसी को जला नहीं सकता। जब बादर अग्नि मनुष्य लोक के सिवा और कहीं नहीं होता।

नोंध :- मनुष्य लोक में जिस तरह माचीस, उसकी फेक्ट्रीयां और चकमक पत्थर आदि के साधन होने से जब भी पुण्यवान मनुष्य को खाना पकाना हो, बिड़ी-सिगरेट पीनी हो, तब वह किसी भी प्रकार चूला सिगड़ी, प्रायमस या गेस जलाकर अपने पुण्यकर्मों को भुगत सकता है। किन्तु संख्याता जीवों के साथ महाभयंकर बैर की रस्सी से बंधा हुआ और निर्दयी-निर्ध्वंसी होकर लाखों करोड़ों जीवों को बिना मौत मारने वाला, परस्त्री या वैश्यागमन करनेवाला, शराब पान करनेवाला या झूठ प्रपंच आदि महाभयंकर कर्मों का भार लेकर नरक भूमि में जाने वाले जीवात्माओं के भाग्य में पापकर्म को भुगतने का होने से उसे नरकभूमि में खाना पकाना नहीं होता, वहां तो गटर में रहे गंदे पानी की तरह दुर्गंध वाले पुद्गलों के ही भोजन करने होते हैं। जिस तरह मनुष्य लोक में दूसरों के मलमूत्र को देखकर चीख निकालनेवाला मनुष्य मरकर जभी भूंड का शरीर प्राप्त करता है, तब उसे विष्टा में मुंह डालने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। मक्खी को खून और रसी, गाय भैंस आदि को घास, कुत्तों को हड्डियों के टुकड़े, गीध आदि को मृत प्राणियों के दुर्गंधित शरीर के टुकड़े के सिवा और क्या मिल सकता है? मनुष्य अवतार पाने वाले गरीबों को आपने देखा है? उनकी गरीबी को देखने के लिए भगवान ने आपको आंखें दी है? ऐसी विचारशक्ति आपके पास है? तुम

अपनी खिड़की में से कुछ भी गंदी चीजें, दुर्गंधित खाद्य पदार्थ फेंकते हो तभी दूसरी ही क्षण तुम यदि खिड़की में से झांककर देखोगे तो तुम्हें बिखाई देगा कि खिड़की के नीचे तुमने फेंकी हुई एक भी चीज नहीं होगी। भारत देश में ऐसे लाखों लोग हैं जो तुम्हारी फेंकी दुर्गंधित और गंदी चीजें उठाकर खाते हैं। कचरे की टोकरी में से भी अन्न के दाने उठानेवाले गरीब लोग भी हैं। इत्यादि प्रसंगों को देखने के बाद नारक जीव जो अत्यन्त पापमय होते हैं उन बेचारों को गर्म चाय कहां से मिलेगी ? वहां रेफ्रिजरेटर का ठंडा पानी कौन पायेगा ? कैसे पायेगा ? क्योंकि वहां तो सब एक दूसरे के दुश्मन होते हैं वहाँ न तो स्त्री सहवास मिलता है और न ही पुरुष सहवास मिलता है। वहाँ तो केवल मिलती है लाल अंगारे ओकती लोहे की पुतलियाँ या पुतला और ऊपर से पड़ता परमधामीयों का हथौड़ा, भाला तलवार की मार। उस मार से चीखें निकालते हुए मृत्यु प्राय: हो गए नारक वहां से भागते हैं लेकिन परमधामी उनको पकड़कर अंगारों से भरी हुई भट्टी में डालते हैं जहां नारक जीवों के शरीर तड़फते हैं और वे लोग मनुष्य लोक में किये गये पापकर्मों को याद करते हैं। उसके बाद वे परमाधामी नारकों को भट्टी में से बाहर निकाल के उनके शरीर में नमक और मिर्च डालते हैं। जख्म पर नमक पड़ने से नारक चीख उठते हैं और उनके मुंह से पुकार उठती है, अरे बाप ! ओह मां ! ओह मेरी बीबी मुझे बचाओ ! ओह प्रभु ! अब मैं कभी भी पाप नहीं करुंगा, परस्त्रीगमन नहीं करुंगा, शराबपान नहीं करुंगा, अभी मुझे बचा लो' लेकिन वहां तुम्हारी आवाज कोई नहीं सुनता। इसलिए दया के सागर शास्त्रकारों ने कहा है कि, हे मानव ! इस प्रकार की वेदना तो तूने कई बार भुगत ली है, अब विराम कर और पाप के द्वार बंद करके संयम धर्म स्वीकार। असुरकुमार के लिए भी नारक की तरह समझना। वैक्रिय शरीरधारी ये देव मनुष्य लोक में आते हैं और अग्नि के बीच में से निकलने के बावजूद भी जलते नहीं है।

एकेन्द्रिय जीव जो अविग्रहगति समापन्नक है वो स्थावर नामकर्म के कारण गमन करने की शक्तिवाले नहीं होते इसलिए अग्नि के बीच में से नहीं गुजरते हैं।

दो इन्द्रिय जीव औदारिक शरीर वाले अविग्रहगति समापन्नक अवस्था में अग्नि के बीच जल जाते हैं। तीन चार इन्द्रिय वाले जीवों के लिए भी यही समझना। पंचेन्द्रिय तिर्यंच-अविग्रहगति समापन्नक तिर्यंच ऋद्धि सिद्धि प्राप्त और उससे विपरित अनृद्धि प्राप्त कहलाते हैं जो वैक्रिय लब्धियुक्त होते हैं। वो मनुष्य लोक में हों तो अग्नि में से पसार हो सकते हैं। और मनुष्य लोक से बाहर हों तो वहां अग्नि का अभाव होता है। वैक्रिय लब्धि के मालिक होने से उनकी गति शीघ्र होती है इसलिए जलते नही है जबकि अनृद्धि प्राप्त तिर्यंच और मनुष्य जल जाते हैं।

नारकों की दस प्रकार से अनिष्टता :

मनुष्यादि गति में बहुत बुरे पापकर्म करके नरकगति में गये नारकों के पापोदय से दस प्रकार के अशुभ स्थान भुगतने पड़ते हैं, वे इस प्रकार हैं।

(१) अनिष्ट शब्द :- कटु वचन सुनने की इच्छा न होने पर भी नारक जीवों को ऐसे ही शब्द सुनने पड़ते हैं। जैसे कि परमाधामी तथा परस्पर वैरानुबंध में फंसे हुए नारक एक दूसरे के प्रति इस प्रकार का शब्द व्यवहार करते हैं, सामनेवाले को मारो, भाले-बर्छी आदि से उसके टुकड़े कर दो, ऐसे शब्द चारों ओर से सुनाई देते हैं तब डर के मारे नारक भागते फिरते हैं।

(२) अनिष्ट रूप :- अपने को भी पसन्द न हो ऐसे बीभत्स रूप उनके होते हैं।

(२) अनिष्ट गंध :- अपने शरीर में अपने को भी पसन्द न हो ऐसी दुर्गंध होती है।

(४) अनिष्ट रस :- शरीर के सब रस खराब होते हैं।

(५) अनिष्ट गति :- अप्रशस्त विहायोगति नाम कर्म के कारण नारक की गति, चाल बेहूदी होती है।

(६) अनिष्ट स्पर्श :- उनके शरीर कर्कश, बरछट और कठोर होते हैं।

(७) अनिष्ट स्थिति :- आयुष्य कर्म की मर्यादा तक रहना पड़ता है।

(८) अनिष्ट लावण्य :- शरीर की आकृति में रूप का अभाव और विकृति होती है।

(९) अनिष्ट यशकीर्ति :- चारों ओर अपयश मिले ऐसा उनके भाग्य में लिखा होता है।

(१०) अनिष्ट उत्थान :- बल, वीर्य, कर्म और पुरुषार्थ सब अनिष्ट होता है।

असुरकुमारादि देवों को पुण्यकर्म के कारण उनसे विपरीत शुभस्थान होते हैं। पृथ्वीकायिक जीव छः प्रकार के स्थानों को भुगतते हैं।

इष्टानिष्ट स्पर्श :- अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के कारण शुभाशुभ क्षेत्र में उत्पन्न होने से शाता और अशाता के उदय से इष्ट और अनिष्ट स्पर्शों का अनुभव करते रहते हैं। जैसे कि अशाताकर्म के जोरदार उदय को लेकर अमुक पृथ्वीकायिक ऐसे स्थान पर जन्म लेते हैं जहां पूरे गांव की गटर का गंदा पानी, विष्टा, मल-मूत्र, खून, मांस और बार-बार आदमियों के पैर की मार खानी पड़ती है। जब कि अमुक पृथ्वीकायिक शाता वेदनीय को लेकर पवित्र, पूज्य और सुगंधी पदार्थों का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार दूसरे पांच स्थान गति, स्थिति लावण्य, यश और पुरुषकार के लिए भी ऐसा ही सोचा जाता है। जलकायिक जीवों के

लिए भी ऐसा ही समझना। जैसे कि अमुक पापकर्म के उदयवाले जलकायिक जीव संडास, गटर आदि का स्पर्श पाते हैं। जब कि दूसरे पुण्यकर्मी जलकायिक तीर्थंकर के अभिषेक आदि के काम में आते हैं। अमुक अग्निकायिक गांव के गांव, जंगल के जंगल जला के असंख्य, अनंत जीवों के हत्यारे बनते हैं और दूसरे भोजनादि बनाने के लिये उपयोग में आते हैं। आंधी आदि के रुप में वायुकायिक भी अनिष्टता भुगतते हैं। जब कि मंद मंद वायु सबको सुखरुप होती है, ऐसी कल्पना वनस्पति के लिए भी की जा सकती है। यह सब एकेन्द्रिय अवतार को पानेवाले होने से किसी भी प्रकार का शब्द, रस, गंध या रूप का अनुभव नहीं कर सकते। दो इन्द्रियवाले शब्द, रूप और गंध को छोड़कर सात स्थानों का अनुभव करते हैं। तीन इन्द्रियवाले रूप और शब्द का अनुभव नहीं करते। चार इन्द्रियवाले शब्द का अनुभव नहीं करते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य और देवों को दस स्थानों का इष्टानिष्ट अनुभव होता है।

हे गौतम ! बड़ी ऋद्धिवाले, द्युतिवाले, बलवाले, और महासुखसंपन्न देव बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करने के बाद ही पर्वत, दीवार आदि का उल्लंघन कर सकते हैं।

॥ शतक १४ : उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १४ : उद्देशक–६

नारकों की पुद्गल वक्तव्यता :

गौतमस्वामी के पूछने पर परमात्मा महावीर स्वामी ने नारकों की वक्तव्यता इस प्रकार स्पष्ट की।

(१) पुद्गलाहारा - नरकगति में रहनेवाले नारक जीव पुद्गलों का आहार करनेवाले होते हैं।

(२) पुद्गलपरिणामा - आहार किये गये पुद्गलों का परिणमन पुनः पुद्गल रुप में होता है।

(३) पुद्गलयोनिका - इनका उत्पत्ति स्थान शीत और उष्णरुप योनि का होता है।

(४) पुद्गलस्थितिका - इनको नरकस्थान में रखने के लिए आयुष्य-कर्म ही कारणरुप है, जो पुद्गल है।

(५) कर्मोपगा - वे मिथ्यात्वादी के कारण ज्ञानावरणीयादि कर्म जो पुद्गल है उनको प्राप्त करते हैं।

(६) कर्मनिदाना - नरकगति प्राप्त करने में पूर्व भव के कर्म का नियाणा कारणरुप हैं।

(७) पुद्गलस्थितिका - कर्मों के कारण पर्याप्त - अपर्याप्त आदि पर्यायांतर रुप विपर्यासन को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

उपरोक्त हकीकत वैमानिक देव, स्थावर, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच तथा मनुष्य को भी लागू की जा सकती है।

नारक जीव वीचि और अवीचि द्रव्यों का आहार करते हैं। संपूर्ण आहार करनेवाले एक प्रदेशन्यून आहार को वीचि द्रव्य का आहार कहते हैं और पूर्णद्रव्य के आहार को अवीचि द्रव्य कहते हैं।

वैमानिक देवेन्द्रों की कामभोग वक्तव्यता :

गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो ! देवराज इन्द्र को जब दिव्यभोग-विलास भोगने की इच्छा होती है, तब वे कैसे भुगतते हैं ? जवाब में भगवन ने कहा है कि, हे गौतम ! उस वक्त शक्रेन्द्र अपनी वैक्रिय लब्धि के जरिये लंबाई चौड़ाई में एक लाख योजन और परिधि में तीन कोश एक सौ अठ्ठाईस धनुष्य और साढ़े तेरह ऊँगलियों से थोड़ा ज्यादा गोलाकार स्थान की रचना करता है; उसके ऊपर के भाग में रमणीय समतल भाग होता है। जिसके मध्यभाग में सब प्रकार के रत्न और मणिओं से सुशोभित एक प्रसाद की रचना करता है जिसकी उँचाई ५०० योजन और विस्तार २५० योजन का होता है उस पर इन्द्र महाराजा देवशय्या की विकुर्णा करते हैं और नाटक, गीत, नृत्य, तथा वाजिंत्रों के साथ इन्द्र दिव्य भोगों को भुगतते हैं। ईशानेन्द्र के लिए भी ऐसा ही समझा जाता है। जब कि सनत्कुमार के लिए थोड़ा विशेष यह समझा जाता है कि वह पहिले इन्द्र की तरह देवशय्या की विकुर्षणा नहीं करता है क्यों कि वहाँ मात्र स्पर्शसुख से काम की समाप्ति होती है।

शेष वर्णन मूलसूत्र से जानना।

॥ शतक १४ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक–७

महावीर स्वामी और गौतम की तुल्यता की वक्तव्यता :

निरतिचार पंचमहाव्रत के पालक, षट्काय-जीव के रक्षक, जगत के जीवों के साथ मैत्रीधारक, नैष्ठिक ब्रम्हव्रतधारी और धर्म के साक्षात् मूर्ति जैसे चौदह हजार मुनिराज और छत्तीस हजार साध्वी महाराज के चरण-कमल से पवित्र बनी राजगृही नगरी में देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी समवसरण में बिराजमान थे। सारे मगधदेश में और खास करके राजगृही नगरी में जनता खुश थी। देवाधिदेव के दीदार देखकर सबके हृदय में पूर्णानंद की मस्ती थी। आर्थिक दृष्टि की तरह आध्यात्मिक दृष्टि से भी जनता पूर्ण थी। लेकिन देवाधिदेव के मुख्य गणधर, चार ज्ञान के स्वामी का हृदय केवल ज्ञान के अभाव में बेकरार था, विचलित था, और सोचता था कि, 'मेरे हाथ से दीक्षित बने लोग केवलज्ञान को पा सके हैं और मुझे अभी तक केवलज्ञान प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? इस प्रकार की विषाद अवस्था को भोगनेवाले गौतम को महावीर स्वामी ने आमंत्रित करके अपने पास बुलाया और आश्वासन देते हुए कहा कि :- गौतम ! "विषादं मा गाः, शंकास्थानं त्यज स्वास्थ्यं भज" यह कहकर प्रेमपूर्ण शब्दों में फिर से कहा कि :-

(१) चिर संसिट्ठोसि मे गोयमा। हे गौतम ! तेरा और मेरा स्नेह संबंध आज का नहीं है लेकिन भवभवांतर का है। तेरा और मेरा बंधन लम्बे अर्से तक का है।

(२) चिर संथुओसि हे गोयमा ! हे गौतम ! बहुत लम्बे अर्से से भवभवांतर की माया में मैंने तेरी कई बार प्रशंसा की है।

(३) चिर परिचिओऽसि मे गोमया ! तेरा मेरा परिचय लम्बे अर्से का है। तुझे याद है गौतम, जब मैं कितने ही भवांतर के बाद १८ वे भव में वासुदेव था, तब तू मेरा सारथी था, तब मेरे हाथ से मारे गये शेर को तूने आश्वासन दिया था।

(४) चिर जुसिओऽसि मे गोमया ! लम्बे अर्से से गौतम, तूने मेरी प्रीति प्राप्त की है।

(५) चिराणुगसोऽसि मे गोमया ! हे गौतम कितने ही भावों से तू मेरा अनुगामी है।

(६) चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! हे गौतम तू कई भवों से मेरा अनुवर्तन कर रहा है। देवलोक में और मनुष्यलोक में अपन दोनों कई बार साथ रहे हैं और प्रेम के धागे से बंधे हैं।

समवसरण में महावीर स्वामी की यह प्रेम भरी बोली सुनकर गौतम प्रसन्न हुए लेकिन उनके मुंह पर निराशा की छाया थी वह दूर नहीं हुई तब दया के सागर भगवंत ने कहा कि हे गौतम तू मुझे बहुत स्नेह करता है इसलिए केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। लेकिन गौतम. अब थोड़ ही समय में तुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा और अपन दोनों सिद्धशीला में तुल्य होंगे। इसलिए अब विषाद को छोड़ दे और स्वस्थ बन।

यह बात क्या अनुतरौपपातिक देव जानते हैं ?

हे प्रभो ! तुम्हारी और मेरी तुल्यता को आप श्री केवलज्ञान से जानते हैं और मैं आपने कहा तब जान सका हूं। इसलिए तुम्हारी और मेरी तुल्यता को खास करके अनुतरोपपातिक देव भी जानते हैं ? भगवत

हकार में जवाब देते हुए कहा कि, इन देवों ने अनंत मनोद्रव्य की वर्गणा को लब्ध कर ली है, इसलिए हमारी तुल्यता जानते हैं।

तुल्यता के कितने भेद ?

प्रसन्न हुए गौतम स्वामी ने प्रभु को भाववंदना करके पूछा कि तुल्यता के कितने प्रकार हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि तुल्यता के छः प्रकार है। (१) द्रव्य तुल्यता (२) क्षेत्र तुल्यता (३) काल तुल्यता (४) भव तुल्यता (५) भाव तुल्यता (६) संस्थान तुल्यता।

(१) द्रव्य तुल्यता :- मतलब कि, एक परमाणु पुद्गल दूसरे परमाणु पुद्गल के साथ तुल्यता रखता है। लेकिन परमाणु पुद्गल को छोड़कर दूसरे के साथ उसकी द्रव्य से तुल्यता नहीं है। इस प्रकार द्विप्रदेशिक दूसरे द्विप्रदेशिक स्कंध के साथ तुल्यता रखता है। लेकिन द्विप्रदेशिक को छोड़कर दूसरे के साथ तुल्यता नहीं रखता है। दस प्रदेशिक स्कंध दूसरे दस प्रदेशिक के साथ तुल्य हैं लेकिन उससे कम या ज्यादा प्रदेशिक के साथ तुल्य नहीं है। इसप्रकार यावत् अनंत प्रदेशिक स्कंध के लिए भी समझा जाता है।

(२) क्षेत्र तुल्यता :- आकाश के एक प्रदेश में जो पुद्गल है वह एक प्रदेशवाले दूसरे पुद्गल के साथ क्षेत्र की अपेक्षा से तुल्यता रखता है। आकाश के दो प्रदेशों में अवगाढ़ पुद्गल दूसरे दो प्रदेशों में अवगाढ़ पुद्गल के साथ तुल्यता रखता है। इससे व्यतिरिक्त अन्य क्षेत्र में बसे पुद्गलों की तुल्यता नहीं है।

(३) काल तुल्यता — काल के एक समय में रहनेवाला पुद्गल दूसरे एक काल के समयवाले पुद्गल के साथ तुल्य है, दो समय की स्थितिवाला पुद्गल दूसरे दो समय की स्थितिवाले पुद्गल के साथ तुल्यता रखता है, पर उससे व्यतिरिक्त समयवालों के साथ समानता नहीं है।

(४) भव तुल्यता — नारक जीव अपनी नरकगति के जीव के साथ संबंध रखनेवाले दूसरे नारक जीव के साथ तुल्य है, पर दूसरे गतिवाले जीव के साथ भव की अपेक्षा से तुल्य नहीं है। इस तरह मनुष्यभव का जीवात्मा मनुष्य गति से व्यतिरिक्त दूसरी गति के जीवों के साथ तुल्य नहीं है।

(५) भाव तुल्यता — एक गुण कृष्ण गुणवाला पुद्गल, दूसरे एक गुणवाले कृष्ण द्रव्य से व्यतिरिक्त पुद्गल के साथ तुल्य नहीं है। इस तरह आगे भी समझना और नील, पीत आदि वर्णों में भी यही जानना औदयिक भाव में बसता नारक, औदयिक भाव में बसते दूसरे नारक के तुल्य हैं, पर दूसरे भाव में बसनेवालों के साथ तुल्य नहीं हैं।

(६) संस्थान तुल्यता — अजीव को आश्रय करके पाँच भेद हैं।

१. परिमंडल : कंगन के आकार जैसा।

२. वृत्त : कुम्हार के चाक जैसा।

३. त्र्यस्र : तीन कोनेवाला।

४. चतुरस्र : चार कोनेवाला।

५. आयत : दंड की तरह लम्बा।

इसमें परस्पर की परस्पर के साथ तुल्यता समझना तथा संस्थान नाम कर्म से जीवों के आकार विशेष को जीव संस्थान कहते हैं।

अनगार के लिए वक्तव्यता :

भक्त प्रत्याख्यान (आहार का त्याग) किया हुआ अनगार प्रथम मूर्च्छित होकर, आसक्त बनकर आहार करता है; बाद में मरणांतिक समुद्घात करके स्वस्थ होकर मूर्च्छित हुए बिना आहार करता है।

नोंध:- आहार को त्याग दिया है या सागार प्रत्याख्यान किये हुए मुनिराज की यह बात है। भक्त प्रत्याख्यान स्वीकारने के पश्चात संभव है कि क्षुधा वेदनीय की तीव्रता से आहार करता होगा और उसके बाद भावशुद्ध होने पर स्वस्थ होता है।

लवसतम देव की वक्तव्यता :

मोक्ष की भूमिका में प्रवेश करने के लिए उत्कृष्टतम संयम की आराधना करनेवाले मुनिराजों को भी कई बार आयुष्यकर्म की सहायता न मिलने पर बीच में देवलोक में बसना अनिवार्य बनता है। क्यों कि उत्कृष्टतम आराधना, पाँच अनुतर देवलोक दिलाती है। उससे कम आराधना वैमानिक देवलोक। उससे कम आराधना ज्योतिषी देवलोक और विराधनापूर्वक की संयमाराधना व्यंतर देवलोक को प्राप्त करवाती है तथा विशेष विराधनापूर्वक की संयमाराधना किल्बिशिया देवलोक में स्थान दिलाती है।

यह प्रश्नोत्तर सर्वोत्कृष्ट आराधना के होने पर भी, और आयुष्यकर्म की सत्ता भी जोरदार होने से मुनिराजों को शिवमार्ग तक जाने के बीच में विश्राम लेना पड़ता है। लाखों वर्षों की सर्वोत्कृष्ट संयम की आराधना और मोक्ष के निकट आने पर भी, केवल सात लव से आयुष्यकर्म कम होने पर उनको शरीर छोड़ना पड़ता है।

सात लव की व्याख्या :

अनाज की कटाई में दक्षता पा चुका कोई शक्त आदमी पकचुके, पीले पड़चुके, काटने लायक चावल, जौ या गेहूं को इकट्ठा करके, मुट्ठी में पकड़ के, धारदार दातली से 'जल्दी ही काट देता हूँ' कहकर सात समय में वह काटता है। इस तरह सात मुट्ठी

प्रमाण धान्यादिक को काटने में जितना समय लगता है, वह सात लव प्रमाण कहलाता है। एक मुट्ठी प्रमाण एक लव उस सात मुट्ठी प्रमाण सात लव समझना। संयम अराधना में सात लव प्रमाण आयु कम न होता तो वह संयमी सब कर्मों का नाश करके निर्वाण हुआ होता, पर ऐसा हुआ नहीं, इसलिए देवलोक में जाता है।

अनुतरौपपातिक देवों की वक्तव्यता :

इस पद का अर्थ समझाते हुए भगवंत ने कहा कि, शब्द, रस, गंध, और स्पर्श की अपेक्षा से जिनका जन्म सर्वश्रेष्ठ हो वह अनुतरौपपातिक देव कहलाता है। सारांश यह है कि सभी देवों से अनुतरौपपातिक देवों के शरीर की गंध, उनके रूप स्पर्श और शब्द-सर्वथा अनुत्तर होते हैं।

उत्कृष्टतम संयम की आराधना करते हुए मुनिराजों की तपश्चर्या में केवल एक छठ तप शेष रहता है और आयुष्यमर्यादा पूर्ण होने पर इन मुनिओं को इस देव लोक में आना पड़ता है।

इन देवों के सुख वर्णन :

भवनपति से लेकर १२ वें देवलोक तक के देव कल्पोपन्न होने से, उनको तीर्थंकरों के पांच कल्याणक में आना होता है, परन्तु ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट आयुष्य मर्यादावाले ये अनुतरदेव कल्पातीत होने से अपनी देवशय्या में रहकर ही विरहमान तीर्थंकरों को भाव वन्दना करते हैं और केवलज्ञानी भगवंत भी समवसरणस्थ होकर ही जवाब देते हैं और उनको शंकारहित करते हैं।

उपशम श्रेणी प्राप्त करने के बाद, एक के बाद एक गुणठ्ठाणे को प्राप्त करके ११ वें गुणठ्ठाणे पर आते हैं। वहाँ आयुष्यकर्म की सहायता बंध होने पर, संयमाराधन से बांधा हुआ उत्तमोत्तम शातावेदनीय को भुगतने के

लिए इस देवलोक में आते हैं। यहां कामदेव के शैतान नशे और क्रोध, मान, माया तथा लाभ के राक्षसी पंजे प्रायः समाप्त हो जाने पर वे सीमातीत पुण्यकर्म को भुगतनेवाले बनते हैं। उनकी शय्या पर झगमगित कपड़ा (चंद रवा) बंधा हुआ होता है, उसके बीच बिजली की तरह चमकते ६४ मन का मोती लटकाया होता हैं। उसकी चारों ओर ३२-३२ मन के चार मोती, उसकी चारों तरफ १६-१६ मन के आठ मोती, उसकी चारों तरफ ८-८ मन के १६ मोती, उसकी चारों ओर ४-४ मन के ३२ मोती, फिर दो मन के ६४ और १-१ मन के १२८ मोती लटकते होते हैं। इस तरह यह चंदरवा अलौकिक और नयनरम्य बना हुआ है, जब पवन की लहर आती है तब यह सब मोती परस्पर टकराकर बीच के मोती से टकराते हैं और उनमें से राग रागिनी पूर्वक संगीत उठता है। जिससे उन देवों की भूख, तरस, आधि व्याधि अदृश्य होती हैं और शातावेदनीय की अपूर्व लहर में वे देव हर क्षण अरिहंत-अरिहंत, महावीर स्वामी जैसे शब्दों का रटन करते हुए अपूर्व आनंद भुगत रहे होते है।

नोंध :- दुःखों के पहाड़ जब मानव के सिर टूटते हैं और पूर्व के पुण्य की कठिनाई के कारण भोग और उपभोग के साधन नहीं मिलते तब अज्ञानी, जड़ और दुर्बुद्धि के वारिस भी परमात्मा को याद करते हैं। परंतु मानव के सिर पर जब सुखों की परंपरा भरपूर हो, चारों ओर से पुण्यकर्म की बोलबाला हो, शरीर अच्छा हो, कुटुम्ब में शान्ति हो, वैसे समय में अरिहंत का ध्यान, स्मरण, सामायिक पौषध मुनिराजों का साहचर्य, भक्ति आदि सत्कार्यों का पालन करेगा, वही सच्चा भाग्यशाली कहलाएगा। जीवन के प्रदेशों पर सम्यक्त्व का रंग हो, भव परंपरा से त्रस्त हृदय हो, अगले भव में केवलज्ञान प्राप्त करने की धुन हो, ऐसे भाग्यशाली ही सुख के साम्राज्य के समय धर्माराधन करेंगे और जन्म, जरा-मृत्यु के शैतानचक्र से मुक्ति पा सकेंगे।

॥ शतक १४ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १४ : उद्देशक–८

इस उद्देशक में 'आठ पृथ्वीओं के बीच अंतर कितना ? शाली वृक्ष-यष्टिका आदि मरने के बाद कहां जायेंगे ? अबंड परिवाजक, अव्याबाध-देव, इन्द्र किसी को छेदकर अपने कमंडल में भरे फिर भी उसको दुःख नहीं और अंत में जृंभक देवों का वर्णन है।

अंतर के लिए वक्तव्यता :

गौतमस्वामी के पूछने पर भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गौतम ! नरकभूमि की सात भूमि और आठवीं ईषत् प्राग्भारा (सिद्धशिला) नामक है। उसमें रत्नप्रभा पृथ्वी जहां समाप्त होती है वहां से संख्यात हजार योजन के अंतर पर शर्कराप्रभा नामक दूसरी पृथ्वी है। इस तरह यावत् छट्ठी और सातवीं के लिए भी जानना। सातवीं पृथ्वी और अलोक के बीच भी उतना ही अंतर जानना। रत्नप्रभा और ज्योतिष मंडल के बीच ७९० योजन का अंतर है। वहां से सौधर्म और ईशान के बीच भी असंख्य हजार योजन का अंतर है। यावत् अनुतर विमान तक समझना। अनुतर विमान से ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी सिर्फ १२ योजन ही दूर है और उसके बाद कुछ एक योजन के बाद लोक की समाप्ति होती है और अलोकाकाश आता है।

नोंध : अनुतर विमान और सिद्धशिला के बीच १२ योजन का अंतर है और औदारिक शरीर के मालिकों से, वे देव बहुत ज्यादा शक्ति सम्पन्न होते हैं। फिर भी छलांग लगाकर भी सिद्धशिला में पैर नहीं रख सकते। इसलिए ही अपने को यकीन होता है कि जीवात्मा की शक्ति

की चारों ओर कर्मराज का घेरा मजबूत है। आयुष्यकर्म की जंजीरों में जीवमात्र फंसा होने से वर्तमान भव का त्याग किये बिना उसे दूसरा भव प्राप्त नहीं होता है। ४८ लब्धियों का स्वामी आकाश में उड़ सकता है, या चक्रवर्ती के सैन्य का नाश कर सकता है। दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होकर पूरे संसार में तहलका मचा दे या राग-रंग का आनंद उठा सके फिर भी सिद्धशिला पर पैर रखने के लिए किसी लब्धि, मंत्र, जंत्र, तंत्र या और कुछ भी काम में आते नहीं हैं। अपने किये, कराये-गये या अनुमोदित पापपुण्य के फल भुगते बिना मुक्ति नहीं मिलती है ऐसा सोचकर शरीर को छोड़नेवाला, ऊपर की ओर अग्रेसर होता है। लेकिन दूसरे भव के लिए बांधा गया आनुपूर्वी नामकर्म का उसी वक्त उदय होने पर यमराज जैसा यह कर्म जीवात्मा को अपने वश में ले लेता है और किये गये कर्मों को भुगतने के लिए दूसरे भव में फेंक देता है। इस तरह कर्मसत्ता की वजह से पराधीन हुए आत्मा सिद्धशिला में किस तरह जा सकते हैं ?

तब अनंत सुखों के धाम जैसी सिद्धशिला में जाने के लिए संपूर्ण पुण्य और पापकर्मों का नाश किये बगैर दूसरा मार्ग नहीं है और क्षपक श्रेणी बिना केवलज्ञान नहीं मिलता और केवलज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। औदरिक शरीरधारी, वज्रऋषभनाराच संघयण का स्वामी मनुष्य, या स्त्री ही केवलज्ञान को प्राप्त कर सकते है। उसके सिवा दूसरा एक भी जीवात्मा इसके लिए असमर्थ है।

शाल-वृक्ष विशेष वक्तव्यता :

गौतम स्वामी के लक्ष्य किये अमुक ही शालवृक्ष का प्रश्न है ऐसा अनुमान किया जाता है। हे प्रभो ! सूर्य की कड़ी धूप को, ठंड को, गर्मी को वर्षा को, भूख प्यास को सहन करने करने वाला तथा जंगल की अग्नि से बार-बार जलनेवाला इस शालवृक्ष का जीव मरकर कहां जायेगा ?

भगवंत ने कहा कि, यहां से मृत्यु पाकर इस वृक्ष का जीव पुनः राजगृही नगरी में ही शालवृक्ष के रूप में जन्म लेगा और लोग इसकी पूजा करेंगे, वंदन नमन करेंगे उसका सत्कार करेंगे और यह वृक्ष भी सबको उचित फल देगा। उसको देवों का सानिध्य प्राप्त होगा। लोग उसके आस-पास गोबर से जमीन को सजायेंगे, उसके बाद इस वृक्ष का जीव मरकर सीधा महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य के रूप में जन्मकर यावत् सिद्धबुद्ध और मुक्त होगा। इस प्रकार शालयष्टिका के लिए भी जानना।

यह उदुम्बर यष्टिक मरकर जंबूद्वीप के भारत वर्ष में पाटलवृक्ष का रूप ग्रहण करेगा और उसके बाद मनुष्यावतार पाकर मोक्ष में जायेगा।

नोंध :- भवभवांतर में आत्मप्रदेशों के साथ बंधे हुए कर्मों की निर्जरा के लिए जैनशासन में दो कानून हैं। अकाम और सकाम निर्जरा का मतलब यह है कि जानबूझकर, समझदारी पूर्वक और मानसिक शक्ति को मजबूत करके गुरुकुल वास में रहकर स्वाध्याय में आत्मा को लगाके तप और त्याग में मस्त रहकर कर्मों की जो निर्जरा होती है, उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा इतनी ठोस होती है कि सैकड़ों, हजारों या लाखों भवों के पाप भी अग्नि में जलती सूखी लकड़ियों की तरह जल जाते हैं और खाख हो जाते हैं। तपशक्ति यदि ज्यादा सात्त्विक बन जाय तो निकाचित कर्म भी जल जाते हैं। जबकि अकाम निर्जरा का मतलब यह है कि कर्म करने की इच्छा न होते हुए भी उनका परिपाक होने में अपने आप कर्म हो जाते हैं। जैसे कि भूख लगी है; खाने का नहीं है, प्यास लगी है, तो पानी नहीं है, ठंड है, तो पहनने के कपड़े नहीं है, गर्मी है, तो छाया नहीं है, स्त्रीसहवास की इच्छा है, तो स्त्री नही है, स्त्री है तो भोगशक्ति नहीं है, भोगशक्ति है, तो पेट में भूख लगी हुई है। कदाचित् सबकुछ है तो शरीर बेड़ौल हैं और बहुत स्थूल है, इसलिए किसी को पसंद नहीं है। इस प्रकार संसार की विडम्बनाएँ भोगी जा रही हैं और कर्म भी निर्जराते जाते हैं।

यद्यपि सकाम निर्जरा की अपेक्षा से इसमें मंदता बहुत है, फिर भी किसी जीव को यह अकाम निर्जरा भी दूसरे तीसरे भव में केवलज्ञान के मार्ग में पर ले जाने में समर्थ होती है। मरुदेवी माता भी केले के वृक्ष में से दूसरे भव में केवलज्ञान पा सके थे, इस प्रकार यह शालिवृक्ष भी दूसरे भव में महाविदेह क्षेत्र में जन्म पाकर सिद्ध होगा। लेकिन खास यह ख्याल रहे कि यह सब बातें लाखों करोड़ों जीवों में किसी एकाद जीव की है। सब के भाग्य में यह बात नहीं है। जब कि सबके लिए राजमार्ग सकाम निर्जरा का होने से प्रत्येक आदमी अपने जीवन के सर्वथा निरर्थक पापों को हिम्मतपूर्वक छोड़ दे, अथवा छोड़ देने का प्रशिक्षण ले तो भी कल्याण हो जाता है। प्रत्येक महीने में छोटा पाप और प्रत्येक वर्ष में थोड़ा बड़ा पाप और प्रत्येक पांच वर्ष में सर्वथा बड़ा पाप को त्यागने के लिए ही प्रयत्न करे तो इस कलयुग में भी आदमी को कल्याण मिलेगा। खास याद रखने का यह है कि पापों को बांधने के लिए आदमी को गुप्त या जाहिर बहुत शक्ति लगानी पड़ती है। तो फिर पापों को धोने के लिए शक्ति लगाये बिना कैसे चलेगा ?

जैन शासन में ऐसा किसी भी काल में नहीं हो पाएगा कि,

"खाते पीते हर (भगवान) मिले तो हम को भी कहना, और सिर के काटे हर (भगवान) मिले तो छुपके हो जाना"

अंबड परिव्राजक के सात सौ शिष्यों की वक्तव्यता :

अंबड परिव्राजक के ७०० शिष्य गंगा नदी के तट पर आकर, कांपील्यनगर की ओर प्रस्थान करते समय बीच में बड़ी खाई आई, पर साथ में लिया हुआ पानी खत्म हो जाने पर और दूसरा पानी न मिलने पर उनकी प्यास बढ़ने लगी अंत में अरिहंत परमात्मा का शरण स्वीकार कर अनशन किया और मरकर ब्रम्हलोक में देव होकर अवतरित हुए।

अबंड परिवाजक की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! कांपील्य नगरी में अबंड परिव्राजक सौ घर में रहते हैं और वहीं भोजन लेते हैं, ऐसा नगरजन कहते हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, वह परिव्राजक अपनी वैक्रिय लब्धि से सबको आश्चर्यचकित करनेवाले एक सौ घर में भोजन करता है। फिर भी आखिर में जीवादी तत्वों का ज्ञाता बनके अनशनपूर्वक ब्रम्हलोक में देव होगा वहां ले महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने के बाद मोक्ष में जायेगा।

अत्याबाध देवों की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! अत्याबाध देव किसे कहते हैं ? उत्तर में भगवंत ने कहा कि, यह देव अपनी दिव्यऋद्धि, दिव्यद्युति से किसी भी आदमी के आंख की पलक पर हर प्रकार के नाटक खेल सकता है और बता सकता है, लेकिन फिर भी उस आदमी को थोड़ा भी कष्ट नहीं होता। इसलिये ये देव अव्याबाध देव कहलाते हैं। इन देवों की पांचवे देवलोक के लोकान्तिक देव में गणना होती है, जिसकी संख्या ९ की है; और वह इस प्रकार है : (१) सारस्वत (२) आदित्य (३) वह्नि (४) वरूण गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध (८) अग्नचर्य (९) अरिष्ट। ये नव प्रकार के देव लोकान्तिक कहलाते हैं। ये देव लोक के अन्त में नहीं लेकिन लोक यानि संसार के अन्त में होने से वहां से च्यवन पाकर दूसरे भव में मोक्ष में जाते हैं।

देवेन्द्र की विचित्र विक्रिया :

हे प्रभो ! शकेन्द्र देवराज क्या किसी का मस्तक काट के कमंडल में डाल सकता है ? भगवंत ने कहा कि, इन्द्र महाराज अपने शस्त्र से आदमी का सर काट के कमंडल में डाल सकता है। वो ऐसा किस तरह

से करता है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि जिस प्रकार चक्कू से भेंडी आदि के टुकड़े किये जाते हैं उस प्रकार इन्द्र महाराजा भी आदमी के मस्तक को तलवार से काट के कमंडल में भरता है। बाद में फिर उन टुकड़ों को आदमी के सर पर रखके ऐसे जोड़ देता है कि किसी को मालूम नहीं होता है और आदमी को वेदना भी नहीं होती हैं। इस प्रश्नोत्तर में केवल अपनी दिव्यशक्ति का वर्णन ही समझने का है। वैसे किसी ने भी किया नहीं है। क्यों कि इन्द्र प्रायः सम्यग्दृष्टिसंपन्न होते हैं।

जृंभक देवों की वक्तव्यता :

प्रभुने कहा कि ये देव स्वच्छंद आचरण करनेवाले, अलग अलग चेष्टाओं में आनंद प्राप्त करनेवाले, कामक्रीड़ा में आसक्त और मोहक होते हैं। या जिसको क्रोध से देखते हैं वो रोगिष्ट हो जाता है, उपद्रवों से घिर जाता है और उसके भाग्य में दूसरे अनर्थ भी शामिल हो जाते हैं। इससे विपरीत ये देव जिससे प्रसन्न मुद्रा से देखते हैं वो यश, धन आदि प्राप्त करता है। व्यंतर के भेद में इनका समावेश होता है और केवल पल्योपम प्रमाण के ही आयुष्यवाले हैं जिसके दस भेद हैं :

(१) अन्नजृंभक देव - रागद्वेष में आकर अपनी वैक्रियलब्धि द्वारा भोजन का सद्भाव या अभाव करनेवाले, अन्न को बढ़ाने या कम करने वाले और सरस को विरस करनेवाले ये देव हैं। प्रायः रागद्वेष के निवाणा पूर्वक व्यंतर देवयोनि प्राप्त होती है, इसलिए इन देवों को ऐसे प्रकार की विविध चेष्टाऐं करनी पड़ती है और उसी में ही उनको रस आता है। इस प्रकार लयनजृंभक, शयनजृंभक, पुष्पजृंभक, फलजृंभक, बीजजृंभक, पानजृंभक, वस्त्रजृंभक, पुष्पफलजृंभक और अव्यक्त जृंभक। ये देव दीर्घ वैताढय पर्वत, प्रत्येक क्षेत्र, चित्रविचित्र पर्वत, यमकसम पर्वत तथा कांचन पर्वत में रहते हैं। उत्तरकुरु में नीलवत आदि पांच द्रह हैं। प्रत्येक द्रह

के पूर्व पश्चिम तट पर दस-दस कांचन पर्वत है। इसलिए कांचन पर्वतों की संख्या सौ हैं।

नोंध - प्रति वर्ष पर्यूषण के व्याख्यानों में सुनते हैं कि, तीर्थंकर परमात्मा के च्यवन और कल्याणक समय पर इन्द्र की आज्ञा को मानकर लोकपाल कुबेर तिर्यग्जृंभक देवों को आज्ञा करता है और उसकी आज्ञा के अनुसार वे जृंभक देव तीर्थंकरों के घर सुवर्ण, चांदी, हीरा मोती, पुखराज, प्रवाल, वस्त्र, फल आदि की वर्षा करते हैं। जिससे पुण्यकर्म की चरम सीमा को भोगनेवाले तीर्थंकरों के घर धनधान्य से पूर्ण रहते हैं। लेकिन यह सब धन देव कहां से लाते हैं? कल्पसूत्र कहता है कि कंजूस, महाकंजूस तथा मनुष्यभव का दिवाला निकालकर नाग, चूहा, सांप आदि क्रूर हिंसक अवतार को पानेवाले आदमी अपने धन को स्मशान, वन, वृक्ष, चूला आदि स्थानों में गड्ढा कर के छुपा देते हैं। ऐसे प्रकार के कमभागी कंजूसों के धन को देव बाहर निकाल के तीर्थंकरों के घर में वर्षा करते हैं। इसलिए अनुभवी आचार्य भगवंत कहते हैं कि अमीरी संग्रह के लायक नहीं है, लेकिन गरीबों, जातिभाईयों तथा स्वामी-भाईयों को देने में ही कल्याण है।

॥ शतक १४ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक ९

अनगार विशेष की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! जो भावि आत्मा अनगार अपने कर्मों के योग्य कृष्णादि लेश्याओं को विशेष प्रकार से जानता नहीं है, और सामान्य रूप में देखता भी नहीं है तो क्या वह संयमी आत्मा कर्म और लेश्याओं से युक्त अपने शरीर को भी जानता या देखता नहीं है ?

जवाब में परमात्मा ने कहा कि कर्म और लेश्याओं के द्रव्य अति सूक्ष्म होने से छद्मस्थमुनि उसे जानते नहीं है लेकिन लेश्या और कर्मों से युक्त अपनी आत्मा को तो जानते ही हैं, क्योंकि स्थूल शरीर चक्षूग्राह्य होता और आत्मा उससे संबंधित होने से उन दोनों में कदाचित् अभेद है। सारांश यह है कि ज्ञानावरणीयादि कर्म और लेश्याएँ छद्मस्थ से जानी नहीं जाती है, लेकिन इन कर्मों को आत्मा, शरीर माध्यम से भुगत रहा है, इसलिए वह छद्मस्थ शरीर और आत्मा को जानता है अरुपी आत्मा चाहे चक्षुग्राह्य न हो, फिर भी अपने किये प्रारब्ध कर्मों को भोगने से प्राप्त हुए दुःख और सुख के अनुभव से आत्मा स्वसंविदित है, अर्थात् प्रत्यक्ष है।

आत्मा का प्रधान गुण उपयोग है। जो विशेषतर ज्ञानात्मक है, और सामान्यरूप से दर्शनात्मक होने से आत्मा चैतन्मय है, जब कि शरीर और इन्द्रियों में चैतन्यशक्ति न होने के कारण आत्मा के संचालन बगैर शरीर, मन इन्द्रियां और मन कभी भी प्रवृत्तिमय हो नहीं सकते। आगगाड़ी का इंजिन स्वयं चैतन्य रहित होने से सामने आता पूल यदि टूटा हुआ हो या पटरी टूटी हुई तो भी उसकी

इन्जिन को खबर नहीं पड़ती है इसलिए वह अपनी हानि या लाभ को जान नहीं सकता। जबकि जीवात्मा अपनी हानि का निर्णय और लाभ का निर्णय कर सकता है इसलिए अरूपी जीव अपने कार्यों को लेकर प्रत्यक्ष ही है। यही कारण है कि भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि छद्मस्थ अपने को और अपने शरीर को भी जानता है।

प्रकाशमान पुद्गल कितने ?

वर्णादि से युक्त तथा कर्म लेश्यावाले पुद्गल स्कंध जो प्रकाशित है उसकी संख्या कितनी ?

उत्तर में प्रभुजी ने कहा कि सूर्य और चन्द्र विमानों से निकलती तेज लेश्याएं प्रकाशित होती है, और उस प्रकाश से दूसरे पुद्गल स्कंध भी प्रकाशित होते हैं। यद्यपि सूर्य, चन्द्र के विमानों में रहे पुद्गल पृथ्वीकायिक होने से सचेतन हैं, इसलिए सकर्मलेश्यावाले हो सकते हैं, जब कि प्रकाश के पुद्गल कर्मलेश्या वाले नहीं होते हैं फिर भी वह उनमें से गुजरते हैं इसलिए कार्य में कारण की अपेक्षा से कर्मलेश्या वाले माने जाते हैं।

नारकादि को पुद्गल आम हैं या अनाम हैं ?

आम (दुःख से रक्षा करने वाले और सुख देने वाले) अनाम (दुःख उत्पन्न करने वाले)। जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! नरकगति में उत्पन्न होने वाले जीवमात्र को तत्रस्थ पुद्गल अनाम अर्थात दुःखप्रद होते हैं जब असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार देवों के पुद्गल आम अर्थात् सुखप्रद होते हैं और स्थावर, विकलेन्द्रिय, मनुष्य, तथा तिर्यंचों के पुद्गल सुखकारी और दुःखकारी भी होते हैं। शेष देवों को असुरकुमार के बराबर समझना।

सूर्यप्रभा की वक्तव्यता :

अपने गुरु श्री महावीर स्वामी के चरणों में अनन्य श्रद्धा रखने वाले गौतम स्वामी ने उदय होते सूर्य के लाल रंग को देखकर परमात्मा के पास आकर नमस्कार करके पूछा कि, हे प्रभो सामने जो दिखता है वो सूर्य है और उसका मतलब क्या हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! सबको प्रयत्क्ष दिखने वाला यह सूर्य शुभस्वरूप वाला पदार्थ है, क्योंकि उसका विमान पृथ्वीकायिक है और आताप नामक पुण्यप्रकृति के उदय वाला होता है इसलिए लोक में सूर्य प्रशस्त और ज्योतिषचन्द्र के केन्द्ररूप माना जाता है, तथा क्षमा, तप, त्याग और युद्धगति में शूरवीरों के लिए हितकारक है । इसकी प्रभा और लेश्या भी शुभ है ।

मुनि भगवंतों की तेजोलेश्या का कथन :

श्रद्धा संवेग से परिपूर्ण गौतम स्वामी ने परमात्मा को पूछा कि 'पापकर्म से सर्वथा विरक्त हुए ये मुनिराज अपनी संयम आराधना से उत्पन्न हुई तेजोलेश्या के कारण किसका उल्लंघन करते हैं ? मतलब कि संयम के पर्यायों में आगे बढ़ते मुनिराज का आत्मिक सुख किस से ज्यादा होता है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ? एक माह दीक्षा पर्यायवाले मुनिराजों की तेजोलेश्या (सुखवासिका) वानव्यंतर देवों की लेश्या से ज्यादा होती है, मतलब कि पुण्यकर्म की गठरी को मजबूत करके वानव्यंतर देव अवतार प्राप्त करने वाले देवों के पास लेश्या की जो शक्ति होती है, उससे एक माह के संयमधारी के आत्मा में ज्यादा शक्ति होती है ।.....दो माह के दीक्षित मुनियों की तेजोलेश्या चमरेन्द्र और बलिन्द्र की तेजोलेश्या से अधिक है ।.....तीन माह के दीक्षित मुनि असुरकुमारों से ज्यादा तेजोलेश्या होते हैं ।

.....चार माह के दीक्षित मुनि ग्रहनक्षत्र और सितारों की तेजोलेश्या से ज्यादा तेजोलेश्या वाले होते हैं ।

.....पांच माह के दीक्षित मुनि सूर्य, चन्द्र की तेजोलेश्या से भी आगे हैं।

.....छः माह के दीक्षित मुनि सौधर्म और ईशान देव की तेजोलेश्या से आगे हैं।

.....सात माह के दीक्षित मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र से भी आगे हैं।

.....आठ माह के दीक्षित मुनि ब्रह्म और लातंक से भी आगे है।

.....नव माह के दीक्षित मुनि महाशुक्र और सहस्रार से अधिक है।

.....दस माह के दीक्षित मुनि ९-१०-११-१२ देवलोक के देवों से अधिक हैं।

.....ग्यारह माह के दीक्षित मुनि ग्रैवेयक देवों से भी आगे निकल जाते हैं।

.....बारह माह के दीक्षित मुनि अनुत्तर विमानवासी देवों की तेजोलेश्या से आगे हैं और इस तरह संयमाराधना द्वारा आगे बढ़ते मुनि आखिर संपूर्ण कर्मों का क्षय करके निर्वाण होते हैं।

नोंध :- ज्ञानसागर में महोपाध्यायजी भी गवाही देते हुए कहते हैं कि-

तेजोलेश्या विवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्पादौ सेत्थं भूतस्य युज्यते॥

मतलब संयम आराधना में पूर्णरूप से एकाग्र हुए मुनिराजों को जो आत्मिक सुख और तेजोलेश्या प्राप्त होती है वो देवों को भी प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि संयमी आत्मा का लक्ष्य ध्यान केवल तीर्थंकर

भगवंत ने दिये उपदेश या बताए हुए मोक्ष मार्ग में होने से ये मुनिराज संसार, उसकी माया, संसारियों की कडाकूट आदि व्यावहारिक कार्यों में सर्वथा उदासीन या मौन होते हैं, इसलिए उनकी तेजोलेश्या में वृद्धि होती रहती हैं।

इस लेश्या के दो कार्य हैं :- (१) अनुग्रह (२) शाप । जीव मात्र के परम मित्र होने से संयमी आत्मा किसी को भी शाप नहीं देते हैं और परम पवित्र जीवन होने से यह संयमी आत्मा के एक, एक प्रदेश में से जीवमात्र के कल्याण की भावना ही प्रकाशित होती है।

॥ शतक १४ : उद्देशक ९ पूर्ण ॥

शतक १४ वाँ : उद्देशक–१०

श्री गौतमस्वामी के पूछने पर महावीर स्वामी ने बताया कि, हे गौतम ! भवस्थ केवली तीनों क्षेत्र में रहे छद्मस्थ अनगार को विशेषरूप से से जानते है और सामान्यरूप से देखते है। सिद्धशिला में विराजमान सिद्धात्मा भी छद्मस्थ अनगार को देखते हैं इस प्रकार प्रतिनियत क्षेत्र विषयक अवधिज्ञानी को जानते हैं और देखते हैं। केवली परमात्मा बिना पूछे

और पूछने आए तभी सबको जवाब देते हैं लेकिन सिद्धात्मा बोलते नहीं हैं और जवाब भी नहीं देते हैं क्योंकि केवली को शरीर होने से वे उत्थान व्यापार, बल और वीर्य और पुरुषाकार पराक्रमी होते हैं। जबकि "सिद्धाणं नत्थि देहो....." इस सूत्र से उनके शरीर न होने से उत्थान आदि रहित है इसलिए बोलते नहीं हैं। केवली का नामकर्म शेष होने से वे अपनी आखें खोलते हैं, बंद करते हैं और नरकभूमि को यह रत्नप्रभा है, ऐसा समझते हैं। सिद्ध भगवंत भी अपने ज्ञान से रत्नप्रभा को और ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी को जानते हैं और देखते हैं। परमाणु पुद्गल से द्विप्रदेशिक स्कंधों को भी जानते हैं और देखते हैं। इस प्रकार सिद्धात्मा भी जानते हैं और देखते हैं।

इस प्रकार भगवान की बोली सुनकर प्रसन्न हुए गौतमस्वामी ने केवलज्ञान की भरपूर प्रशंसा की।

॥ शतक १४ : उद्देशक १० पूर्ण ॥

जगत्पूज्य शास्त्र विशारद जैनाचार्य १००८ श्रीमद् विजयधर्मसूरीश्वर जी म. के. शिष्यरत्न, शासनदीपक स्व. मुनिराजश्री विद्याविजयजी महाराज साहिब के शिष्य न्यायव्याकरण, काव्यतीर्थ पंन्यास पूर्णानंदविजय (कुमार-श्रमण) ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए श्रुतज्ञान के संस्कार भवांतर में भी मिले इसलिए अपनी यथामति से मूलसूत्र, टीका आदि के माध्यम से भगवती सूत्र का १४ वां शतक पूर्ण किया है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्।
सर्वे जीवा अहिंसा तत्त्वं प्राप्नुयुः ॥

॥ शतक १४ पूर्ण ॥

शतक १५ वाँ : उद्देशक १

इस शतक के प्रारंभ में गणधर श्री सुधर्मा स्वामीजी खुद "नमो सुअदेवाए भगवईए" इस सूत्र से भगवतीश्रुत देवता को नमस्कार करके कहते हैं कि, उस काल और उस समय में श्रावस्ती नामक नगरी थी, उसके बाहर और उत्तर पश्चिम के बीच ईशान कोने में कोष्ठक नामक चैत्योद्यान था। उस नगरी में आजीवक यानि कि गोशाला की भक्ता हालाहाला नामक कुम्हारन रहती थी। जो धनाढ्य और किसी से कम भी नहीं थी। गोशाला के मत का रहस्य प्राप्त कर चुकी थी और हृदय से श्रद्धा पूर्वक उन सिद्धांतों का प्रचार करती थी। उस कुम्हारन के रोम-रोम में, लहू की एक-एक बूंद में गोशाला का तत्व ज्ञान समाया हुआ था।

उस काल और उस समय में आजीवक मत के स्थापक और प्रचारक मंखलीपुत्र २४ वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद इस कुम्हारन की कुम्हार-शाला में आकर अपनी आत्मा को भावित करते रहते थे। किसी एक समय पर पासत्था (जैनत्व से भ्रष्ट) सात पंडित कलंद-कर्णिकार-अच्छिद्र-अग्नि-वेश्यायन-गोमयापुत्र और अर्जुन भिन्न भिन्न विद्याओं में पारंगत थे। वे सभी इस गोशाला के पास आये, वहां रहे तथा भौम-आंग स्वर-लक्षण और व्यंजनादि अष्टाँग निमित्त द्वारा गोशाला को जानकारी दी। साथ ही साथ साथ गीतमार्ग और नृत्यमार्ग के भी वे जानकार थे। उसके बाद गोशाला अष्टांग निमित्त द्वारा साधारण मनुष्यों को मालूम न हो इस प्रकार उनके सुख दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन मृत्यु आदि कहने लगा और बड़े समाज को आकर्षित कर सका जिसमें अमीर और उनकी पत्नियां भी आकर्षित होकर गोशाले की अनुयायिनी बन गई। यद्यपि सामान्य जनता समझती

थी कि गोशाला जिन नहीं है, फिर भी श्रद्धा, अंधश्रद्धा और राग से दृष्टिराग तथा जिस व्यक्ति से अपना मान, बडप्पन या दूसरे प्रकार से भी लाभ होता हो वहां के मानव के अंतरचक्षु बंध हो जाते हैं और केवल बाह्य चक्षु ही खुले रहते हैं। इसलिए ही गोशाला जिन नहीं है, फिर भी जनता का बड़ा वर्ग गोशाले को जिन, तीर्थंकर और सर्वज्ञ मानने लगा और उसी प्रकार व्यवहार करने लगा। बाद में भक्तों की माया से आकर्षित होकर गोशाला अपने मुख से ही 'मैं जिन हूं, सर्वज्ञ हूं" इत्यादि शब्दों के व्यवहार से ज्यादा गर्विष्ठ बन गया था।

उस काल उस समय में देवाधिदेव, भगवान महावीर स्वामी विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में पधारे और समवसरण में विराजमान होकर पर्षदा को सत्य, असत्य, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, आदि का धर्मोपदेश दे रहे थे।

उस समय गौतम स्वामी छठ्ठ की तपश्चर्या करते थे और पारणे के निमित्त से श्रावस्ती नगरी में भिक्षा के लिए पधारे। उस समय जनता के मुंह से सुना कि गोशाला जिन की तरह विचर रहा है, यह सुनकर शंकाशील हुए गौतम स्वामी भिक्षा पूर्ण करके समवसरण की ओर चले और गौचरी आलोचना करने के बाद पूछा कि : हे प्रभो ! क्या गोशाला जिन है ? और यदि हो, तो भी क्या यह बात सच हो सकती है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, गोशाला जिन नहीं है ? अर्हंत नहीं है। इसलिए वह जो कुछ अपने लिए कहता है, वह गलत है। विशेष में भगवंत ने उसका जीवन इस तरह बताया।

गोशाले का जीवन :

हाथ में चित्र लेकर भिक्षा मांगने वाली 'मंखली' नामकी जात है, इस लिए पुरुष का जीवन भी मंखली से संबोधित किया गया। उसकी

भद्रा नाम की पत्नि थी । जन्म जन्मों से दरिद्र यह दंपती एक दिन 'शरवणा' गाम में आई । जहां गोबल नामक एक ब्राम्हण रहता था। दंपत्ती पर दया लाकर उस ब्राम्हण ने अपनी गायों की शाला में उन्हे रखा और भद्रा को पुत्र का जन्म हुआ। गायों की शाला में वह बालक जन्मा था, इससे उसका नाम गोशाल रखा गया। बाल्यकाल पूर्ण करने पर गोशाल युवान हुआ, साथ ही साथ परिपक्व बुद्धिमान और विद्वान हुआ।

उस काल उस समय में गौतम ! मैं अपने जन्म से तीस साल तक गृहस्थाश्रम में रहा जब मेरे माता-पिता देवलोकवासी हुए, और मेरी दीक्षा की प्रतिज्ञा पूर्ण करके, इन्द्र के दिये हुए देवदूष्य को स्वीकार करके निग्रन्थ हुआ, और चतुर्मास के शेष बचे आधे माह को तपश्चर्यापूर्वक अस्थिकग्राम की निश्रा में पूर्ण किया। दूसरी वर्षा ऋतु का काल मासखमण के पारणे से मासखमण करके पूर्ण किया, उस समय मंखली गोशालक भी हाथ में रखे चित्र दूसरों को बताता। जहां मैं था वहां अपना सामान रखकर राजगृही नगरी में ऊंच, नीच और मध्यमकुल में भिक्षाचर्या के लिए फिरता। परन्तु रहने के लिए कहीं भी जगह न मिलने से तंतुवाय की शाला को ही अपना मुकाम बनाया।

हे गौतम ! उस समय प्रथम मास क्षमण के पारणे के निमित्त से तंतुवाय की शाला से बाहर आकर राजगृही नगरी के ऊँच नीच, और मध्यमकुल के घरों में भिक्षाचार्य के लिए भ्रमण करते हुए 'विजय नाम के गाथापति के घर आया। मुझे देखकर बहुत ही खुश हुआ । और अपने आसन पर से उठकर पादुकाओं को पैर से निकालकर उत्तरासनपूर्वक सात कदम मेरी ओर आया। वंदन नमन करके बहुत ही प्रेमभाव से उस गाथापति ने मुझे पारणा कराया, मतलब कि :--

द्रव्यशुद्ध-- उद्गमादि दोषरहित आहार।

दायक शुद्ध-- आशंसादि दोषरहित दाता के शुभ भाव।

प्रतिग्राहक शुद्ध-- आहार लेनेवाला शुद्ध हो।

इस तीनों प्रकार की शुद्धि के साथ मन और काया तथा कृत कारित और अनुमोदित दान से मुझे प्रतिलाभित किया और उत्तमोत्तम दान से विजय गाथापति ने देवगति का आयुष्य बांधकर संसार को अल्प किया। पांच दिव्य हुए। उस समय राजगृही के तीन रास्ते-चार रास्ते आदि स्थलों पर लोग इकट्ठे होकर इस तरह कहने लगे कि, 'विजय गाथापति धन्य है। अभिलाषाएं पूर्ण होने से कृतार्थ है। पुण्योपार्जित है। इससे उसका यह भव और परभव सुधरा है। क्योंकि अरिहंतों को दान देने से यह पांच दिव्य गाथापति के यहां प्रकट हुए।

यह सब बातें मंखली ने सुनी तो वह गाथापति के घर गया, धन धान्य तथा पुष्पादि के ढेर देखकर खुश होकर बाहर आया और मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, वंदन करके कहा, आप ही मेरे धर्माचार्य हैं, मैं अंतेवासी हूं। यह कहने पर भी गौतम ! मैंने उसके वचन का आदर नहीं किया है, स्वीकार नहीं किया है, इसलिए मौन रहा।

उसके बाद पुनः नालंदा के मध्यभाग में होकर तंतुवाय शाला में आया। दूसरा मासक्षमण किया और उत्तम सामग्री से पारणा किया। और 'आनंद' गाथापति के यहां विपुल और उत्तम सामग्री से पारणा किया उसके बाद चौथे मासक्षमण का पारणां नालंदा के बाहर के हिस्से में कोल्लाक सन्निवेष गांव था, जहां वेद-वेदांत का पारंगत, ज्ञान विज्ञान से पूर्ण, 'बहुल' नामके ब्राह्मण के घर किया। मुझे देखकर बहुत खुश हुआ, मेरा सत्कार किया। बहुमानपूर्वक वंदन-नमन करके परमान्न (खीर) से पारणां करवाया था। पंचदिव्य आदि की बातें पहले की तरह समझ लेना।

तंतुवाय शाला में मुझे न देखने पर उस गोशालक ने राजगृही नगरी में मेरी खोज की पर मेरा शब्द या छींक भी उसे सुनने को मिली नहीं, (अदृश्य आदमी की उसके शब्द और छींक से भी खबर होती है कि

यह शब्द और छींक उस आदमी की है।) इसलिए वापस तंतुवाय शाला में आया और अपने पहनने के वस्त्र, के उतरीय वस्त्र, पादुका और चित्रपट दूसरे किसी ब्राम्हण को दे दिये और मूंछ दाड़ी का मूंडन करा के नालंदा के बाहर के भाग से वह चल निकला और कोल्लाक सन्निवेश में आया। जहां उस गांव के सभी ब्राम्हण मेरी प्रशंसा सत्कार-वंदन-नमन आदि कर रहे थे।

यह सब सुनकर गोशाले के मन में विचार आया कि, 'मेमे धर्माचार्य श्री महावीर स्वामी को इतनी ऋद्धि, यश कीर्ति, बल, वीर्य, पुरुषाकार (पुरुषार्थ) प्राप्त हुआ है, इतना दूसरे किसी श्रमण या ब्राम्हण को प्राप्त नहीं हुआ है! इस प्रकार के विचार करते और सर्वत्र मेरी तलाश करते उस गोशाले को मैं मिला और संतुष्ट गोशाले ने मुझे वंदन करके नमन किया। तीन बार मेरी प्रदक्षिणा की और कहा कि, 'हे प्रभो आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका अंतेवासी शिष्य हूं। तब हे गौतम! मैंने उसकी बात स्वीकार किया और छः साल तक भवितव्यता की प्रबलता के कारण उसके साथ सुख दुःख, लाभ अलाभ, सत्कार, हानि-फायदा, मान-अपमान आदि का अनुभव किया अर्थात् अनित्य जागरिका में वह समय पसार किया।

हे गौतम! उसके बाद वर्षाऋतु समाप्त होने पर गोशाले के साथ विहार करते हुए सिद्धार्थ ग्राम से कूर्मग्राम की ओर जा रहा था, तभी उन गांव के बीच हरियाले पर्ण और पुष्पों से सुशोभित तिल के पौधे को देखकर गोशाले ने मुझे पूछा कि, यह पौधा फलित होगा कि नहीं? और पुष्प के सात जीव हैं वे मृत्यु के बाद कहां जायेंगे? कहाँ कब उत्पन्न होंगे? जवाब में मैंने कहा कि यह यह छोड़ जरूर बढ़ेगा और पुष्प के सातों जीव पुनः तिल की एक फली में तिल के रूप से उत्पन्न होंजे। परन्तु गौतम! गोशाले का जीव दल तथा प्रकार का न होने से मेरे वचनके प्रति उसे विश्वास न हुआ। रूचि न हुई। इसी कारणवश मुझे किसी

भी तरह झूठ साबित करने के लिए और दूसरों के समक्ष झूठ साबित करने के इरादे से धीरे धीरे चलने का ढोंग करता हुआ वह गोशाला मुझसे पीछे रहा और वापिस जाकर तिल के पौधे को मूलियों से निकालकर फेंक दिया। पर गौतम ! उसी समय में ही आकाश में बादल छा गये, बिजली चमकी और धीरे-धीरे बारिश हुई परिणामरूप जिस मिट्टी में गोशाले ने तिल का पौधा फेंका था, वहीं ही वह पौधा जाकर स्थिर हुआ और उसकी मूलियों की जड़ें मजबूत होते ही वे अंकुरित हुए और तिल पुष्प के जो सात जीव थे वे एक ही फली में उत्पन्न हुए।

गोशाले के साथ विहार करता हुआ कूर्मग्राम में आया। उस गांव के बाहर वैश्यापन नामक बालतपस्वी निरंतर छट्ठ के पारणे पर छट्ठ करता सूर्य के सामने आतापना लेता था। सूर्य के ताप से गर्म हुई उसके सिर की 'जूएँ' एक के बाद एक नीचे गिरती थी और प्राण भूत-जीव तथा सत्व के प्रति दयालू वह तापस 'जूओं' को पुनः अपने सिर में रख देता था क्योंकि उच्छवास आदि प्राणों को धारण करनेवाली 'जू' प्राण है। भवन धर्मवाली होने से भूत है। उपयोग लक्षण से युक्त होने से सत्व है। यह सब विचित्रता को देखकर कुतुहल से प्रेरित वह गोशाला उसके पास आया और बोला कि, 'आप कौन से तत्व को जानने के बाद मुनि हुए हैं ? या फिर यति जोगी हैं ? कि किसी ग्रह से गृहीत हैं ? अथवा 'जूओं' के पालन करनेवाले शय्यातर हैं ? मौन रहे तापस को गोशाले ने फिर से पूछा, तब वह तापस अत्यन्त रूष्ट हुआ, दांतों को परस्पर दबाता, होठों को चबाता, वह तापस आतापना भूमि से नीचे उतरा और तेजोलेश्या से युक्त होकर सात आठ कदम पीछे हटा और अपने शरीर से बाहर निकली तेजोलेश्या को गोशाले के ऊपर फेंकी और गौतम ! अनुकम्पा से प्रेरित होकर गोशाले को बचाने के लिये मैंने शीतल लेश्या फेंकी और तापस की लेश्या शक्तिहीन होकर समाप्त हुई। वैश्यापन तापस को इस बात का पता चला और वह मेरे पास आया

और बोला कि, मेरी तेजोलेश्या से गौशाले को कुछ भी नहीं हुआ। अंग प्रत्यंग को भी हानि नहीं हुई। इसलिये हे प्रभो ! मैं जान सका हूं कि ऐसे अयोग्य शिष्य पर भी आपश्री की ही कृपादृष्टि कारण बनी हुई है। दया के अवतार समान है प्रभो आपश्री को मेरी वंदना है।

हे गौतम ! उसके बाद वह गोशाला मेरे पास आया और बोला कि हे भगवान ! इस तापस ने जो तेजोलेश्या रखी, उसकी विधि क्या है ? भवितव्यता बलवती होगी। गौतम ! मैंने कहा कि, मुट्ठी बंद करने के बाद उंगलियों पर जितने उड़द के दाने रह सके, उसे छः महिने तक खाना और अंजली के प्रमाण से पानी पीना। इस तरह छट्ठ के पारणे पर छट्ठ करके, पारणे में उपर्युक्त विधि करना। जिससे तेजोलेश्या की सिद्धी होती है और अपनी गरज तक इस बात का गोशाले ने स्वीकार किया। उसके बाद कूर्मग्राम से सिद्धार्थनगर की ओर जाते वक्त बीच में तिल का पौधा देखकर पूर्वोक्त बात को याद करता और कराता गोशाला उस पौधे को देखता है, जिसमें सात तिल एक फली में थे। जिससे उसे भवितव्यता का सिद्धांत और वनस्पति के जीवों की तरह सब जीव पुनः उसी शरीर में ही उत्पन्न होते हैं। ऐसी मान्यता पर वह गोशाला श्रद्धालू बना। उसके बाद लगातार छः महिने तक छट्ठ के पारणे छट्ठ करके उड़द के दाने से पारणा करके तेजोलेश्या की सिद्धि हुई और दिशाचरों से प्राप्त अष्टांग निमित्त द्वारा उसने अपना अलग मठ जमाया है।

गौतम ! तेरे पूछने पर गोशाला की हकीकत सुनाई है। भौतिक ज्ञान से मदोन्मत हुआ वह जिन नहीं है, केवली नहीं और अर्हत नहीं है।

अरिहंत देव की यह बात, "गौशाला जिन नहीं है"। सर्वत्र प्रसारित हो गई और श्रावस्ती नगरी की जनता के मुख में एक ही बात शेष रही कि, महावीर स्वामी सर्वज्ञ है, जिन है, अर्हत है, पर गोशाला जिन नहीं है।

"षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः" इस उक्ति के अनुसार सर्वत्र फैल चुकि यह बात जब गोशाले के कान तक गई, तब रोष क्रोध अहंकार-माया-प्रपंच आदि दुर्गुण चरम सीमा पर पहुंचने पर वह गोशाला क्रोध से धगधगता, दांतों को कचांकचाता और होटों को हिलाता कुम्हारशाला में आया। और अपने शिष्य तथा मतानुयायीओं के साथ महावीरस्वामी की ओर प्रस्थान किया।

उस समय महावीरस्वामी का अंतेवासी, प्रकृति से भद्रिक, विनयवान, निरंतर छट्ठ के पारणे पर छट्ठ करनेवाला 'आनंद नामका स्थविर' मुनि अपने छट्ठ के पारणे के लिए भगवान की आज्ञा लेकर भिक्षा लेने के लिए बस्ती में आया। और कुम्हार के मकान से जाते हुए, उस स्थविर मुनि को देखा और, गोशाला ने उसे बुलाकर कहा कि हे मुनि! सबसे पहले तू मेरी एक कहानी सुन ले। चिरातीत काल में धनप्राप्ति की इच्छावाले, धन की खोज में रहनेवाले, उसकी तृष्णा और आशावाले धन के लोभी कई बनिये गाड़े में सामान भर के परदेश के लिये निकले। एक भयंकर वन में प्रवेश किया, जहां पीने का पानी खत्म हुआ और प्यास के मारे आकुल व्याकुल होने पर भी पानी नहीं मिला। पानी की खोज करते हुए एक जगह पर बड़ा राफड़ा देखा और उसे फोड़ा। संभवित होगा कि उसमें से ठंडा, स्वच्छ और स्वादु पानी विपुल मात्रा में निकला होगा, जिसको सबने पेट भरके पिया और अपने बर्तनों में भर लिया। 'लाभे लोभो वर्धते' इस न्याय से उन्होंने दूसरे राफड़े को भी फोड़ने का प्रयत्न किया। पर उस समूह में एक वृद्ध जो गंभीर प्रकृति का था उसने कहा कि, अपनी पानी की गरज मिट गई है, इसलिए ज्यादा लोभ न करना हितावह है। पर बुढ्ढे की बात जवान लोग मानने के लिए तैयार नहीं होते। और दूसरे राफड़े को फोड़ने से उसमें से उत्तम जाति का सोना चांदी आदि मिला। फिर तो तीसरा भी फोड़ा, जिसमें से धन राशि नीकली और चौथे को फोड़ने के लिए उद्यत हुए उन जवानों

को वृद्ध ने फिर से रोका, पर न रुकनेवाले और लोभ में अंध हुए, उन्होंने बुढ़े की बात नहीं मानी और उस राफड़े को भी फोड़ दिया, 'लोभे लखण जाय' इस न्याय से उनमें से भयंकर विषधर बाहर आया और सब जवानों को देखते ही देखते यमराज के घर पहुंचा दिया परंतु सच्ची सलाह देने वाले वृद्ध को कुछ भी हानि नहीं हुई। वैसे ही हे आनंद ! तेरा धर्माचार्य महावीर भी खूब संपत्ति और देव असूरों से पूजाया हुआ है, और इससे संभव है कि तेरे धर्माचार्य में गर्व की मात्रा बढ़ गई है। इसलिए कुछ भी बोल रहे हैं तो फिर सर्प जैसा में भी तेरे धर्माचार्य को जलाकर खाक किये बिना रहूंगा नहीं, इसलिए तू तेरे धर्माचार्य को कह देना।

यह बात सुनकर भयग्रस्त हुआ आनन्दमुनि तीव्रगति से समवसरण में आया। तीन प्रदक्षिणा करके पूछा हे, प्रभो क्या मंखलीपुत्र गोशालक अपनी तेजोलेश्या द्वारा एक ही प्रहार से दूसरे को भस्मसात् कर सकता है? पत्थर से बनाए गए महायंत्र 'कुटाहत्थ' के एक ही प्रहार से दूसरे का जीवन समाप्त कर सकता है ? इसी प्रकार अपने तप से उत्पन्न हुई तेजोलेश्या से दूसरे को भस्मसात् कर सकता है ? भगवान महावीर स्वामी ने हां में जवाब देते कहा है कि, हे आनंद ! गोशाला ऐसा करने के लिए शक्तिमान है, परन्तु अरिहंत भगवन् को भस्मसात् नहीं कर सकता है, क्योंकि किसी कि भी तेजोलेश्या से तपस्वी मुनिराज ज्यादा शक्ति संपन्न होते हैं और क्षमा प्रधान होते हैं।

जो तपस्तेज अणगारों के पास होता हैं उससे स्थविर अणगारों में बहुत ज्यादा होता है और उससे ज्यादा अरिहंतों में होता हैं। क्योंकि उनके क्रोध कषाय सर्वथा क्षय हो चूके हैं। गोशाले की शक्ति से अरिहंतों को शरीर पीड़ा के सिवा कुछ भी नहीं होता है। इसलिए हे आनंद ! तू जा और गौतम आदि श्रमण निर्गंथों को सूचित कर कि तुम्हारे में से कोई भी गोशाले के साथ धर्म चर्चा, वाद या उनके मत का खंडन नहीं

करना। क्योंकि मिथ्यात्व के पाप से गोशाला अभी श्रमण निर्ग्रंथों का विरोधी बन बैठा है। भगवंत की आज्ञा और प्रसंग आनंद मुनि ने सबको कह दिया।

क्रोधान्ध गोशाले का महावीर की ओर आगमन :

उस वक्त मिथ्यात्व से घिरा गोशाला हालाहाल कुम्हारन की दुकान से बाहर आया और अपने मतानुयायियों के साथ श्रावस्ती नगरी के मध्य भाग, जहां महावीर स्वामी थे वहां आया और गुस्से में आकर बोला, ओ काश्यप ! तू मुझे ऐसा कहता है कि गोशाला मेरा अंतेवासी है ? लेकिन तेरा वह गोशाल तो पवित्र होने के कारण कालधर्म प्राप्त करके देवलोक में जन्मा है।

नोंध : लेश्याओं (आत्म परिणाम) के जिस तरह छः भेद हैं उसी प्रकार लेश्याओं के मालिक भी छः जात के होते हैं। जैसे कि कृष्ण लेश्या का मालिक कृष्णाभिजातिक। इस प्रकार नीलाभिजातिक, कापोताभिजातिक तेजोभिजातिक, पद्माभिजातिक और शुक्लाभिजातिक हे काश्यप ! तेरा मंखलीपुत्र गोशाला शुक्लाभिजातिक परिणाम वाला होने से देवलोक में गया है। लेकिन मैं तेरा शिष्य गोशालक नहीं हूं, केवल मृत गोशालक के शरीर में प्रविष्ठ मेरा यह सांतवां शरीरान्त है। उसके बाद गोशाले ने अपने सिद्धांत महावीर स्वामी को कह सुनाये, जो सर्वथा असंगत और अमान्य होने के बावजूद भी मस्तिष्क को परिश्रम कराके हास्य उत्पन्न कराने वाले होने से मूलसूत्र से जान लेने की सिफारिश की गई है।

गोशाले की बात सुनकर महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गोशालक ! जिस प्रकार से कोई चोर पकड़े जाने के डर से अपना शरीर यदि एक तृण से छुपा दे तो भी छुपा नहीं सकता है, इस प्रकार तू भी ऐसी ही बातें

कर रहा है, इसलिए तू मंखलीपुत्र गोशालक ही है । क्रोध में आकर गोशाले ने महावीर प्रभू को बहुत अपशब्द कहे तभी सर्वानुभूति नामक अणगार ने कहा कि, हे गोशालक ! तुम तो महावीर स्वामी के साथ रह चूके हो, इसलिए तुम्हें उनके विरुद्ध में कुछ भी बोलना नहीं चाहिए। ऐसे हितकारी वचन के बावजूद भी अतिरुष्ट हुए गोशाले ने तेजोलेश्या द्वारा उस मुनि को जलाकर राख किया और महावीर स्वामी को भी बहुत गालियां दी । उस समय सूनक्षत्र नामक मुनि गोशाले का प्रतिकार करे उससे पहले गोशाले ने उसको तेजोलेश्या का शिकार बना दिया । अत्यंत दग्ध हुए मुनि देवाधिदेव महावीर स्वामी के पास आये । वंदन नमन करके, तीन प्रदक्षिणा देकर पांच महाव्रतों का पुनरुच्चाण करके सब श्रमणों और श्रमणीयों की क्षमायाचना करके जो अरिहंतों का शरण सिद्धों का शरण, केवली प्रज्ञप्त धर्म का शरण स्वीकारता है वह मुनि देवलोक का मालिक बनता है ।

अपशब्दों से महावीर स्वामी को परेशान करके गोशाले ने कहा कि, हे काश्यप ! तू समझ ले कि मैं तेरा मंखलीपुत्र गोशालशिष्य नहीं हूं । जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गोशाल मेरे साथ ऐसा अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि मैंने तुझे दीक्षा दी है, शिक्षा दी है, ज्ञान-विज्ञान दिये हैं और मैंने तुझे ख्याति दिलाई है । गोशाल तेरे आत्मा का ख्याल कर । मिथ्यात्व मोहिनीय कर्म के पूर्णरूप से व्याप्त गोशाल भगवंत की हितकारी बातें सुनने के लिए तैयार नहीं था । क्रोध में आकर उसने सब जीवों को अभय दान देनेवाले भगवान को मारने के लिए अपने शरीर में से तेजोलेश्या बाहर निकाली और महावीर पर फेंकी । लेकिन जिस प्रकार पर्वत से टकरा कर पवन वापिस मुड़ जाता है, उस प्रकार तेजोलेश्या भी प्रभू को तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस गोशाले के ही शरीर में प्रविष्ट हुई । सांप से खेलता सांप से मरे, पानी में तैरता पानी से मरे, वैसे ही आसुरी शक्ति और बुद्धि

का स्वामी मायाजाल में फंसकर अपनी परघातक शक्ति से ही मरता है। गोशाले की भी यही दशा हुई, क्योंकि प्राकृतिक नियम सबके लिए समान है।

तेजोलेश्या के तप से हतप्रभ हुए गोशाले को प्रभु ने कहा कि, तेरी तेजोलेश्या से मैं मरनेवाला नहीं और अब भी केवली अवस्था में सोलह साल तक जीवित रहूंगा, लेकिन गोशालक तू तो सात रात तक पूर्ण होते ही मरने वाला है।

श्रावस्ती नगरी के लोगों में भी एक ही बात की चर्चा हो रही थी कि, महावीर ही तीर्थंकर है, सर्वज्ञ है और अर्हंत है। गोशाला झूठ है। अपने श्रमणों को भगवंत ने कहा कि जिस तरह घास-काष्ट-गोबर आदि में पड़े हुए अग्नि के तिनके से वे जलकर खाख होने के बाद निस्तेज हो जाते हैं, वैसे तुम उसके साथ धर्म की चर्चा करो, उसके मन की समालोचना करो और हेतु व उदाहरण से उसे निरूत्तर बनाओ। उसके बाद वे श्रमण गोशाले के पास गये और चर्चा आदि से उसे निरूत्तर किया। हतप्रभ और निस्तेज, गोशाला क्रुद्ध हुआ। लेकिन किसी निर्ग्रंथ का कुछ भी कर न सका।

तेजोलेश्या से सारे बदन से जलता, हाथ पैर उछालता, गोशाला जल्दी ही कुम्हारन के यहां आया और आम की गुटली चूसता, मदिरापान करता मिट्टी और ठंडे पानी को अपने शरीर पर डालता, वह कष्टपूर्वक अपना समय पसार करता था। तथा आठ प्रकार की चरमता अपने अनुयायीओं समझाता था। (उसे मूलसूत्र से जानना) मृत्युकाल नजदीक आया तब अपने अनुयायीओं से कहा कि, मेरे मर जाने का पता चले तब मेरे शरीर को सुगंधी पानी से स्नान करवाना, यावत् हजारों आदमी से उठाई हुई पालखी में मुझे ले जाना, साथ में उद्घोषणा भी करना कि इस अवसर्पिणी का अंतिम तीर्थंकर मरकर सिद्ध-बुद्ध हुआ है।

पर ज्यों ज्यों वेदना तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती गई और भयंकर वेदनाओं को भुगतने पर गोशाले के भाग्य में अंतिम रात आ गई। उस समय में गोशाले को पापों का अफसोस हो गया कि अब मैं किसी भी हाल में बचने वाला नहीं हूं। संसार का कोई भी देव या मेरे परम भक्त-भक्तानी भी मुझे बचाने के लिए असमर्थ हैं। तब सर्वथा निःसहाय हुए उसे किसी अच्छे विचारों का प्रकाश हुआ और अपनी आत्मा का भान हुआ कि, "मैं जिन नहीं, सर्वज्ञ नहीं, तीर्थंकर या अर्हंत नहीं" अब तक मैं अपनी जात को जिन आदि कहता था, वह असत्य वचन था। सुनक्षत्र और सर्वानुभूति से जैसे मुनियों का मैं घातक बना, श्रमणों का विरोधी बना, उपाध्याय तथा आचार्यों का अपजशकारक हुआ। असद्-भावना और मिथ्याभिनिवेश की कल्पना में मैंने मेरी जात को फंसा दी और दूसरों को भी भ्रम में डाला, परिणाम से मेरी तेजोलेश्या मेरी ही भक्षक बनने पायी। सत्य स्वरूप से ही महावीर जिन हैं। जिन प्रलापी है, अर्हंत है, सर्वज्ञ है। इस तरह के अच्छे विचार आते ही गोशाले ने स्थविरों को बुलाया और आत्म विश्वास के साथ शपथपूर्वक कहा कि, "ओ मेरे मतानुयायी ! आज तुम मेरे आखिरी शब्द सुन लो कि मैं जिन नहीं लेकिन मंखलीपूत्र गोशाल नाम का महावीर स्वामी का शिष्य था। अभी तक दंभी, माया मृषावादी होकर मैंने मेरी जात को और तुम सबको धोखा दिया है, और इससे मैं श्रमणों का घातक बनने पाया हूं। इसलिए मेरे मरने के बाद मेरे बायें पैर में रस्सा बांधना, तीन बार मेरे मुंह पर थूकना और मेरे मृत शरीर को श्रावस्ती नगरी में घसीटते हुए ले जाना और जोर से घोषणा करना कि गोशाला जिन नहीं है, यावत् श्रमणों का निंदक, घातक, अपयश करने वाला है।" इस अवसर्पिणी के चौबीसवे तीर्थंकर महावीर स्वामी हैं, जो सर्वज्ञ, अर्हंत है, यावत् सिद्ध-बुद्ध होकर निर्वाण पायेंगे। और गोशाले का मृत्यु हुआ।

अपन सब यह जानते है कि मतस्थापक जितना चूस्त और हठाग्रही होता है, उससे भी ज्यादा चूस्त और हठाग्रही उनके अनुयायी होते हैं। इसलिए कुम्हारन ने घर का द्वार बंद करके बीच में श्रावस्ती नगरी का चित्र बनाया और गोशाले की आज्ञा से पैर में रस्सा बांधकर उसे वहीं फिराया, उसके बाद अग्नि संस्कार किया।

श्राविका रेवती की वक्तव्यता :

तेजोलेश्या से उपद्रवित, भगवान, महावीरस्वामी किसी वक्त श्रावस्ती नगर के कोष्टिक चैत्योद्यान के बाहर के जनपद में विहार कर रहे थे। उस काल उस समय में मेंढिक नामक नगर था। उसके ईशान कोने में शान कोष्ठक नामक चैत्योद्यान था। उसकी आसपास 'मालुकाकच्छ' नामका वृक्ष विशेष का वन था। वृक्षो की विपुलता होने वह वन सघन और काला दिखाई देता था। पत्र-पुष्प आदि से वे वृक्ष हरे वर्ण के थे वहां 'रेवती' नामकी गाथापत्नी रहती थी। जो धनवती और प्रतिष्ठित थी। यावत् अरिहंतो के धर्म की पूर्ण रागिणी थी।

तेजोलेश्या के कारण भगवान के शरीर में पीड़ाकारक, दाहकारक, सर्वांग व्यापक, अपथ्य रोग उत्पन्न हुआ। जिससे भगवान के मल में खून गिरने लगा और दिन-ब-दिन शरीर शिथिल होता चला। वह देखकर लोग इस प्रकार कहने लगे कि, "मंखलीपुत्र गोशाला ने छोड़ी हुई तेजोलेश्या के कारण भगवंत के शरीर पे बुरी असर हुई है। बढ़ चूके पित्तज्वर के कारण ही परमात्मा का मृत्यु होगा क्यों कि तेजालेश्या से उत्पन्न हुई जलन उनके शरीर को जला रही है"।

उस समय भगवान का अंतेवासी 'सिंह' नाम का अणगार जो प्रकृति से भद्रिक यावत् छट्ठ की तपस्या करता था और हाथ ऊँचा रखके आतापना लेता विहरता था। एक दिन ध्यानावस्था में उसे विचार आया

कि, 'मेरे धर्माचार्य श्री महावीरस्वामी का शरीर भयंकर रोग से आक्रान्त है जो बहुत ही खतरनाक है जिससे अन्य तीर्थक यह कहेंगे कि महावीर छद्मावस्था में ही काल कर गये हैं। "इस प्रकार सोचता वह सिंह अणगार अपनी आतापना भूमि से नीचे आया और मालुका वृक्ष वन में जाकर सिसकियों भरता रोने लगा। उसी समय भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि, हे निग्रन्थों! श्रमणों! इस समय मेरे रोगाक्रान्त शरीर के लिए सिंह नामका अंतेवासी अणगार शोकातुर होकर रो रहा है, इसलिए तुम उसके पास जाकर; उस सिंहमुनि को मेरे पास बुला लाओ। आज्ञानुसार श्रमण वहां गये और सिंह को बुलाकर महावीरस्वामी के पास ले आये और भगवंत की तीन प्रदक्षिणा करके वन्दन, नमन किये और सन्मुख बैठे सिंहमुनि को प्रभुने कहा कि, हे सिंहमुनि! मेरे शरीर की दशा देखकर तुझे जो दुःख हुआ है, उसके लिए यह जानना कि मैं छः महिने में मरने वाला नहीं; लेकिन उसके बाद साढ़े पन्द्रह साल तक केवली की तरह जीनेवाला हूँ। उसके लिए सब चिंता छोड़ दे और मेंढिक गांव में रेवती नामकी गाथापत्नी (धनाढ्य की पत्नी) के वहाँ जा। वहां जा कर मेरे लिए बनाये हुए वनस्पति विशेष दो कपोत शरीर आधाकर्मी दोषवाले होने से लेना नहीं। लेकिन वायुनाशक बीजोरापाक लेना जिससे मैं रोगमुक्त हो पाऊंगा। भगवंत की इतनी स्पष्ट बात सुनकर हर्षित हुआ वह सिंहमुनि मुहपत्ति आदि पात्रों की प्रतिलेखना (पडिलेहन) करके रेवती श्राविका के पास गया। अपने यहां पधारे हुए मुनिराज का 'धर्मलाभ' शब्द सुनकर खुशखुशाल रेवती विनयविवेकपूर्वक मुनिराज के समक्ष सात-आठ कदम चली। वन्दना आदि करने के बाद आने का कारण पूछने पर मुनिराज ने महावीरस्वामी आज्ञा फरमायी और केवलज्ञानी के ज्ञान प्रति वफादार रेवती रसोईघर में जाकर बीजारोपक के बर्तन को बाहर ले आई और शुद्ध श्रद्धापूर्वक वह पाक मुनिराज के पात्र में देते हुए रेवती खुश हुई, जिसके कारण देवगति का आयुष्य उपार्जन हुआ। पांच दिव्य प्रकट सिर्फ पांचवे दिव्य में इतना ज्यादा जानना कि 'रेवती ने अरिहंतों को

दान देकर अपना जन्म और जीवन सफल किया है। इस प्रकार की दिव्य वाणी हुई।

गोचरी लेकर सिंहमुनि भगवंत के पास आये और 'इरियावही' सूत्रादिसे आलोचना करके लाया हुआ आहार भगवंत के हाथ में रखा और सर्वथा अमूर्च्छित भाव से परमात्मा ने आहार का उपयोग किया। उसके बाद भगवान रोगरहित होकर बल, उत्थान तथा पुरुषाकार में पूर्ववत हुए। छोटे-बड़े सब जीव बहुत ही प्रसन्न हुए। गौतमस्वामीजी से लेकर सब श्रमण श्रमणी, श्रावक, श्राविकाओं के हृदय मयूर प्रसन्नता से नृत्य करने लगे और जीवमात्र के उपकारी, शरणरहित जीव के शरणदाता भगवान महावीर स्वामी पृथ्वीतल को पवित्र करते हुए अनेक भव्य जीवों के उद्धारक बने।

नोंध : यहां "दुवेकवोयसरीर, मज्जारकडए, कुक्कुडमंसए" इत्यादि शब्दों के प्रयोग से सबको यह भ्रम हो सकता है कि बीमारी के प्रसंग को लेकर भगवान महावीर स्वामी ने मांस का प्रयोग किया होगा लेकिन बहुत से स्थान पर भ्रम केवल भ्रम ही रहता है, जिसमें सत्यता नहीं होती है। अब इन शब्दों के अर्थ में जानना है कि, उपर्युक्त शब्द २५०० वर्ष पूर्व के हैं, आज के नहीं हैं। उस समय में यह शब्द वनस्पति विशेष में उपयुक्त थे।

संसार में सामान्य और विशेष व्यक्ति होती है और उनका व्यवहार भी अलग होता है। जबकि महावीर स्वामी विशेषतम व्यक्तित्व के धारक होने से दया और अहिंसा की जहां सीमा पूर्ण होती है, उस दयाधर्म के तथा अहिंसा धर्म के सिर्फ उपदेशक ही नहीं, पालक भी थे। जिससे रोग विशेष में भी यदि महावीर स्वामी ने माँस का उपयोग किया हो, तो आज भी जैन धर्म के अनुयायीओं में मांस का प्रचार जरूर होता।

इतिहास साक्षी देता है कि मांसाहार करनेवाली क्षत्रिय व ब्राम्हण आदि जातिओं में से दीक्षित-शिक्षित होकर एक नहीं लेकिन अनेक आचार्य

और मुनि भूतपूर्व में हो गये हैं, परंतु उनमें से किसी भी जैनाचार्य ने मांसाहार किया हो, ऐसा उदाहरण संसार का कोई भी आदमी नहीं बता सका। इससे हम जानते हैं कि भगवान महावीर स्वामी संपूर्ण रूप से मतलब कि मन-वचन और काया से पूर्ण अहिंसक थे। जबकि बुद्धदेव ने मांस का उपयोग किया है, इसलिए आज भी उसके अनुयायी मांस का उपयोग करते हैं, जो पूरे संसार को स्पष्ट दिखाई देता है।

सर्वथा अशक्य और असह्य उपसर्गों को सहन करनेवाले भगवान महावीरस्वामी मांस का भोजन करें, यह कोई भी काल में हो नहीं सकता और उसके बावजूद भी प्रसंगानुसार बात करनी हो तो मांसाहार का भोजन सर्वथा गरम ही होता है, उसमें भी कबूतर और मुर्गे का मांस तो सर्वथा गरम है, उष्णता को बढ़ाने वाला है, पित्त को भड़कानेवाला है, और रक्तविकार का शामक नहीं, लेकिन वर्धक है।

तेजोलेश्या के प्रकोप से उष्णता बढ़ गई हो और मल में खून गिरता हो तो किसी भी जमाने में सर्वथा मूर्ख वैद्यराज भी किसी को मांसाहार करने का आग्रह तो ठीक सलाह देने की भी हिम्मत नहीं करता। ऐसी स्थिति में भगवान कबूतर और मुर्गे का मांस गोचरी में लाये और उसे खायें यह किसी भी काल में हो नहीं सकनेवाली हकीकत है।

बेशक ! एक प्रान्त में बोले जानेवाले शब्द का अर्थ दूसरे प्रान्त में भिन्न हो सकता है। जैसे कि "टट्टी-कुचा" आदि शब्द गुजरात आदि प्रान्त में बोल सकते हैं लेकिन कच्छ देश की बाई के समक्ष बोलने की हिम्मत करना ठीक नहीं है। अन्यथा २-४ गालियां खाने के सिवा छुटकारा नहीं है। इसी तरह 'कपोत' कबूतर का वाचक है उस कपोत को भोपला भी कहते हैं। कुकड़ शब्द मुर्गे का वाचक है, वैसे उसका अर्थ बीजोरा भी होता है और यदि मैं भूलता न होऊं तो कूकडी को पंजाबी में मकाई भी कहते हैं।

इसलिए शब्द का प्रयोग चाहे किसी भी तरह किया गया हो; लेकिन प्रकरण और व्यक्ति विशेष को लेकर ही उसका अर्थघटन करना चाहिए।

महावीरस्वामी दया की मूर्ति हैं अहिंसा के पूर्णावतार हैं। कीट-कीड़ मच्छर आदि क्षुद्र जंतुओं के भी रक्षक है। ध्यानावस्था में भी अपने एक भी अंग को चलित करनेवाले नहीं हैं, चलते वक्त भी साढ़े तीन हाथ के अतिरिक्त कहीं भी नजर डालनेवाले नहीं हैं। ऐसे भगवान को पूर्वजन्म के असाता वेदनीय के कारण दाहज्वर हुआ हो तब ठंडे उपाय के सिवा अन्य कोई उपचार काम में नहीं आता। इसलिए कपोत यानि कि भोपला जो आज भी आग्रा, दिल्ली, शिवपुरी जैसे उष्ण प्रान्त में, उनमें से बनाये पेठा खाने का रिवाज है, जो ठंडे होते हैं, उसी तरह बीजोरा भी ठंडा होता है। इस विषय पर भूतकाल में बहुत चर्चा हो चुकी है, इसलिए इतने तक ही सीमित रखकर अब आगे बढ़े।

सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनिओं की गति वक्तव्यता :

गौतमस्वामीजी के पूछने पर भगवंत ने कहा कि, गोशाले की तेजोलेश्या से भस्मीभूत होने पर सर्वानुभूति महाराज का कालधर्म हुआ। सूर्य तथा चंद्र के विमानों का उल्लंघन करके आठवें देवलोक में उत्पन्न हुए हैं। जहाँ अठारह सागरोपम की स्थिति है। वहां से च्यवन पाकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे, दीक्षा लेंगे, और सिद्ध बुद्ध यावत् मोक्ष में जायेंगे।

सुनक्षत्र मुनिराज तेजोलेश्या से दग्ध होकर मेरे पास आये और महाव्रतों का पुनरुच्चारण किया, तथा सबके साथ क्षमायाचना करके अच्युत देवलोक में बाईस सागरोपम की स्थितिवाले देव हुए हैं। वहांसे महाविदेह में जाकर दीक्षित और शिक्षित होकर कर्मों का नाश करके मोक्ष पायेंगे।

गोशाले की गति की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! आप श्रीमान का अंतेवासी, कुशिष्य गोशाला मरके कहां गया होगा ? हे गौतम ! श्रमण घातक, श्रमण संस्था का प्रत्यनीक मेरा कुशिष्य गोशाला बाईस सागरोपम की स्थितिवाला अच्युतदेव हुआ है। वहां से होकर इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में विन्ध्याचल के आसपास की तलेटी में, पुंड्रक देश के शतद्वार नगर में संमूर्ति राजा की भद्रा रानी की कुक्षि में पुत्र के रूप में उत्पन्न होगा। नव माह साढ़े सात दिन पूर्ण होने पर उसका जन्म होगा और पद्म तथा रत्नों की वृद्धि होगी। इसलिए उस कुमार (पिछले भव का गोशाला) का नाम महापद्म' रखा जायेगा। शुभमूहुर्त पर उसका राज्याभिषेक करने के बाद वो हिमवान पर्वत जैसा शूरवीर होगा। पूर्णभद्र तथा मणिभद्र नामके दो देवता उस राजा की सेना का संचालन करेंगे। इस बात की खबर जब जनता को होगी तब सारी जनता मिल के राजा का दूसरा नाम 'देवसेन' रखेंगी, और यही नाम से उसकी प्रसिद्धि होगी। उसके बाद चार दंतशूलवाले शख जैसे उज्वल एक हाथी की प्राप्ति होगी और उस पर बैठकर वह राजा फिरेगा और उससे वह ज्यादा खिल उठेगा। तब जनता मिल के उसका तीसरा नाम 'विमलवाहन' रखेगी और उससे ही वह संबोधित किया जावेगा।

अपने पिछले भव में माया के शैतान नशे में चकचूर होकर, सेवन किया हुआ मिथ्यातत्व मोहनीय कर्म का उदय, विमलवाहन के अवतार में ज्यों ज्यों आता जायेगा, बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों वह राजा जैन मुनिओं का निंदक बनेगा, उनकी मजाक करेगा, उनको धिक्कार देगा, उनके गमन-आगमन में अड़चनें खड़ी करेगा, कई मुनिओं के शरीर तथा अगोपांग का छेदन करेगा, मार डलवायेगा, कई के वस्त्र पात्र-कपड़े आदि को लूट लेगा, चोरी करेगा, उन वस्तुओं को फाड़ देगा, पात्रों को तोड़ देगा और कई मुनियों को नगर बाहर करने का हुकम देगा, देश बाहर

निकालेगा। इन सब बातों को देखकर जनता में रोष उत्पन्न होगा और सब इकट्ठे होकर राजा को मिलेंगे और सविनय विनंती करेंगे कि 'हे राजन्। पवित्र मुनिओं के साथ अभद्र. असभ्य और हिंसक व्यवहार तुम्हें नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे मुनिओं को दुःख देने से अपना मंगल नष्ट हो जाता है, लेकिन मिथ्यात्व का प्रभाव इतना जबरदस्त था कि वह राजा सिर्फ व्यवहार के लिए बोला कि आपकी बात सच है, और अब मैं नहीं करूंगा।

उस वक्त विमलनाथ अर्हत के प्रशिष्य, जातिसंपन्न छट्ठ के पारणे पर छट्ठ करनेवाला, मति-श्रुत और अवधिज्ञान के स्वामी, तेजोलेश्या से प्राप्त हुए 'सुमंगल' नाम के मुनिराज बाह्योद्यान में आतापना लेकर विहरते हैं। उस समय विमलराजा की सवारी वहां से जा रही थी और मुनि पर राजा की नजर गई। रोष से भरे राजा ने रथ के अग्रभाग से मुनि को जोरदार ठोकर लगाकर नीचे गिरा दिया। मुश्किल से खड़े हुए मुनि को दुबारा ठोकर लगाकर गिराया। तब खड़े होकर मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग किया और सत्यार्थ जानकर मुनि ने राजा को बताया कि तुम विमल या देवसेन राजा नहीं, लेकिन पिछले भव में मुनिओं के हत्यारे गोशाला नाम के महावीर स्वामी के शिष्य थे, जिस समय तुमने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति जैसे परम तपस्वी मुनिओं को तेजोलेश्या से दग्ध किया, लेकिन मुनि तुम पर रुष्ट हुए नहीं है। लेकिन मैं तुम्हें, तुम्हारे रथ को, घोड़ों को तथा सारथि को तेजोलेश्या से भस्म किये बिना नहीं रहूंगा। मुनि की बात सुनकर क्रोधित हुए राजा तीसरी बार मुनि को ठोकर मारकर गिरायेंगे, मुश्किल से खड़े होने के बाद वह मुनि अपनी तेजोलेश्या से उन सबको जलाकर खाक करेंगे उसके बाद मुनि स्वस्थ होकर पश्चाताप करके खुद विशेष प्रकार से तपमार्ग पर जाकर, छट्ठ अट्ठम, दस उपवास से आत्मा को भावित कर के अनशन करेंगे और ६० बार का भोजन त्याग कर स्वार्थसिद्ध विमान में जायेंगे, वहां से महाविदेह जाकर परिनिर्वाण पायेंगे।

फिर गोशाला मरके कहां जायेगा ?

गौतम स्वामी के पूछने पर यथार्थवादी, भगवंत ने कहा कि मुनिओं का तथा जैन शासन का द्रोही, घातक वह विमलवाहन राजा (गोशाला) मरके, हे गौतम ! सातवीं नरकभूमि में उत्पन्न होगा, जहां भयंकर वेदना भुगत के मत्स्य के अवतार को पायेगा। वहां भी कसाईयों के हाथ से, शस्त्रघात से मर के पुनः सातवीं नरक में वापिस मत्स्यावतार को पाकर शस्त्रघात से मरकर छट्ठी नरक में जायेगा। वहां से निकलकर स्त्री का अवतार पायेगा। वहां भी दूसरों के डंडे से यावत् असह्य दाहपीड़ा से मरकर पांचवीं नरक भूमि में जायेगा। वहां से सर्प का अवतार पायेगा, जहां दूसरों के डंडे खाकर बिना मौत मरे धूमप्रभा नरक में जायेगा। पुनः सर्प के अवतार को पाकर, वापिस चौथे नरक में जायेगा, वहां से क्रमशः वह सिंहावतार, चौथी नरक, कुर्मावतार (कछुवा), दूसरी नरक, सर्पावतार पहली नरक भूमि में जायेगा। वहां से होकर संज्ञी अवतार पायेगा। जहां शस्त्रवध, दाहपीड़ा से मरकर असंज्ञी जन्म को पायेगा। वहां से प्रथम नरक-भूमि में जायेगा, वहां से वापिस वह लाखों बार पक्षी का जन्म लेगा, प्रत्येक स्थल पर शिकारियों की बंदूक, डंडे का मार, गोफन या तीर से मृत्यु होगा, फिर कछुवा, मत्स्य और ग्राह आदि के जन्म भी लाखों बार करेगा। सर्वत्र बिना मौत दूसरों के हाथ से मृत्यु पायेगा। चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के भिन्न भिन्न अवतार भी लाखों बार करेगा। उसके बाद राजगृही नगरी में वेश्या के यहां अवतार पायेगा। वहां भी लुच्चे, गुंडे आदि के हाथ से मरकर विन्ध्याचल की तलेटी में 'बेभेले' सन्निवेश में ब्राम्हण के यहां कन्या के रूप में अवतार लेगा। युवावस्था में आते ही उस कन्या का अच्छे आदमी के साथ दहेजपूर्वक ब्याह किया जायेगा, जब वह गर्भवती बनेगी तब मैके से आये अपने भाई के साथ अपने मैके जाते वक्त वह स्त्री (गोशाले का जीवात्मा) जंगल में लगे और भड़के हुए दाह से हैरान हो जायेगी, और अग्नि में बेमौत झूर झूर के

मरकर अग्निकुमार में देव पर्याय को पायेगा । वहां से मनुष्यावतर में सम्यगदर्शन पाने के लिए भाग्यशाली बनेगा और दीक्षा लेगा, लेकिन चरित्र मोहनीय की तीव्रता से संयम-विराधना करेगा और असुरकुमार पुनः मनुष्य-दीक्षा संयम-विराधना में मर के दक्षिण दिशा के नागकुमार देवपर्याय को पायेगा । पुनः मनुष्य-दीक्षा संयम-विराधना सुपर्ण देव पर्याय, फिर से मनुष्य, संयम-विराधना, और विद्युत्कुमार देव और मनुष्य अवतार में बहुत लंबा काल पूर्ण करेगा और उसके बाद श्रमणधर्म की विराधना से बचेगा तब सौधर्म देवलोक का पर्याय पायेगा । पुनः मनुष्य अवतार, सम्यक् और श्रमणधर्म की शुद्ध आराधना करके सनत्कुमारत्व पायेगा इस प्रकार आरण देवलोक तक समझना । फिर मनुष्य और सर्वार्थसिद्ध विमान, वहां से होकर महाविदेह क्षेत्र में धनाढ्य दिप्त और किसी से भी कम नहीं ऐसे कुल पुत्र रूप अवतरेगा। वहां पूर्वभवों की अनुभूति होने से श्रमणधर्म स्वीकार के वह उस समय सबके समक्ष यह कहेगा, कि हे आर्यो ! मैं पहले किसी भव में गोशाला नाम से था, जहां श्रमण हत्यारा, मुनिओं का निंदक बना था और छद्मस्थावस्था में झूर-झूर के मरने के बाद बहुत लम्बा संसार मेरे भाग्य में लिखा था । इसलिए हे भाग्यशाली ! तुम किसी भी काल में जैन शासन के आचार्यों के, मुनियों के बैरी, विरोधी, निंदक नहीं बनना और किसी भी मुनि की मस्करी-अवहेलना-तिरस्कार भी नहीं करना और दृढप्रतिज्ञ नामके केवली गोशाले का भव कर्मों का क्षय करके निर्वाण हुए ।

नोंध : अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-पंन्यास मुनि-साध्वी, जैन प्रवचन और संघ आदि जंगम तीर्थ हैं । जब कि शत्रुंजय - सम्मेतशिखर आदि स्थावर तीर्थ हैं । किसी समय में मुख्यरुप से और दूसरे समय में गौणरुप से अथवा अमुक जीव को मुख्यरुप से और अमुक जीव को गौणरुप से ये दोनों तीर्थ आत्मकल्याण करवानेवाले हैं । आश्रवमार्ग का त्याग करवाकर, संवरधर्म को मिला देते हैं । सब कर्मो का संपूर्ण क्षय

करवाकर मोक्ष की प्राप्ति में भी जैनतीर्थ के अलावा दूसरा एक भी साधन नहीं है।

शुद्ध और सम्यक्त्व से वासित :

मन-वचन और काया जैसे आराधना के लिए साधन हैं, वैसे मिथ्यात्व मोह-कषाय और पुरुष वेदादि कारणों से बिगड़े हुए मन-वचनादि विराधना के ही कारण बनते हैं।

गोशाला विद्वान था, तीर्थंकर परमात्मा का शिष्य और कितने ही साल तक अरिहंतदेव के साथ रहा था, लेकिन वीतरागत्वको न समझने-वाला अरिहंतों के महाव्रतों को आत्मसात् नहीं कर सका है, इसलिए महावीरस्वामी के प्रति बाह्य तथा आंतरराग रहित का गोशाला हृदय का कठोर, क्रूर और सूखा ही रहने पाया और ज्यों ज्यों दिन बीतते चले त्यों-त्यों उसके जीवन में कृष्णलेश्या भी मर्यादातीत हुई। परिणामरूप--

(१) अष्टप्रवचन माता के बदले में धमाधम-आडंबर और मिथ्या प्रतिष्ठा का जोर बढ़ता गया।

(२) दयादेवी की आराधना की जगह हिंसकवृत्ति और प्रवृत्ति का तांडव नृत्य जोर पकड़ता गया।

(३) सत्यदेव की जगह झूठ प्रपंच माया, गूढ़ता तथा धृष्टता बढ़ती चली।

(४) ब्रम्हचर्य धर्म के बदले में शब्द-रस-गंध और स्पर्श की परिचारणा का उद्भव हुआ।

इसलिए ही बातों बातों में तीर्थंकरदेव की आशातना वह करता गया, बढ़ाता गया और निर्ध्वंसपरिणामी बना।

फलस्वरूप ज्ञानावरणीयादि सात कर्म के अनंतानंत परमाणुओं का स्वामी बना।

इसलिए ही भावदया के स्वामी, सत्योपदेष्टा वीरविजयजी महाराज पूजा की ढाल में सबको उपदेश देते हुए कहते हैं कि--

तीरथ की आशातना मत करो, मत करो, मत करो,

रहते भूखे और न मिले अन्नपानी।

और आगे कहते हैं कि, इस भव में काया में रोग प्रविष्ट होता है। पर भव परमाधामी के वश होगा वैतारिणी को मिलेगा। अग्नि के कुण्ड में जाकर बिना कोई शरण के जल जायेगा। इसलिए महाराज कहते हैं कि तीरथ की आशातना करने से बुराई ही मिलती है।

सारांश यह है कि गोशाले ने भावतीर्थ स्वरूप-श्री तीर्थंकर देवों की उनके मुनिओं की आशातना की, और लाखों, करोड़ों, अब्जों भव बिगड़ गये। नरक में परमाधामियों के डंडे खाता, वैतरिणी के भयंकर दुःख भुगतता, असहय वेदना भुगतता, पशु पक्षियों के अवतार में या स्त्री के अवतार में दूसरों के हाथ से मरता तथा सिंहादि अवतार में क्रूर बनके, कितने ही जीवों को मारता हुआ दूसरों के हाथ से मर गया है। विकलेन्द्रिय अवतार दूसरों के पैर से, हाथ से, लात से कुचलता कहीं भी शान्ति मिले बगैर प्रत्येक भव में भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी सहन करता, मक्खी, मच्छर में चैन से बैठा नहीं, शांति पायी नहीं, और संसार के सुखों से वंचित रहा है। पिछले भव में यद्यपि दीक्षित हुआ है, इसलिए देवलोक में भी मानसिक सुख शांति और समाधि प्राप्त नहीं कर सका। इस प्रकार गोशाले का जीवन स्पष्ट है। मूलसूत्र में विस्तार से है। मैंने संक्षिप्त में लिया है।

॥ शतक १५ वां उद्देशक १ पूर्ण ॥

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद जैनाचार्य - नवयुग प्रवर्तक उपरियालादि तीर्थोद्धारक-पालीताणा यशोविजयजी जैन गुरुकुलादि अनेक संस्था के स्थापक, जगह जगह पांजरापोल आदि संस्था द्वारा मूक प्राणीओं के जीवन-रक्षक १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म. (काशीवाले) के शिष्य, शासन दीपक मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के शिष्य न्याय. का- के तीर्थ पंन्यास श्री पूर्णानन्दविजयजी म. (कुमारश्रमण) अपने मतिज्ञान के विकास के तथा श्रुतज्ञान के संस्कार के लिए यथामति से भगवतीसूत्र का १५ वां शतक पूर्ण किया है।

"सर्वे जीवा जैनत्वं प्राप्नुयुः"

"संयमाराधका जैनत्वस्य आशातनां त्यजेयुः"

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्

शतक १६ वाँ : उद्देशक-१

उपक्रम :

१४ उद्देशकों के साथ १६ वां शतक राजगृही नगरी में चर्चित किया गया है। जिसमें अधिकरणी, जरा, कर्म, यावतिक, गंगदत्त, स्वप्न, योग, लोक, बलिअवधि, द्वीप और दिशा आदि के प्रकरण हैं।

अधिकरिणी :

अधिकरिणी लोहे की बनी होती है। जिस पर लोहार गर्म लौहा रखकर हथौड़े से प्रहार करता है, उसे अधिकरिणी कहते हैं। प्रश्न का मर्म यह है कि लोहे की अधिकरिणी पर रख के लोहार हथौड़े से प्रहार करता है, उस वक्त अधिकरिणी पर वायुकाय की उत्पत्ति होती है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! उस वक्त हथौड़े के प्रहार से वायुकाय उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के समय पर अचेतन वायु बाद में सचेतन होता है, और हथौड़े आदि शस्त्र से स्पृष्ट होकर मौत प्राप्त करता है, लेकिन स्पृष्ट हुए बिना मरता नहीं है। वायुकाय में से मरता वह वायुकाय शरीर के साथ और शरीर के बिना भी मरता है। जब तक जीव मोक्ष में न आ जाय तब तक तैजस और औदरिक आदि शरीर बिना मरते हैं, इसलिए अशरीर मृत्यु पाता है। सारांश यह है कि दूसरी गति में जाने वाला शरीरी कहलाता है और दूसरी अपेक्षा से अशरीरी है।

अग्निकाय की वक्तव्यता :

गौतम स्वामी के पूछने पर भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! अंगारीका यानि कि सिगड़ी आदि में जो अग्नि होती हैं वह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन अहोरात्र तक रहता है। उसके बाद वह अचेतन होता है। इतना ज्यादा समझना कि किसी भी स्थान पर वायुकाय बिना अग्नि काय अकेला नहीं रह सकता, क्योंकि वायुकाय भक्ष्य है और अग्नि भक्षक है। इस सूत्र से सिद्ध होता है कि कोई भी वायु या अग्नि हो सचित् (सचेतन) होता है इसलिए कहा गया है कि वायुकाय बिना, अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता है।

भट्टी में तपते लोहे को हिलानेवाले को कौन-सी क्रियाएँ लागू होती हैं ? लोहे को योग्य आकार देने के लिए उसे भट्टी में ऊपर निचे हिलाने-

वाले को कायिकी, अधिकरणीकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनीकी, और प्राणातिपातिकी जैसे पांच क्रियाएँ लागू होती हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा की हे, गौतम ! उस वक्त लुहार के पास अग्नी की भट्टी, साणसी, सलिया, धमण, पानीकी कुंडी और लोहशाला (मकान) आदि उपकरण होते हैं। यह सब भिन्न भिन्न जीवों के शेष बचे पुद्गलों के बने होते है जैसे कि भट्टी और पानी की कुंडी पृथ्वीकायिक पुदगलों से बनी होती है। साणसी सलिया, एरन, हथौड़ा आदि पृथ्वीकायान्तर्गत लोहा धातु से बने होते हैं और धमन किसी पंचेन्द्रिय पशु के चमड़े से बनी होती है। इन सब वस्तुओं के निर्माण में पदार्थ मात्र जीवों के पुद्गल होते हैं, और पुद्गल मात्र जीव से मुक्त होते हैं इसलिए गर्म लोहे को, पांच क्रियाएं लागू होती हैं और भट्टी साणसा आदि पुद्गलों को भी पांच क्रियाएं लागू होती है।

नोंध : इस विषय के बारे में प्रथम और दूसरे भाग में चर्चा की गई है, बात एक ही है कि हिंसा और अहिंसा का इतना गहरा तत्वज्ञान जैन शासन के सिवा अन्यंत्र नहीं है। इसलिए तीर्थंकर देव योगियों के महातपस्वीओं के महाज्ञानीओं के महापंडितों के भी नाथ हैं, स्वामी हैं, सेव्य तथा पूज्य हैं और सदैव आराध्य हैं।

पाप और पापस्थानक अनंत होने के बावजूद उनका समावेश तीर्थंकर परमात्मा ने अठारह संख्या में किया है, इसलिए पाप स्थानक १८ हैं। इसमें सबसे बड़ा पाप 'मिथ्यात्व' नाम का है। इस पाप के कारण अज्ञान ग्रंथियों का छेदन न होने से भी किसी प्रसंग से या निमित्त बगैर भी दूसरे सब पापस्थानों का सेवन करने में देर नहीं लगती। निमित्त यदि मिले तो पाप की ओर ध्यान जाय, यह स्वाभाविक है। परंतु निमित्त न हो तो पाप कैसे लग सकता है ? जवाब में जैन शासन कहता है कि अनंत संसार में घूमते और अगणित शरीरों को धारण करने वाले जीवात्मा

ने अनंतानंत पाप किये हैं, उन सबके संस्कार उस पर पड़े हुए हैं। इस तरह अशुभ कर्मों के सब संस्कारों को साथ लेकर फिरनेवाली आत्मा को किसी भी भव में उन संस्कारों की याद आए बिना रहनेवाली नहीं, क्योंकि जो भी कुछ पाप किये हैं वो जानकारी पूर्व निर्ध्वंस परिणाम युक्त मन-वचन काया से किये गये होते हैं। इस कारण जिन जीवात्मा को वैराग्य नहीं हुआ उसके लिए भवभवांतर से खुले हुए पापों के द्वार आज यानि कि इस भव में भी खुले ही हैं। इसलिए जीवात्मा को पापों का सेवन करने में भुगतने में, और इसके लिए प्रयत्न करने में क्या देर लगनेवाली थी ?

प्रश्नों का हार्द इतना ही है कि जब तक जीवात्मा जानबूझकर ज्ञान वैराग्यपूर्वक, पापों को पाप समझ के, उसके द्वार बंद न करें तब तक वह साधक किसी परिस्थिति में पापों के उपार्जन को रोक नहीं सकता। यह प्रश्नोत्तर सिर्फ लुहार संबंधी है, लेकिन उपचार से सुतार, धोबी, माली, घांची, मोची, भंगी, कोली आदि असंख्य जाति के मानवों के लिए भी समझना है। अतः किये हुए, कराये गये हुए तथा अनुमोदित पाप भी आत्मा को भयंकर नुकसानकारक होते हैं।

अपनी आत्मा के साथ विरति का परिणमन नहीं करनेवाले द्रव्यविरतिधर पौषध या प्रतिक्रमण में बैठे हुए होने पर भी कई बार जिसका मालूम न हो, ऐसे पापों की अनुमोदना करते रहते हैं। जैसे कि "बारिस का पानी कितना अच्छा है ? फलां भाई ने ऐसा किया, वो अच्छा हुआ, सोने-चांदी के भाव थोड़े मंदे होते तो मैं भी मंदी का दाव खेलता चलूं।" बेशक ! देशविरतिधर को 'न करेमि न कारवेमि' की मर्यादा होने से अपने अनिवार्य कार्यों की या कारणों की अनुमोदना वह छोड़ नहीं सकता है, फिर भी सर्वथा निरर्थक, हिंसक, आर्तध्यान या रौद्रध्यान को बढ़ानेवाले कार्यों की अनुमोदना किसलिये ? और सामायिकादी व्रतों में क्यों ?

इसलिए कहा गया है कि भावविरति के अभाव में पाप के द्वार खुले ही रहेंगे इसलिए भाग्यशाली साधक गुरुकुल वास, स्वाध्याय तप, ज्ञान ध्यान, ध्यान, जाप आदि सद्नुष्ठानों से भावेन्द्रियों को तथा भावमन को संयमित करने के लिए पुरुषार्थी बनेगा।

जीव अधिकरणी है ? या अधिकरण स्वरुप है ?

पांच क्रियाओं की जो प्ररुपणा की गई है, उसमें से दूसरी अधिकरणी क्रिया तभी बनेगी, जब अधिकरणी और अधिकरण विद्यमान होगा, इसलिए गौतम स्वामी ने पूछा कि हे प्रभो ! जीव क्या अधिकरिणी है ? या अधिकरण स्वरूप है ? जवाब में भगवंत ने 'हां' कहते हुए कारण बताया कि अविरति के कारण जीव अधिकरिणी और अधिकरण स्वरूप है। 'अधिक्रियातेऽनेनेति- अधिकरणम्' जिससे आत्मा दुर्गति की ओर जाये वह अधिकरण है, और उसके दो प्रकार है।

(१) शरीर और इन्द्रिओं को आंतरअधिकरण कहा जाता है।

(२) शस्त्रादि बाह्य अधिकरण है।

भवांतर में भोगे गये और वर्तमान भव में भोग्यकर्म की उपस्थिति से उपार्जित पाप में से विरति रहित मनुष्य का शरीर और इन्द्रियां अधिकरण स्वरूप बनने से उस साधक के बाह्य साधन भी अधिकरण रूप बनते हैं। यद्यपि आधार और आधेय के संबंधवाले घटवान और घट जिस प्रकार विभिन्न हैं उस प्रकार अधिकरणी आधेय है और अधिकरण आधार होने से दोनों में एकरुप्य (समानाधिकरण) बनता नहीं है। इसलिए सूत्रकार ने "अविरई पडुच्च" यानि कि अवरति को आश्रय करके दोनों में एकरुप्य ऐसे बनेगा कि जो अविरति है वो, अधिकरणी स्वरूप है। इससे विपरित जिस भाग्यशाली ने पापों की विरति की है उसका शरीर इन्द्रिय तथा बाह्य साधन भी उपकरण स्वरुप बनते हैं। 'उपक्रियतेऽनेनात्माइति उपकरणम्'

अर्थात शरीरादि धर्म के साधन बनते हैं। इस प्रकार नरक से वैमानिक तक के जीवों के लिए भी यही समझना।

जीव साधीकरणी है ? या नहीं है ?

प्रश्न का आशय इस प्रकार है। यद्यपि जो पदार्थ अभी तक शरीर के साथ संबंधीत नहीं हुए हैं फिर भी मनुष्य जिस प्रकार धनवान गोमान, स्त्रीवान्, पुत्रवान आदि कहलाता है, इसमें धन, गाय, स्त्री या पुत्र अभी दूर है फिर भी जीव तद्वान् कहलाता है। इस प्रकार जीव क्या साधीकरणी है ? या अधिकरणीरहित है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! जीव सदैव साधीकरण है क्योंकि नियत सहचर्यवाला शरीर और इंद्रियां जब तक है, तब तक जीव अधिकरण स्वरुप ही है। यद्यपि शस्त्रादि और धन पुत्र पुत्री रुप अधिकरणों का साहचार्य नियत नहीं है, फिर भी उसके प्रति माया होने से अविरति के कारण स्वस्वामी संबंध तो अवश्य है ! आज स्त्री, पुत्र या परिवादि नहीं है फिर भी उन पदार्थों को प्राप्त करने के भाव को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए तो आज मोटर नहीं है तो भी उसे प्राप्त करने की भावना है, शेठ बना नहीं है फिर भी शेठ बनने के लिए रात-दिन एक कर रहा है, दरियापार के देशों के दूध-दहीं, वस्त्रादि प्राप्त नहीं होते हैं फिर भी प्रयत्न किये जाते हैं। अभी गाड़ी मकान और बीवी नहीं है फिर भी ऐसी माया जरुर है। मरीन ड्राईव पर बंगला बनाने के लिए तनतोड़ परिश्रम किया जा रहा है और इन सब प्रयत्नों के लिए आखिरकार ज्योतिषी, ज्योतिषी न मिले तो महूड़ी, नाकोड़ा या नरोड़ा जाकर भी पैसेवाले, पुत्रवाले या बंगलेवाले होने का भाव रोम-रोम में है। इत्यादी प्रसंगों में अविरति के परिणाम होनेसे जीवात्मा साधिकरणरहित नहीं है।

जीव क्या आत्माधिकरणादि है ?

गौतमस्वामीने पूछा कि हे प्रभो ! यह जीव क्या आत्माधिकरणी है ? पराधिकरणी है ? या तदुभयाधिकरणी है ?

जीवात्मा अपने आप मन-वचन-काया से पाप कर्म करे तो उसे आत्माधिकरणी कहा जाता है। दूसरे को प्रेरणा देकर उसके पास कर्म करावे वह पराधिकरणी है और दोनों मिलके पाप करे तब तदुभयाधिकरणी है। ऐसा भगवान ने अपने जवाब में कहा ! भगवान ने बताया कि जीव तीनों प्रकार से अधिकरणी है।

जिसके पास व्यापार नहीं है, कृषी नहीं है, पुत्र नहीं, स्त्री नहीं है, पैसा नहीं है ऐसा युवान, बालक या वृद्ध आदमी आत्माधिकरणी कैसे बनेगा ? जवाब में कहा गया है कि निमित्तों की विद्यमानता में ही पापाचरण किया जाता है, ऐसा नहीं है लेकिन मानसिक मौखिक या कायिक जीवन में भी उन निमित्तों को प्राप्त करने की ममता भी आत्माधिकरणी बन जाती है। यह समझना है कि संसार किसी के लिए भी मारक नहीं है लेकिन अज्ञानी मानव उसकी माया को पनपता है और ज्यादा वजनदार बनके खुद डूब जाता है ! बेचारी स्त्री को नरकमार्ग का ख्याल भी नहीं है तो वह किसी को भी नरक में कैसे ले जा सकेगी ? लेकिन उसके साथ भोगलालसा की संज्ञा करनेवाला जीव खुद दुर्ध्यान करता है, और नरक का अतिथि बनता है। खाने-पीने की चीजे किसी को डूबोती नहीं है, लेकिन आहारसंज्ञा का मालिक खुद ही आसक्तिवश होकर डूबता है। इत्यादि कारणों को लेकर जीवमात्र आत्माधिकरणी बन जाता है।

"मुखमस्ति वक्तव्यम्" इस उक्ति के गुलाम बने भाग्यशालीओं को आप जान सकते हैं ? यह लोग कभी भी 'चढ़ जा बेटा सूली पे खुदा

तेरा भला करे' इस प्रकार पाप पुण्य का भेद जाने बिना अपनी जिह्वा का बिना विचारे उपयोग करते रहते हैं, जैसे कि 'क्यों आप कुछ करते नहीं है ? यह सब जमीन खरीद क्यों नहीं लेते ? इस खाली जमीन पर बंगला क्यों नहीं बनवा लेते ? आप फैक्टरी खरीदनेवाले थे उसका क्या हुआ ? आपकी जन्मपत्रिका में शनि अच्छा है तो फिर लोहे का व्यापार क्यों नहीं करते ? इत्यादि प्रकार के वचन का प्रयोग करके दूसरों को आरंभ के मार्ग चढ़ाके पराधिकरणी बनते हैं, और दोनों मिल के कुछ करे तब उभयाधिकरणी ! नारक से लेकर वैमानिक तक के जीव अविरति के कारण तीन प्रकार के होते हैं।

अधिकरण क्या आत्मप्रयोगादि है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'आत्मप्रयोगाधिकरणी, परप्रयोगाधिकरणी और उभयप्रयोगाधिकरणी सब जीव तीन प्रकार से अधिकरणी होते हैं।

शरीर, इन्द्रिय और योग की वक्तव्यता :

भगवंत ने कहा कि चार गतिरुप संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव को निम्नलिखित पांच प्रकार के शरीर होते हैं।

(१) औदारिक शरीर-वायुकाय को छोड़कर स्थावर, विकलेन्द्रिय, संमूच्छिर्म तथा गर्भज मनुष्य और तिर्यंच को होता है

(२) वैक्रिय शरीर-वायुकायिक जीव, देव तथा नारकों कोभवप्रत्ययिक तथा मनुष्य तथा तिर्यंच को लब्धि प्रत्ययिक होता है।

(३) आहारक शरीर-शंका निवाराणार्थ प्रमत गुण स्थानक में रहनेवाले चतुर्दश पूर्वधारी को होता है।

(४) तैजश शरीर-खाया हुआ पचाने के लिए जीव मात्र को होता है

(५) कार्मण शरीर- कर्मों का समूहरूप होने से जीवमात्र को होता है। शेषवर्णन प्रथम भाग में चर्चित हो गया है। पांच इन्द्रीयों का विस्तृतवर्णन भी प्रथम भाग में दिया गया है।

मनोयोग-वचनयोग और काययोग तीन प्रकार के योग हैं।

औदारिक शरीर का निर्माण करती आत्मा अविरति की अपेक्षा से अधिकरणी और अधिकरणी स्वरूप होती है।

स्थावर विकलेन्द्रि और मनुष्य भी दोनों प्रकार के समझना। आहारक शरीरी प्रमाद के कारण दोनों प्रकार से हैं।

नोंध-चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता भी प्रमादी होने के कारण छठे गुणस्थानक के मालिक ही होते हैं। इसलिए चतुर्दशपूर्वी को भी नरक निगोद में पड़ते हुए कोई बचा नहीं सकता। सत्यार्थ यह है कि मोक्ष में जाने के लिए सिर्फ सम्यग्दर्शन, या सम्यग्ज्ञान, या चारित्र काम नहीं आता है। परंतु तीनों की संयुक्त साधना ही मोक्षमार्ग है। छठागुणस्थानक या चौद पूर्व तक का ज्ञान प्राप्त हो सकता है लेकिन चारित्रशुद्धि के अभाव में अकेला ज्ञान कब तक साथ दे सकता है ? श्रुतज्ञान की चरमसीमा प्राप्त की गई हो फिर भी चारित्र की शुद्धि यदि न हुई हो तो बाह्य जीवन तारक बना होने पर भी आंतरजीवन की चंचलता नहीं मिटेगी। जो मतिज्ञान को कमजोर करके मतिज्ञानावरणीय कर्म की उदीर्णा करनेवाला बनेगा। जिसमें से प्रमाद का जोर प्रतिसमय पर बढ़ने से सत्ता में छुपे चोर की तरह छुपे चारित्रमोहनीयकर्म अपने मूल स्वभाव में आकर जीवात्मा को मोहान्ध बना के अधःपतन के मार्ग पर ले जायेगा।

शरीर की तरह पांच इन्द्रीयों का मालिक अधिकरणी और अधिकरण स्वरूप होने से अधिकरणकी क्रियावंत होगा।

तीनों योग के लिए भी जानना केवल वचन योग में स्थावर जीव नहीं है।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक प्रथम पूर्ण ॥

शतक १६ वां : उद्देशक–२

जरा और शोक की वक्तव्यता :

राजगृही नगरी में स्थापित समवसरण में बिराजमान भगवान महावीरस्वामी को वंदन नमन करने के लिए श्रेणिक राजा, चेलणा रानी और अभयकुमार आदि आये हैं। तीन प्रदक्षिणा देकर अपने योग्य स्थान पर बैठी पर्षदा को भगवंत ने संसार के दुःख सुनाये और वे सब अपने अपने घर गये उसके बाद गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो! जीवों को क्या जरा और शोक होता है? भगवंत ने कहा कि, हां, होता है।

(१) जिस कारण से जीव, शरीर संबंधी दुःखावस्था को भुगतते हैं अथवा वयोहानि (वृद्धावस्था) को भुगतते हैं उसे जरा कही जाती है।

(२) और मन संबंधी यानि कि मानसिक जीवन में जो दुःखादि भोगे जाते हैं उसे शोक कहते हैं।

जो मन बिना के जीव हैं वे केवल जरा दुःख को ही भुगतते हैं और मन के मालिकों को जरा तथा शोक दोनों होते हैं। मन और शरीर का संबंध जीव को नियत होने से जो शोकग्रस्त हैं उनको जरा दुःख भी होता है। नारकों को और स्तनित देवों को भी दोनों दुःख होते हैं। पृथ्वीकाय से चतुरीन्द्रिय तक के जीव केवल शरीरवाले होने से उनको जरा होती है, लेकिन, मन के अभाव में शोक नहीं होता है। शेष जीवों को दोनों होते हैं। केवल वयोहानिरुप जरा देवों को नहीं है, किन्तु शरीरसंबंधी दूसरे दुःख होनेसे उनको जरा भी है।

नोंध : जब तक जीव संसारी है तब तक वह दुःखों से बचता नहीं है। उनमें भी जन्म मरण के दुःखों की तरह जरा और शोक के दुःख भी असह्य होते हैं। "जाइजरामरणसोगपणासणस्स, को धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं।"

अर्थात् जन्म-जरा-मरण-शोक-संताप आदि दुःखों का नाश करने में पूर्णतया से समर्थ जैनधर्म को पाकर कौन प्रमाद करेगा ? सारांश यह है कि जैनधर्म की आराधना करनेवालों के दुःखों का नाश होता है।

इन्द्र की विशेष वक्तव्यता :

उस वक्त हाथ में वज्र धारण करनेवाले देवराज शकेन्द्र अपने देवलोक में संपूर्ण रिद्धि-समृद्धि सहित विचरते थे। एक दिन विपुल अवधिज्ञान से जंबूद्वीप का अवलोकन करते देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी को विहरते देखकर खुश होने के बावजूद देवराज शक्रेन्द्र हरिणगमैषी देव को बुलाके उसके पाससे सुघोषा नामक घंट बजाते हैं तथा पालक नामक विमान में बैठकर भगवंत को वंदन करने आये।

धर्मोपदेश हुआ, उसके बाद इन्द्र ने भगवंत को पूछा हे प्रभो ! अवग्रह कितने प्रकार के हैं ?

अवग्रहों की वक्तव्यता :

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे शक्रेन्द्र ! मेरे शासन में पांच प्रकार के अवग्रह हैं। वे इस प्रकार हैं

(१) देवेन्द्रावग्रह–दक्षिण और उत्तर लोकार्ध में इन्द्रावग्रह है।

(२) राजावग्रह– छः खंड पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा का अवग्रह है।

(३) गाथापति अवग्रह–मांडलिक राजा का अवग्रह है।

(४) सागरिकावग्रह–जिस मकान में साधुमहाराज रहे वह शय्यातर यानि सागरिकावग्रह।

(५) साधार्मिक अवग्रह- समान धर्मवाले साधु महाराज का अवग्रह।

उपरोक्त वक्तव्यता सुनकर इन्द्र ने कहा कि, हे प्रभो ! विहार करने वाले साधु-साध्वीओं को मैं अवग्रह की आज्ञा देता हूँ। ऐसा कहकर प्रभु को वंदन नमन करके इन्द्रदेव अपने पालक विमान में बैठकर अपने स्थान पर चले गये।

देवेन्द्र की भाषा की वक्तव्यता :

उस वक्त गौतमस्वामी ने भगवंत को पूछा कि, हे प्रभो ! देवराज शक्रेन्द्र ने आप को जो कहा वह क्या सच है ? भगवान ने कहा, हां।

हे प्रभो ! इन्द्र महाराज क्या स्वरूप से सम्यक्वादी हैं ? यानि कि वस्तु की यथार्थता के बारे में बोलना सत्यवादी है और उससे विपरीत मिथ्यावादी है। जवाब में भगवंत ने कहा कि शक्रेन्द्र सत्यवादी होता है लेकिन मिथ्यावादी नहीं है । फिर से गौतमस्वामी के पूछने पर

प्रभु ने कहा कि, शक्रेन्द्र सत्या, असत्या, सत्यामृषा और असत्यमृषा इस प्रकार चार भाषा बोलते हैं।

सावद्य भाषा और निर्वद्य भाषा के बारे में कहा गया है कि जब इन्द्रदेव अपने मुख के सामने उतरासन या रूमाल रखके बोलते हैं उसे निर्वद्य भाषा कही जाती है और मुख के सामने कुछ भी न रखकर बोले तो उसे सावद्य भाषा कही जाती है। वे इन्द्र भवसिद्धिक और सनत्कुमार की तरह चरम भववाले हैं।

कर्म, चेतः कृत है या अचेतः कृत है ?

हे प्रभो ! जीव जो कर्म करता है, वो अपनी चेतना से करता है या अचेतना से करता है ? यानि की जीव के कर्म जीवोपार्जित हैं ? या अजीवोपार्जित हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! जीव जो कर्म करता है, वो अपनी चेतना से करता है। गौतम ने पुनः पूछा कि, आप ऐसा कैसे कह सकते हैं कि जीव ही कर्मों का उपार्जक है, अजीव नहीं है ? भगवंत ने कहा कि जीव अपने आहार के लिए जिन पुद्गलों का संचय करते हैं तथा व्यक्त अवयव रूप से उपचित किये हुए पुद्गल उन उन आहारादि रूप से परिणमित होते हैं और आहार के रूप में ग्रहण किये हुए पुद्गल जीव को ज्ञान में परिणमित होते हैं, इसलिए कहा गया है कि कर्म आत्मा से ही किये गये हैं। जो कर्म उदयकाल में अशाता रूप से होते हैं यानि कि जीवात्मा को अशाता आदि उत्पन्न करनेवाले कर्म से जो पुद्गल ग्रहण होते हैं और फिर से अशाता पैदा करते हैं।

दुःस्थान अर्थात् जिस स्थान में ज्यादा सर्दी हो, गर्मी की मौसम में बहुत गर्मी हो, मच्छर आदि की वृद्धि होती हो और जमीन पर ही शय्या हो, ऐसे स्थानों में दुःखदायी पुद्गल प्राप्त होते हैं, और वे पुद्गल

असाताजनक कर्मों के परिणाम होते हैं। सारांश यह है कि यदि जीवात्मा ने पूर्व जन्म में असाताजनक कर्म न किये हों तो उसे इस जनम में दुःख-दायी गंदे स्थान प्राप्त नहीं होते हैं।

यदि जीवात्मा ने ये कर्म न किये हो, और दुःस्थान आदि की प्राप्ति होने पर 'अकृतागम' यानि कि न किये गये कर्मों को भोगने की प्राप्ति होने पर संसार की व्यवस्था में हानि होने का संभव होता है, लेकिन ऐसा कभी होता नहीं है और होगा भी नहीं। इसलिये कर्म चेतना जीव अर्थात् अपने आत्मा से ही किये जाते हैं।

यदि जीवात्मा ने असाताजनक कर्म न बांधे हो तो उसे ज्वर क्यों आये? सरदर्द क्यों हो? इसलिए कहा गया है कि, कर्म जीव की चेतना से ही होते हैं।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक–३

ज्ञानावरणीय के वेदन के समय कितनी प्रकृतियां होता है ?

राजगृही नगरी में धर्मोपदेश के बाद गौतमस्वामी ने पूछा कि, हे प्रभो आप श्रीमान ने कर्म की कितनी प्रकृतियां कहीं है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि, जीव के जितने अध्यवसाय होते हैं, कर्म भी उतने ही होते हैं। परंतु उन सब का समावेश आठ संख्याओं में हो जाने से मेरे शासन में कर्म आठ जाति के हैं।

गौतम ने पुनः पूछा कि, जीवात्माओं की कर्म प्रकृति कितनी है ? परमात्मा में कहा कि, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतरायरूप कर्म की आठ प्रकृतियां नारकों से लेकर वैमनिक जीवों में होती हैं।

हे प्रभो ! जिस वक्त जीव को ज्ञानावरणीय कर्म का वेदन हो रहा हो तब जीव को कितनी कर्म प्रकृतियां होती हैं ? सूत्रकार ने खुद प्रज्ञापना सूत्र के सत्ताइसवें उद्देशक से यह प्रकरण जान लेने को कहा है। वो इस प्रकार हैं। जीव को जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय मालूम होता है तब उस वक्त आठों कर्म का उदय भी जान लेना, परंतु मोहक्षयी या मोहोपशमी आत्मा मोहकर्म को छोड़ के सात प्रकृति का वेदन कर रहे हैं क्योंकि मोह के उपशम में मोह का उदय नहीं होता है। इस प्रकार क्षय के समय में तीन घाती कर्म हैं, इसलिए सात प्रकृतियां उपरोक्त रीति के अनुसार समझना।

जब घाती कर्म का नाश होता है तभी चार प्रकृति उदय में रहती है। इसलिए कहा गया है कि जीव जब ज्ञानावरणीय का वेदन करता है, तब सात, आठ, छः या एक कर्म प्रकृति का बंधन करता है। और आयुष्य बंध तो जीवन में एक बार होता है। इसलिए बंध के दूसरे समय में सात कर्मों का बंधन कहा गया है।

सूक्ष्म संपराय नामक गुणस्थानक में आयुष्य और मोह के सिवा छः कर्मों का बंधन होता है। और ११, १२, १३; वें गुणस्थानक में केवल सातावेदनीय ही बंधता है। इसलिए ज्ञान और भक्तिरस में मस्त हुए वीरविजयजी महाराज ने गीत गाते हुए कहा है कि--"शाता बांधे केवली रे, मिता तेरहवें भी गुणठ्ठाणे रे",

रंगीला मिता ए प्रभु सेवो शान में रे। फिर संसार के जीवमात्र को अपना मित्र समझते हुए कहा है कि----

वेदनीयवश तुमे कों पडो रे मिता जेहने प्रभु शुं वेर; साहिब वेरी न विसरो रे मिता, तो होय साहिब महेर रे।

.....रंगीला मिता०

ऊपर दिये हुए कर्म प्रकृति के बंध आदि से संशयशील बने गौतम-स्वामी को पता चला और कविवर ने गाया कि—

गोयम संशय टालियो रे मिता भगवई मां शुभवीर रे०

.....रंगीला मीत०

मुनि का ओपरेशन करनेवालेवैद्य को क्रियाएँ लगती है ?

श्रमण भगवान महावीरस्वामी किसी वक्त राजगृही नगरी के चैत्योद्यान से विहार करके बाहर के जनपद में विहर रहे थे। उसी वक्त

'उल्लुकतीर' नगर के बाहर के हिस्से में उत्तर और पूर्व दिशा के कोने में 'जम्बूक' नामका एक चैत्य था। वहां एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीरस्वामी पधारे। समवसरण की रचना हुई, जनता आई और भगवान ने हिंसा और अहिंसा क्या है? उसका उपदेश दिया और प्रसन्नचित सब लोग अपने स्थान पर गये।

उसके बाद गौतमस्वामी ने भगवान को वंदन नमन करके पूछा कि, हे प्रभो! कोई भाविरमा अणगार छट्ठ के पारणे पर छट्ठ करता है, यावत् उसको आतापना लेते समय दिन के पहले हिस्से में कार्योत्सर्ग में होने के कारण हाथ-पैर पींडी वगैरह अंग, उपांगों को सिकुड़ना और फैलाना अकल्प्य है। परंतु आधे दिन के बाद यानि कि 'अवड्ढ' होने पर मुनि अपने हाथ-पैर आदि हिलाते हैं, उस समय कोई वैद्यराज उन्हे देखता है कि, इस मुनि के नाक से तो 'मसा' बाहर आया है। उसके बाद वह वैद्य मुनिराज को सुलाकर उसका मसा काट लेता है, अर्थात ओपरेशन करता, है, तो हे प्रभो! छेद क्रिया करनेवाले उस वैद्य को कौनसी क्रिया लग सकती है?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि, कोई भी क्रिया धर्मबुद्धि से निस्वार्थभाव से की जाय तो वैद्य को कोई भी क्रिया लगती नहीं है। सिर्फ जिस मुनि के मसे कट रहे हैं उस मुनि को 'धर्मान्तराय' क्रिया लगती है।

नोंध : हिंसा और अहिंसा के विचार में इतना समझना है कि किसी भी क्रिया में प्रमाद, मोह, स्वार्थ या अन्य जीव को कोई भी तकलीफ देने की वृत्ति हो तो वह हिंसा है। उससे विपरीत हिंसा जैसी दिखाई देनेवाली क्रिया भी अहिंसा है। मुनि रोगग्रस्त है, वैद्य रोग को जानते हैं, पवित्र और सेवाभावी हैं, और निःस्वार्थ हैं। इसलिए वैद्यक क्रिया में उन्हे हिंसा का दोष नहीं लगता है। और रोगी को भी धर्मान्तराय के

सिवा कोई क्रिया नहीं लगती है। लोच जैसी सख्त में सख्त क्रिया पर भी दोनों महानुभाव यानि लोच करनेवाला और करानेवाला अहिंसक है।

॥ शतक १६ वां उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक-४

क्या नारक की निर्जरा से मुनिराज की निर्जरा ज्यादा है ?

राजगृही नगरी में इस प्रश्न की चर्चा हुई है। जो जानने लायक और जीवन में उतारने के योग्य है। गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! गौचरी के उपयोग बिना थोड़ा दुःख सहनेवाले मुनि जो नित्यभोजी हैं, वह अपने श्रमण धर्म में स्थिर रहकर जितनी मात्रा में कर्म की निर्जरा करते हैं, उतनी निर्जरा नरकगति में भयंकर दुःखों को भुगतनेवाला नारक एक साल में या सौ साल में कर सकता है ?

एक उपवास करनेवाले मुनि की जितनी निर्जरा हो, उतनी मात्रा में नारक सौ साल में या हजार साल में कर सकता है ?

दो उपवास करनेवाले मुनि की निर्जरा के प्रमाण में नारक हजारों या लाखों साल में कर सकता है ? अट्ठम (तीन उपवास) करनेवाले मुनि की निर्जरा जितनी नारक लाखों या करोड़ साल तक के प्रमाण में कर सकता है ?

इन सब प्रश्नों के उत्तर चराचर जीवों की संज्ञा के ज्ञाता, भगवान, महावीरस्वामी ने नकारात्मक दिये हैं। यानि कि मुनिराज चाहे नित्यभोजी हो या तपस्वी हो फिर भी उनकी संयम की साधना-आराधना में जितने कर्म निर्जरित होते हैं, हे गौतम ! उतने प्रमाण की निर्जरा नारक जीव कोई भी हालात में कर नहीं सकता। सारांश यह है कि थोड़ा सा शरीरकष्ट भुगत के पाप के द्वार सर्वथा बंध करनेवाले, समिति गुप्ति के धारक, सत्रह प्रकार के संयम पालक आत्मध्यान में मस्त रहनेवाले मुनिराज जितनी मात्रा में निर्जरा करने के लिए समर्थ हैं, उतनी निर्जरा बहुत-सा कष्ट भुगत के भी जिनके पापों के द्वार सर्वथा खुले हैं, हलन-चलन, खाने-पीने, उठने-बैठने की क्रिया आदि है वे सर्वथा हिंसक हैं ऐसे अविरति के मालिक नारक करोड़ों या कोटाकोटी साल में कर्मों की निर्जरा करने में असमर्थ हैं।

दृष्टांत में कहा गया है कि सर्वथा अशक्त, इन्द्रियों से शिथिल, जर्जरीत शरीरवाला, वृद्ध आदमी, कम धारवाले कुल्हाड़े से जिस तरह मजबूत गांठवाली लकड़ी को लम्बे समय में भी काट नहीं पाता है, उसी तरह नारक जीवों के कर्म भी अत्यंत गाढ़ होने से भयंकर में भी भयंकर वेदना भुगतने के बाद भी शीघ्रता से निर्जरित नहीं होते हैं। इसलिए गौतम मैंने ऐसा कहा है कि निग्रंथ श्रमण बहुत निर्जरावाले होते हैं उनकी तुलना में नारक बहुत थोड़ी निर्जरावाले होते हैं।

नोंध :- कर्मों की निर्जरा का मुख्य कारण, नये बंधनेवाले कर्मों के द्वार समिति गुप्ती धर्म से बंध करना, छः काय के जीवों का मन-वचन

और काया से रक्षण करना, अपनी काया की माया का भी त्याग करना, और पुराने कर्मों को खतम करने के लिए निर्व्याज, सात्विक तपश्चर्या करना, जिससे कर्मों की निर्जरा शीघ्रता से होती है, जैन मुनिओं को सुलभ है, क्योंकि हरी भरी गृहस्थाश्रमी का ज्ञान और वैराग्यपूर्वक त्याग करना, दीक्षा के समय अपनी भोगी हुई गृहस्थाश्रमी को सर्वथा भूलकर पंचमहाव्रतधारी गुरूओं का सेवक बनना, गुरू की आज्ञा को ही परमात्मा की आज्ञा समझकर कुछ सोचे बिना तप-जप· ध्यान और सम्यग्ज्ञान की की ओर आगे बढ़ना, जैनत्व की आराधना में कहीं भी स्खलित नहीं होना, इत्यादि सत्कर्मों का, सद्नुष्ठानों का जैन मुनि आज भी पालन कर रहे हैं। और ऐसा करके अपनी जात को शुद्धतम बनाते हैं। इसलिए कर्मों की निर्जरा निर्ग्रंथ श्रमण के अलावा दूसरा कोई ज्यादा नहीं कर सकता है।

गृहस्थाश्रम के वेश में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले भाग्यशालीओं को भी भावसंयम की प्राप्ती होने के बाद ही केवलज्ञान होता है।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

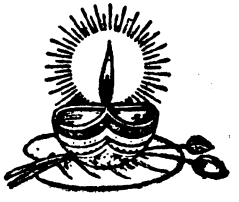

शतक १६ वाँ : उद्देशक–५

आज इन्द्र महाराज जल्दी क्यों गये ?

उस काल में उस वक्त 'उल्लुक तीर' नामक नगर में भगवान महावीरस्वामी पधारे, उस समय वज्रपाणी शक्रेन्द्र भी आया और भगवान को वंदन नमन करके बहुत नम्रता से पूछा कि हे प्रभो ! महार्द्धिक और महासौख्यदेव बाहर के पुद्गलों को स्वीकारे बिना कहीं भी आने जाने में समर्थ बन सकते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे शक्रेन्द्र ! जाने-आने में बोलने में आंख खोलने में, संकुचित और विस्तृत होने आदि क्रियाओं में बाहर के पुद्गलों को स्वीकार के ही वे कुछ भी करते हैं।

(इन क्रियाओं में स्थानान्तर, विकुर्वणा या विषय भोग भी समझना)

भगवंत को सुनकर इन्द्र महाराज बहुत जल्दबाजी में वन्दन नमन करके अपने विमान में बैठकर देवलोक गये । उससे आश्चर्यचकित बने गौतमस्वामी भगवान के पास आकर वन्दन नमन करके बोले, हे प्रभो ! जब जब इन्द्र आपके पास आते हैं, तब आप को स्वस्थतापूर्वक सुनते हैं लेकिन आज जल्दबाजी में आये और तुरंत ही चले गये उसका क्या कारण है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि उस वक्त महाशुक्र देवलोक में दो देवों का उत्पाद हुआ, उसमें से एक देव माया मिथ्यादृष्टि संपन्न और दूसरा अमायी सम्यक्त्वसंपन्न था। एक बार मिथ्यात्वी देव ने दूसरे यानि कि सम्यक्त्वी देव को इस प्रकार कहा :—

परिणाम पानेवाले पुद्गल क्या परिणत कहलाते हैं ?

परिणाम पानेवाले पुद्गल परिणत नहीं है। लेकिन अपरिणत हैं, अभी उनमें परिणाम पाने की क्रिया चालू है, इसलिये उनको परिणत कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पुद्गल परिणमित होते हैं, इस कथन से वर्तमानकाल का बोध होता है, वर्तमानकाल का ध्वंस हो जाने के बाद भूतकाल बनता होने से इन दोनों में विरोधाभास है। इसलिये परिणाम पानेवाले पुद्गल अपरिणित है।

मिथ्यात्वीदेव की यह बात सुनकर जवाब में सम्यग्दृष्टि देव ने कहा कि जो पुद्गल परिणाम (फेरफार) बतानेवाली क्रियावाले हैं वो परिणत ही कहलाते हैं, अपरिणत नहीं कहलाते हैं। जिसमें परिणाम हो रहा हो, वहां परिणतत्व का भी सद्भाव होता है। कुम्हार की भट्टी में घड़े पकने के लिए पड़े हैं, यद्यपि यह क्रिया लम्बी है, फिर भी परिणत क्रिया चालू हो गई होनेसे सबका भाषाव्यवहार "घड़े पक रहे हैं" ऐसा होता है। प्रथम समय में पाकक्रिया न हो तो दूसरे समय में किस तरह होगी ? प्रथम समय में परिणत की क्रिया चालु है तो अंतिम समय भी चालु है। इसलिए प्रथम समय का परिणमन भूतकाल में हो गया है, दूसरे समय में वो चालू है। इस दलील से मिथ्यादृष्टिदेव को पराजित करके सम्यगदृष्टिदेव ने अवधिज्ञान का उपयोग किया। उससे उसको विचार आया कि केवलज्ञान के मालिक भगवान महावीरस्वामी उल्लुकतीर नामक गांव के जम्बूक चैत्य में बिराजमान हैं। मैं उधर जाऊं और सत्यार्थ जानू। ऐसा सोचकर यह देव भी तीन परिषदा, सात अनीक, सात सेनापति, सोलह हजार आत्मरक्षक देव देवीयां साथ लेकर परमात्मा को वंदन करने के लिये प्रस्थान किया। यह बात इन्द्र से सहन नहीं होने से जल्दबाजी में चले गये।

गंगदत्त देव का आना और शंकारहित होना :

उसके बाद सम्यग्दृष्टिसंपन्न गंगदत्त नामक देव समवसरण में आये और नमन वंदन करके मिथ्यादृष्टिदेव के साथ हुई चर्चा और खुद ने दिये जवाब भगवान को बताये और पूछा कि हे प्रभो ! मैंने मिथ्या दृष्टिदेव को जो बताया वह सच है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गंगदत्त देव ! मैं भी इस प्रकार कहता हूं कि परिणाम पानेवाले पुद्गल परिणत है लेकिन अपरिणत नहीं है। प्रसन्न हुए उस देव को प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और सूर्याभ देव की तरह उस देव ने पूछा कि हे प्रभो ! क्या मैं भवसिद्धिक हूँ ? सम्यग्दृष्टि हूं ? परितसंसारी हूं ? सुलभबोधी हूं ? आराधक हूं ? चरम हूं ? इन सब प्रश्नों के जवाब सूर्याभदेव को दिये हुए जवाबों की तरह समझना।

उसके बाद गौतमस्वामी ने भगवान को पूछा कि हे प्रभो ! गंगदत्त देव की वह देवऋद्धि या कान्ति देखते देखते कहां गई ? भगवंत ने कहा कि जिस प्रकार कुटाकर शाला में बाहर के आदमी प्रवेशते हैं और उसमें समा जाते हैं उस प्रकार गंगदत्त देव को ऋद्धि उसके शरीर में प्रवेश गई है।

गंगदत्त का पूर्वभव :

गौतम के पूछने पर भगवान ने कहा कि इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नगर है। सहस्राम्र वन और उद्यान है। वहां गंगदत्त नामक गाथापति रहता था और वह आढ्य और अपराभवनीय था। रसोई में सबने भोजन लिया और उसके बाद जो भोजन बचा था, वह भोजन दीन दुःखियों को देना था, उस वक्त मुनिसुव्रत नामक अरिहंत भगवान विहार करते वहां पधारे और गंगदत्त भी स्नान करके आभूषण धारण करके सहपरिवार अरिहंत भगवान के पास आया। भगवंत ने देशना दी।

धर्मोपदेश सुनकर गंगदत्त ने कहा कि मुझे निर्ग्रंथ प्रवचन अच्छा लगता हैं, में उस पर विश्वास रखता हूं। इसलिए मैं मेरा व्यवहार अपने पुत्र को सौंपकर आपके पास से मुनिपद लेने को तैयार हूं ऐसा कहकर तथा करके, उसने बड़े ठाठ से दीक्षा ली। ग्यारह अंगों का अभ्यासी हुआ, एक माह की संलेखना की और सब कर्मों की आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि करके कालधर्म को प्राप्त हुआ और महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुआ तथा पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ। (भाषा तथा मन पर्याप्ति को एक करके पांच पर्याप्तियां कही गई है, अन्यथा संख्या छः की है) इस देव की सत्रह सागरोपम की स्थिति कही है। बाद में महाविदेह क्षेत्र जन्मकर सिद्ध बुद्ध होकर निर्वाणपद को पायेगा। इस प्रकार गंगदत्त का जीवन सुनकर गौतम-स्वामी आदि खुश हुए।

॥ शतक १६ वां उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक–६

स्वप्न क्या है ? उसक प्रकार कितने ?

गौतमस्वामी ने पूछा कि हे, प्रभो ! स्वप्न दर्शन के कितने प्रकार हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि स्वप्नदर्शन के पांच प्रकार हैं

(१) यथातथ्य (२) प्रतान (३) चिंता स्वप्न (४) तद् विपरीत और (५) अव्यक्त स्वप्न दर्शन।

निद्रावस्था में भूतकाल में भोगे गये अनंत पदार्थों या भविष्य में भोगे जानेवाले पदार्थों के बारे निद्रा में अनुभव करना उसे स्वप्न कहते हैं। अथवा स्वप्नदर्शन कहते हैं। स्वप्न स्वाभाविक हैं और जीव के उदय में आये या उदय में आनेवाले पुण्य और पाप के अधीन है। स्वप्न के बारे में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन पर तत्काल श्रद्धा नहीं रखीं जा सकती है। यह विषय काल्पनिक भी नहीं है। स्वप्नशास्त्र के बारे में ढेर सारी किताबें हैं और आदमी उसे पढ़ता भी है, लेकिन स्वप्न के बारे में महावीर स्वामी क्या कहते हैं यह जानना जरूरी है। चलो, हम पांच स्वप्नों का विस्तृत वर्णन करें।

(१) यथातथ्य स्वप्नदर्शन :

जो पदार्थ जिस प्रकार का होना चाहिये और ऐसा ही हो, उसे यथातत्व कहते हैं। यह स्वप्न यथार्थ वस्तु को प्राप्त करा देता है इसके दो भेद हैं। (१) दृष्टार्थाविसंवादी (२) फलाविसंवादी। स्वप्न में जो वस्तु देखी गई हो उस वस्तु का जागने पर भी अनुभव हो उसे दृष्टार्थाविसंवादी स्वप्न कहते हैं और यदि स्वप्न में सुशोभित हाथी आदि देखा गया हो और उसके बहुत अर्से बाद यदि बड़ा दरजा प्राप्त हो उसे फलाविसंवादी स्वप्न कहते हैं।

(२) प्रतान स्वप्नदर्शन :

जो स्वप्न लम्बे तक चलता है, उसे प्रतान स्वप्नदर्शन कहते हैं। यह स्वप्न यथातत्व स्वप्न से ज्यादा समय तक चलता है। इसका फल सच भी हो सकता है और झूठ भी हो सकता है।

(३) चिन्ता स्वप्नदर्शन :

जागृत अवस्था में जो सुना हो, देखा हो, या स्पश किया हो वही स्वप्न में दिखाई दे, उसे चिंता स्वप्नदर्शन कहते हैं।

(४) तद्विपरीत स्वप्नदर्शन :

स्वप्न में जो देखा गया हो उससे विपरीत फल प्राप्त हो उसे तद्विपरीत स्वप्न कहते हैं। किसी ने स्वप्न में अपना शरीर विष्ठायुक्त देखा हो लेकिन जागने पर उसे सुगंधी पदार्थ की प्राप्ती हो, और स्वप्न में बहुत हास्य किया हो और जागने पर रोना पड़े।

(५) अव्यक्त स्वप्नदर्शन :

यानि कि स्वप्न का अनुभव अस्पष्ट होता है, अथवा जागने पर स्वप्न के बारे में विस्मृत्ति हो जाती है।

स्वप्न किसे आते हैं ?

हे प्रभो ! क्या यह स्वप्न सोये हुए को आते हैं ? जागृत को आते हैं ? या सोये और जागे हुए को आते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! सोये हुए गाढ़निद्रावाले को तथा जागृत आदमी को स्वप्न नहीं आते है, लेकिन थोड़ी निद्रा हो और जागृति हो तभी स्वप्न आते हैं।

सारांश यह है कि प्राणीमात्र को स्वप्न आते हैं। क्योंकि स्वप्न का आधार मन और इंन्द्रियां होने से जिनका धारक जीव ही होता है, अजीव नहीं। इसलिए जीव को ही स्वप्न आते हैं जो जीव है, और कर्माधीन है और कर्मो को भूत, भविष्य तथा वर्तमान से संबंध होता है। इसलिए

भूतकाल में भोगे गये पदार्थों का विकल्प जीव सोचता रहता है और भविष्य में में जो सुख-दुःख भुगतने पड़ेंगे उसके बारे में भी स्वप्न, जीव को सूचित करते रहते हैं।

अष्टांग निमित्त है, जिसके जरिए आदमी को अपने भविष्य का सूचन होने से सावधान हो जाता है और सावधान आदमी ही स्वस्थ बनता है। तभी शरीर के साथ का आर्तध्यान (अंतरात्म) के बीच में नहीं आता है और आर्तध्यान से बचना ही धर्म संज्ञा का आदि (मौलिक) कारण है। ज्ञान का पाचन है, और अरिहंत की भक्ति का सूचन करनेवाला है।

कर्माधीन जीव को दर्शनावरणीय कर्म भी सत्ता में पड़ा होने से निद्रा आनी स्वाभाविक है। उस वक्त इन्द्रियां निन्द्राधीन होती हैं, और मन आराम करता है। यानि की विचारशक्ति समाप्त हो जाती है, और जीव सुषुप्तावस्था का मालिक हो जाता है जहां इन्द्रियां अपने कार्य की ओर कार्यान्वित है तब अजागृतिवस्था होती है। भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि ऊपर की दोनों क्रियाओं में स्वप्न नहीं आते हैं, लेकिन ऐसी अवस्था में स्वप्न आते हैं, जहां मन विकल्प करने में समर्थ होता है, और इन्द्रियां कर्मों से विराम पा लेती है। तभी आदमी भी जागा होता और सोया भी होता है और उस वक्त ही स्वप्न दर्शन होता है।

द्रव्य और भावनिद्रा :

दर्शनावरणीय कर्म के जोरदार हमले से जो थोड़ी बहुत निद्रा आती है उसे द्रव्यनिद्रा कहते हैं और अविरति के जाल में फंसकर जीव जो चेष्टा करते हैं उसे भाव निद्रा कहते हैं। क्योंकि विरतिधर और अविरतिधर रूप के जीव दो प्रकार के होने से २४ दंडकों के जीव भावनिद्रा की अपेक्षा से सुषुप्त होते हैं और जागृत भी होते हैं। सर्व विरति के अभाव वाले जीव प्रायः सुप्त जैसे ही होते हैं और सर्वविरति संपन्न भाग्यशाली

सदैव जागृत होते हैं। तथा थोड़ी विरतिवाले और अविरतिवाले जीव विरति की अपेक्षा से जागृत और अविरति की अपेक्षा सुषुप्त होते हैं। नारक जीव विरति के अभाववाले होने से सुषुप्त होते हैं क्योंकि नरक में सर्व और देश विरति का अभाव है और चतुरीन्द्रिय जीव तक के जीव सुषुप्त है।

पचेन्द्रिय तिर्यंच विरति के अभाव में सुषुप्त है और क्वचित विरति के सद्भाव में जागृत भी हैं। मनुष्य की तरह तिर्यंच भी देश विरति के आराधक माने जाते हैं।

वाणव्यंतर से लेकर वैमानिक देव सुषुप्त हैं।

संवृतादि जीव क्या स्वप्न देखते हैं?

गौतमस्वामी ने पूछा कि, संवृत्त अर्थात् संवर प्रधान जीव क्या स्वप्न देखते हैं? असंवृत जीव तथा संवृतासंवृत जीव क्या स्वप्न देखते हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, यह तीनों प्रकार के जीव स्वप्न देखते हैं? विशेषता इतनी है कि संवर धर्म प्रधान जीव जो स्वप्न देखते हैं वो ज्यादा सत्यफल वाले होते हैं।

जैसे कि महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में खड़े रहकर दस स्वप्न देखे थे वे स्वप्न सत्यार्थ बतानेवाले थे।

जबकि पिछले दो जीवों के स्वप्न सत्य भी हो सकते हैं। गौतम-स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने ४२ प्रकार के स्वप्न कहे हैं, उनमें से ३० महाफल देनेवाले हैं और सब मिलाकर ६२ स्वप्न हैं।

तीर्थंकर का जीवात्मा जब माता की कुक्षि में आता है। तब उनकी माता चतुर्दश स्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात स्वप्न और बलदेव की माता चार स्वप्न देखती है तथा मांडलिक की माता एक स्वप्न देखती है। छद्मवस्था में भगवंत ने निम्नलिखित स्वप्न देखे थे।

(१) ताड़ के पेड़ जैसे महाभयंकर पिशाच को हराया। उसके कारण भगवंत ने भी मोहकर्म का सदंतर नाश किया।

(२) सफेद पंखवाले बड़े शरीर के पुंस्कोकिल को देखा, उसके कारण भगवंत को शुक्लध्यान की प्राप्ती हुई है।

(३) चित्रविचित्र पंखवाले पुंस्कोकिल को देखने से भगवंत ने भी स्व-समय और परसमय के प्रतिपादन रूप से गणिपिटक का सामान्य तथा विशेष रूप से कथन किया था। गणिपिटक मतलब द्वादशांगी।

(४) बहुत रत्नों की दो मालाएं देखने पर श्रावक और साधुधर्म की प्रतिपादना की है।

(५) गायों के समूह को देखने से चार वर्ण के संघ की स्थापना की है।

(६) कमल से भरे पद्मसरोवर को देखने पर देवों के चार प्रकार कहे हैं।

(७) तरंगों से पूर्ण विशाल समुद्र को भुजबल से पार किया, उससे भयंकर संसार वन को पार कर सके।

(८) तेज से दीप्यमान सूर्य को देखकर केवलज्ञान को पा सके।

(९) मानुषोत्तर पर्वत को अपने आंतों से (पेट के आंतड़ों से) वेष्टित किया जिससे देव-देवेन्द्र तथा नरेन्द्रों के प्रशंसनीय बनने पाये।

(१०) मेरु पर्वत की शिखा पर अपने को बैठे हुए देखा, फलस्वरूप देवरचित समवसरण में बिराजमान हुए।

विशिष्टतम स्वप्नों का फल :

(१) पुरुष वेषधारी पुरुष, या स्त्री वेषधारी स्त्री हो, वह यदि स्वप्न में घोड़ा हाथी या वृषभ के समूह को देखे, उस पर सवारी करे

और उस पर सवारी करते देखे तो उसी भव में ही उस भाग्यशाली को सिद्धबुद्ध यावत् निर्वाणपद मिलता है।

(२) पुरुष या स्त्री, पूर्व से पश्चिम तक लम्बी रस्सी को समुद्र से स्पर्श करती हुई देखकर जागृत हो जाय तो सभी दुःखों का अन्त करनेवाला होता है।

(३) पुरुष या स्त्री लोक के दोनों भागों को स्पर्शनेवाली रस्सी, को देखे अथवा तो उस रस्सी को मैं काटता/ती हूं, या काट डाली है, तो भी दुःखों का अंतक यह स्वान बनेगा।

(४) पुरुष या स्त्री स्वप्न में काली या सफेद रस्सी को देखे अथवा उलझी हुई रस्सी को ठीक कर रहा हो, तो संसार का अंत करनेवाला है।

(५) तांबे के, सीसे के या लोहे के ढ़ेर को देखे या उस पर चले तो दूसरे भव में मुक्त होता है।

(६) विशाल घांस के ढ़ेर को देखे, अथवा उसे मैं बिखेर डालता हूं या बिखेर लिया है, इस तरह का स्वप्न देखकर यदि वह निद्रा न ले तो उसी भव में ही वो मुक्त होता है।

(७)स्वप्न में सरस्तंभ को, बांस के मूलियों को या लता के मूलियों को मैं उखेड़ता हूं, यह देखकर जागृत हो जाय तो भी मुक्त बनेगा।

(८) स्वप्न में स्त्री या पुरुष खीर, दही घी या मध के भरे घड़े को देखे या अपने सिर तथा खंभे पर उठाये तो चरमभव जानना।

(९) स्वप्न में शराब, कांजी, चरबी या तेल के घड़े को देखे या उसे फोड़ दे तो दो भव में मोक्ष मिलेगा

(१०) स्वप्न में कमलों से या पुष्पों से पूर्ण पद्म सरोवर को देखे, या उसमें 'मैं प्रवेश करता हूं, अथवा प्रवेश किया है' तो भी मुक्त बनेगा।

(११) रत्नों, के भवन को देखे या प्रवेश करे तो भी मुक्त बनेगा।

(१२) तरंगों से युक्त समुद्र को देखे या उसमें तैर करे, भवसागर से पार होगा।

(१३) रत्नों से देदीप्यमान विमान को देखे या उस पर चढ़े, अथवा चढ़ा हुआ देखे तो भी उसे मुक्तात्मा जानना।

उपर्युक्त स्वप्नों में एक हाथी या घोड़ा नहीं लेकिन उनकी हार अर्थात् बहुत हाथी या घोडे देखे और फिरसे सोने जाय तो भी मुक्त बनता है।

नोंध :- कोई भी स्त्री या पुरुष को अपनी इच्छा से देवों की आराधना बल से अथवा रात को कितनी भी कल्पना करने मात्र से स्वप्न नहीं आये हैं, आते भी नहीं हैं और किसे आयेंगे भी नहीं। यह तो सिर्फ आपके भावी भाव के सूचक हैं, इसलिए आप के भाग्य की बैंक में पुण्यकर्म या पापकर्म का खजाना भरा होगा, मैत्रीभाव या शत्रुभाव किये होंगे हिंसक या अहिंसक वृत्ति के स्वामी बने होंगे उसी अनुसार ही आपको स्वप्न आयेगे। इसलिए मैं भी "त्रिशलारानी की तरह १४ स्वप्न देखूँ" ऐसी ठगारी कल्पनाओं में रहे बगैर मैं भी त्रिशला रानी जैसी शियलवंत, सत्यवंत, अहिंसावंत और दया-दानपूर्ण जीवन बनाऊं यह अत्यंत सरल और स्वच्छ मार्ग है।

अरिहंतों के शासन के प्रति श्रद्धा हो तो इतना तो हम जानते हैं कि तीर्थंकर यावत् पुण्यशाली जीव, दुराचारी, झूठे, क्लेश कंकास करनेवाले या पाप भावनावालों की खानदानी में जन्म नहीं लेते हैं, इसलिए संसार में सुखी और समाधिपूर्वक जीवन जीने का श्रेष्ठमार्ग यह है कि स्वप्नों के, ज्योतिषीओं के, मंत्रवादीओं या फिर तंत्रवादीओं के भरोसे हनुमान, वस्तुपाल, तेजपाल, महावीरस्वामी चंदनबाला आदि जैसे संतान रत्नों की आशा रखना। उससे बेहतर अपने गृहस्थाश्रमी जीवन में मर्यादापूर्वक का ब्रम्हचर्यव्रत, परस्त्री गमन का सर्वथा त्याग,

खानपान की शुद्धि, रहनसहन की पवित्रता के साथ सत्यभाषण, सत्यव्यवहार रखना, इससे अतिरिक्त जैन शासन की आराधना और क्या हो सकती है ?

घ्राणेन्द्रिय क्या गुणो का ग्राहक है ?

केतकी आदि पदार्थों में सुगंध रहती है, और वह गंध, द्रव्य नहीं लेकिन गुण है। जो द्रव्य के सिवा किसी भी काल में स्वतंत्र रह नहीं सकते और गति-अवगति कर नहीं पाते।

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो! उन कोष्ठपुर में, केतकी में, तमालपत्र में, दालचीनी (तज) में या नगर के काष्ठ में जो पवन बहता है, उसके द्वारा उनमें रहे सुगंधी द्रव्य को घ्राणेन्द्रिय ग्रहण कर सकती है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! उन काष्ठ के पुद्गल के साथ वह गंध गुण रहा होने से काष्ठ के पुद्गल के साथ वह गंधगुण मिश्रित हो जाता है, इसलिए जब वह घ्राणेन्द्रिय से मिलता है, तब इसका ग्रहण होता है ! अकेली गंध गतिरहित होने से घ्राणेन्द्रि की ग्राहक नहीं है।

बगीचे से आनेवाली सुगंध के साथ पुष्पादि के रजकण होते हैं, वैसे कचरे से या सडांस में से आनेवाली दुर्गंध के साथ गंदे कचरे के या विष्टा के परमाणु अवश्यमेव मिश्रित हुए होते हैं।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक–७

उपयोग संबंधी विशेष वक्तव्यता :

हे प्रभो ! उपयोग के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवंत ने दो भेद कहकर प्रज्ञापना सूत्र में रहे हुए उपयोगपद को संपूर्ण देख लेने की सिफारिश की है, तथा पश्यता पद को भी वहां से ही जान लेने को कहा है।

उपयोग, यह जीव का लक्षण विशेष रूप से और किसी समय सामान्य रूप से होता है। इसके लिए (१) साकारोपयोग (२) अनाकारोपयोग-यह उपयोग के ही भेद हैं।

साकारोपयोग के भी आठ भेद हैं :

(१) अभिनिबोधिक (मतिज्ञान) साकारोपयोग
(२) श्रुतज्ञान साकारोपयोग
(३) अवधिज्ञान ,,
(४) मनः पर्यव ,,
(५) केवलज्ञान साकारोपयोग
(६) मतिअज्ञान ,,
(७) श्रुत अज्ञान ,,
(८) विभंग ज्ञान ,,

निराकारोपयोग के चार भेद हैं।

(१) चक्षुदर्शन निराकारोपयोग
(२) अचक्षुदर्शन ,,
(३) अवधिदर्शन निराकारोपयोग
(४) केवलदर्शन ,,

पश्यता भी साकार और निराकार रूप से दो भेदवाली है। इनमें से साकारपश्यता को मतिज्ञान तथा मतिअज्ञान को छोड़कर शेष छः भेद से जानना।

उपयोग और पश्यता में तफावत :

जवाब में कहा गया है कि तीनों काल के साथ वर्तमानकाल के बोध को पश्यता, और त्रिकालिक के साथ वर्तमानकाल के बोध की उपयोग कहा जाता है। इस तरह सामान्य तथा विशेष बोध को लेकर दोनों में फर्क पड़ता हैं। इसलिए साकार पश्यता में मतिज्ञान और अमतिज्ञान कहे नहीं गये, क्योंकि ये दोनों ज्ञान उत्पन्न तथा अविनिष्ट के अर्थ को ग्रहण करते हैं, जब कि पश्यता में ऐसा नहीं होता है। अनाकार पश्यता में 'अचक्षु दर्शन' को न लेने का कारण बताते हुए कहा है कि, अच्छी तरह से देखा जाय उसे पश्यता कही है।' इसलिए 'दृश्' धातु से पश्यता बनी होने से चक्षुदर्शन में ही पश्यता स्पष्ट देखी जाती है, शेष इन्द्रियों में नहीं।

विशेष ज्ञातव्यतत्त्व प्रज्ञापना सूत्र से जानना और उपयोग विषयक हकीकत मेरे लिखे हुए "जैन शासन में उपयोग की प्रधानता" निबंध से जानना।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १६ वां : उद्देशक–८

लोक के चरमभाग में क्या जीवादी हैं ?

हे प्रभो ! क्या लोक विशाल है ?

भगवंत ने कहा है कि, हे गौतम ! लोक बहुत ही विशाल है। बारहवें शतक में कहा गया है तदनुसार असंख्येय योजन कोड़ाकोड़ी परिक्षेप की अपेक्षा से जानना।

हे प्रभो ! पूर्व दिशा की ओर लोक के चरम प्रदेश में क्या जीव हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! लोक का चरमभाग एक प्रदेशात्मक होने से, असंख्य प्रदेशों में अवगाहन करनेवाला जीव वहां नहीं होता, लेकिन जीव के प्रदेश की अवगाहना वहां होती है। पुद्गल स्कंध तथा धर्मास्तिकायादि के देश प्रदेशों का भी सद्भाव है। अर्थात चरम भाग में जीव के देश-विदेश हैं तथा अजीव भी हैं। कारण में कहा गया है कि, एक प्रदेश में जीव के देश-प्रदेश तथा पुद्गल स्कंध भी रहते हैं।

चरम भाग में जीव के प्रदेश हैं, क्योंकि वहां जीव के देश की ही सद्भावना है अथवा एकेन्द्रिय जीव के अलग प्रदेश और दो इन्द्रिय जीव के देश नहीं होते हैं, परंतु कोई दो इन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय में जन्म लेने वाला हो तभी मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा से यह कथन है। दसवें शतक की आग्नेयी दिशा के लिए जो कहा गया है वो यहां भी समझना। जैसे कि एकेन्द्रिय के बहुत देश, दो इन्द्रिय का एक देश अथवा त्रिइन्द्रि का का एक देश आदि समझना। विदिशा में देश और प्रदेश से, धर्मास्तिकाय और आकाशस्तिकाय के छः भाग और काल समय का एक भाग मिला के

सात संख्या में अरूपी अजीव हैं, जबकि चरमभाग में काल समय न होने से छः अरूपी भाग जानना।

विशेषता यही है कि चरमभाग के प्रथम भाग में अतीन्द्रिय का प्रदेश नहीं होता है, क्योंकि केवली समुद्घात के समय पर प्रदेशों की वृद्धि और हानि रूप विषमता होने से चरमभाग में बहुत देशों का संभव है लेकिन एक देश होता नहीं।

ऊपर की तरह दक्षिण, उत्तर और पश्चिम दिशा तथा उर्ध्व और अधोदिशा के लिए भी पूर्व की तरह ही समझना।

परमाणुओं की शक्ति विशेषता :

हे प्रभो, पूर्व दिशा के चरमांत से पश्चिम दिशा के चरमात तक पश्चिम दिशा के चरमांत से पूर्व दिशा के चरमांत तक, उत्तर से दक्षिण तक, दक्षिण से उत्तर तक, उर्ध्वदिशा से अधोदिशा तक और अधोदिशा से उर्ध्व दिशा तक पुद्गल परमाणु एक समय में गमन करने के लिए समर्थ है ?

जवाब में भगवंत ने कहा है कि हे गौतम ! एक समय में पूर्व दिशा के चरम भाग में रहनेवाला परमाणु पश्चिम दिशा के चरम भाग तक जा सकता है। इस प्रकार दूसरी सब दिशाओं के लिए भी जानना।

बरसती हुई बारिस का निर्णय करनेवाले को क्रियाएँ लगती हैं :

हे प्रभो आकाश से बरसती बारिश गिरती है कि नहीं ? उसका निर्णय करने के लिए खिड़की के बाहर हाथ निकालें, पैर निकाले तो क्या अंग निकालनेवाले को क्रियाएं लगती है ? यदि लगती भी हैं तो कितनी लगती हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! बरसती या न बरसती हुई बारिस का निर्णय करनेवाले को कायिकी, अधिकरणी, प्राद्वेषिकी पारितापनिकी क्रियाएं लगती हैं।

नोंध :- मानव मात्र के लिए सामान्य प्रसंग का यह प्रश्न होने पर भी इसकी महत्ता ज्यादा है, क्योंकि अनादिकाल से इस जीवात्मा को मोह-माया-कुतूहल मश्करी-झूठी शर्तें लगाना, दूसरों को आकस्मिक रंजिश करने के लिए या ज्योतिष, हाथचालाकी या बाचालता द्वारा दूसरों में कुतूहल करना आदि–अपने आध्यात्मिक जीवन के साथ बैर रखने वाली यह सब क्रियाएं खून की हर एक बूंद में ओत-प्रोत हुई हैं। उसको दबाने के लिए महान साधक भी मात हुए हैं, अथवा आंतर जीवन में दबी हुई यह आदतें जब कुतूहल करती हैं तब मानव की 'ज्ञान संज्ञा' किस समय छूमंतर हो जाती है उसकी खबर अच्छी तरह के कर्मग्रंथों की प्रकृति गिननेवालों को भी नहीं होती।

बरसती हुई बारिस का निर्णय करने के लिए खिड़की में से हाथ बाहर निकालने की क्रिया सामान्य होने पर भी साधक को आश्रव का मार्ग बंध करवाने के इरादे से ही भावदया के मालिक श्री गौतमस्वामीजी ने भगवंत को पूछा और दयाधर्म की चरमसीमा को प्राप्त किये। भगवंत ने किसी की भी शरम में आये बिना कहा कि, तहन सामान्य क्रिया के मालिक को पांच क्रियाएं लगती हैं।

जीव मात्र को पाप तथा आश्रवमार्ग से बचाने के लिए जैनधर्म की आराधना द्वारा संवरधर्म के पालन के सिवा और कोई मार्ग नहीं है। इस कारण से आज भी जैन मुनि को, चाहे कितनी भी कड़ी भूख क्यों न लगी हो वे बरसती बारिस में बाहर निकलते नहीं हैं और गमनागम नहीं करते। क्वचित अनजाने में भूल हो जाय और वापिस आते वक्त बारिस गिरे तो प्रतिक्रमण में कच्चे पानी की छींट लगी हो....." इत्यादि

सूत्र द्वारा गुरू समक्ष पापों का एकरार करके फिर से ऐसा न होने पावे, इसलिए अपना जीवन सावधान बनाते हैं।

आलोक में क्या देव हाथ पैर-हिला सकते हैं

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो! बड़ी ऋद्धि वाला कोई देव देवलोक के अंत भाग में खड़ा रहकर क्या अपने हाथ, पैर को हिला सकता है?

जवाब में भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि, हे गौतम! ऐसा नहीं होता, मतलब कि शक्तिसंपन्न देव भी प्राकृतिक कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि शक्ति को जैसे मर्यादा है, वैसे चराचर संसार भी अपने नियत हुए कायदे का उल्लंघन नहीं कर सकता। लोकाकाश को कायदे हैं वैसे अलोकाकाश को भी कायदे हैं। कारण बताते हुए भगवंत ने कहा कि, लोक और अलोक परस्पर विरोधाभास जैसे पदार्थ होने से लोकाकाश में ही जीव और पुद्गल हैं। दोनों की गति-आगति धर्मास्तिकाय के आधीन है। जब कि स्थिरवास अधर्मास्तिकाय के आधीन है, लेकिन अलोकाकाश में जीव-पुद्गल धर्म या अधर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए जीव की जो गति धर्मास्तिकाय के आधीन है, वह अलोक में न होने से वहां किसीकी भी गति नहीं है।

संसार की ऐसी स्थिति को अब तक तीर्थंकरें भी नहीं उल्लंघ सके हैं, तो फिर देव-देवेन्द्रो में ऐसी स्थिति कहां से आ सकती है?

भगवंत ने कहा कि जीव पुद्गल आहारोपचित होते हैं, अन्यकृत अवयव शरीर रूप से उपचित, कलेवर रूप से उपचित तथा अच्छ्वास रुप से भी उपचित होता है। यानि की पुद्गल जीवानुगामी स्वभाववाले होने से जिन क्षेत्र में जीव होते हैं वहां ही पुद्गल की भी गति होती है तथा पुद्गलों को प्राप्त करके जीवों की तथा अजीवों की गतिरूप

पर्याय बनता है, इसलिए जहां पुद्गल नहीं होते वहां गति भी होती नहीं है। इसलिए अलोक में जीव तथा पुद्गल नहीं है, इसलिए समर्थवान देव भी अलोक में अपना बाल नहीं हिला सकता तो हाथ-पैर की बात ही क्या ?

दूसरी बात यह है कि धर्मास्तिकाय की सहाय बिना किसी की भी गति होती नहीं है और अलोक में इसका सर्वथा अभाव है, इसलिए ही वह अलोक कहलाता है। इसलिए सिद्धात्माओं को भी लोकान्त में रही सिद्धशिला में स्थिर होना पड़ता है, यानि कि अनंतवीर्य के मालिक सिद्ध भी धर्मास्तिकाय के अभाव से अलोक में जा नहीं सकते।

सिद्ध हुए जैनों के केवली आकाश में अब भी भ्रमण कर रहे हैं। जैन शासन के प्रति ज्ञानरहित ईर्ष्यायुक्त यह भाषा उपर्युक्त सिद्धात से मौन धारण करती है, मतलब कि जैनशासन के द्वेषीओं की उक्ति खंडित होती है।

॥ शतक १६ वाँ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक–९

वैरोचन बली इन्द्र की सुधर्मा सभा कहां है ?

यह प्रश्नोत्तर प्रथम तथा द्वितीय भाग में चर्चित हो गया है। इसलिए यहां विराम लेते हैं।

॥ शतक १६ वाँ उद्देशक ९ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक १०

अवधिज्ञान की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! अवधिज्ञान के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! अवधिज्ञान के दो भेद हैं, जिन्हे प्रज्ञापनासूत्र से जान लेने की सिफारिश की है। भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक (लब्धिप्रत्ययिक) रूप में अवधिज्ञान के दो भेद हैं ! देव और नरकगति के जीव पहले प्रकार में हैं और पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य दूसरे भेद में हैं क्योंकि अवधिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से वह अवधिज्ञान होता है।

भगवंत की वाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए और कहा कि संपूर्ण दोषरहित तीर्थंकरों के वचन सत्य हैं, सर्वथा सत्य हैं।

॥ शतक १६ वाँ उद्देशक १० पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक ११

द्वीपकुमार की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! क्या द्वीपकुमार देव समान आयुष्य, आहार और उच्छवास तथा निःश्वासवाले होते हैं ? जवाब में सूत्रकार ने प्रथम शतक के दूसरे उद्देशक को देखने की सलाह दी है। मतलब कि वे समान आयुष्य और आहारादिवाले नहीं हैं।

द्वीपकुमारों को कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या रूप से चार लेश्याएं होती है, तेजोलेश्यावाले द्वीपकुमार कम है, उससे कापोत लेश्या वाले विशेष-अधिक है। नीललेश्यावाले उनसे ज्यादा और उससे भी ज्यादा कृष्णलेश्यावाले हैं।

कृष्णलेश्या के द्वीपकुमारों से क्रमशः उनके आगे की लेश्यावाले द्वीपकुमार ज्यादा समृद्धवंत है।

॥ शतक १६ वा उद्देशक ११ पूर्ण ॥

शतक १६ वाँ : उद्देशक १२, १३, १४

इस तरह उदधिकुमार, दिक्कुमार और स्तनितकुमार देवों का वर्णन भी उपर की तरह जानना।

॥ शतक १६ उद्देशक १२, १३, १४ पूर्ण ॥

❀ समाप्ति वचन ❀

पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों के पंडितों के बीच सांकल जैसे, पशु-पक्षी आदि के हिंसक कार्यों को कई स्थल पर बंध करानेवाले, गोरी सल्तनत के गोरे गवर्नरों से लेकर भारत देश के राजा-महाराजा आदि में अहिंसक भावना जगानेवाले, अहिंसा, ब्रम्हचर्यदिग्दर्शन आदि अमूल्य साहित्य के जरिये हजारों मानवों को अहिंसा और संयम का संदेशा देने वाले, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य, शासनदीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज के शिष्य, व्या. न्या. का. तीर्थ पन्यासपद विभूषित, गणिवर्य श्री पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण) म. ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए, श्रुतज्ञान की वृद्धि के लिए भगवतीसूत्र का १६ वां शतक पूर्ण किया है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्
अहिंसा तत्वं प्राप्नुयु सर्वे जीवाः।

॥ शतक १६ वाँ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक १

प्रारभ्यते :

१७ संख्यक उद्देशकों से पूर्ण प्रस्तुत १७ वे शतक के प्रारंभ में शासनपति, भगवंत महावीरस्वामी को, गौतम गणधर को, सुधर्मास्वामी को, तथा उपशमित मोहकर्म के मालिकों को, द्रव्य तथा भाववंदना करके इस शतक का विवेचन करने का प्रारंभ करता हूँ। जिसमें कुंजर, संजय, शैलेशी, क्रिया, ईशान, पृथ्वी, पानी, वायु और, अेकेन्द्रिय, नागकुमार सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार और अग्निकुमारों का वर्णन है।

राजगृही नगरी में यह उद्देशक चर्चा गया है। जिस भूमि पर शासन पति भगवान महावीर स्वामी के १२ चातुर्मास (वर्षावास) पूर्ण हुए हैं। अनेकानेक भाग्यशालीओं ने संवरधर्म-समिति गुप्ति-धर्मपूर्वक के संयम-मार्ग स्वीकार किया है। जब कि कई भाग्यशाली, देशविरति धर्म को स्वीकार के पावन हुए हैं, मोक्षदायिनी सत्ता के सूत्रों में बंधे जैनधर्म के स्थापक भगवान महावीरस्वामी थे। जैन संघ के सिंचक गणधर सुधर्मा स्वामी थे। जैनसंघ के रक्षक, प्रचंड शक्तिसंपन्न, श्रेणिक महाराजा थे। जैनसंघ के पालक चतुर्बुद्धि संपन्न अभयकुमार महाराज थे। जैन संघ के शोभाकारक धन्ना और शालीभद्र थे। जैन संघ की यशकीर्तिवर्धिका मृगावती, जयंती, चंदनबाला जैसी महासतियां थी। जैनसंघ की अवग्रहदायिका, भद्रा, रेवती, सुलसा आदि सन्नारीयां थी। जैन संघ के आराधक पुणिया श्रावक, जीर्ण शेठ जैसे पुण्यशाली श्रावक थे। इत्यादिक पुण्य पवित्र भाग्यशालीओं से सुशोभित उस राजगृही नगरी में एक दिन भगवान महावीर स्वामी पधारे, चतुर्विध संघ भी साथ था, समवसरण की रचना हुई और धर्मोपदेश हुआ।

उदायी हाथी की गति-आगति की वक्तव्यता :

उस वक्त कुणिकराजा काजल के पर्वत समान हाथी पर सवार होकर वंदन करने के लिए आये और धर्मोपदेश सुना। उस राजा की गजशाला में उदायी और भूतानन्द नामके दो अच्छे हाथी होनेसे गौतमस्वामी ने भगवान को पूछा कि, हे प्रभो ! इस राजा का उदायी हाथी अपने अवतार की कौन सी गति त्याग करने के बाद यहां आया है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, इस हाथी का जीवात्मा इससे अगले भव में भवनपति निकाय का असुरकुमार देव था, जिसने अपना आयुष्य वहां समाप्त करके यहां हाथी के अवतार को पाया है।

यहां से मरकर कहां जायेगा ?

यह हाथी अपना आयुष्य समाप्त करके सागरोपम की उत्कृष्ट स्थितिवाली पहली रत्नप्रभा नाम की नरकभूमि हैं वहां उत्पन्न होगा, वहां से सीधा महाविदेह क्षेत्र में जाकर दीक्षा लेगा, यावत् निर्वाण पायेगा।

गौतम, भूतानन्दी हाथी के लिए भी उदायी की तरह समझना।

ताड़वृक्ष पर चढ़नेवाले को कितनी क्रियाएं लगती है ?

हे प्रभो ! कोई पुरुष ताड़ के वृक्ष पर चढ़कर उसे हिलाए, डाली को हिलाए, या ताड़फल को नीचे गिराए, तो उसको कितनी क्रियाएं लगती हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! उसे पांच क्रियाएँ लगेगी क्योंकि जहां प्राणातिपातिकी क्रिया हो वहां आगे की कायिकि, अधिकरणि की, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी क्रियाएं भी होती हैं। लेकिन आगे की चार क्रियाएं होनेसे प्राणातिपातिकी हो अथवा न भी हो सकती

है। ताड़वृक्ष पर चढ़ना, डालियों पर कूदना और हिलाना, आदि सब क्रियाओं में प्राणातिपातिकी रही होती है। क्योंकि "फलफुल छल्लि कट्ठा मूलगपत्ताणि बीयाणी" यानि किसी भी प्रत्येक वृक्ष के मूल से लेकर थल, बड़ी डाली, छोटी डाल, पत्ते, पुष्प, फल और उसके बीज में भिन्न भिन्न जीव रहे होते हैं। जैसे पेड़ का मूलजीव अलग, बड़ी डाल का उससे अलग, छोटी डाल का भी भिन्न होता है। हरएक पत्ते पर अलग अलग जीव, फल का जीव तथा उसके एकएक पत्ते में जीव भिन्न, भिन्न और फल में तथा उसके एक एक बीज में अलग अलग जीव होते हैं। इस तरह एक पेड़ में अगणित जीव जिनेश्वरदेव ने कहे हैं, इसलिए हे गौतम ! डाल को छोटी डाल को, पत्ते को, फलों को, फूलों को तोड़ने में, फोड़ने में, काटने में; कटवाने में, छूँदने में या पीसने में आदि सब जगह पर जीवहिंसा है, जो पाप है। तथा पेड़ों को कटवा के कोयला बनाना और उसका व्यापार करना महापाप है। पेड़ पर चढ़नेवाला आदमी थल पर पैर रखकर चढ़ता है। डालियां हिलती हैं और पत्ते गिरते हैं। इसलिए मेरा कहना है कि पेड़ पर चढ़नेवाले को प्राणातिपातिकी (जीव हत्या जीववध) पाप लगता है, तथा पेड़ से बड़े फल के नीचे गिरने पर भूमि पर रहे भूत-प्राणी-जीव और सत्वों को मरने के सिवा कोई चारा नहीं। यहां विकलेन्द्रिय जीव को प्राण, वनस्पति को भूत, पंचेन्द्रिय को और शेष रहे हुए को सत्व कहा है। कल्पसूत्र में ऋषभदेव चरित्र में ऊपर से ताड़फल गिरने से युगल में से एक पुरुष मर गया था। यदि ऊपर से गिरने पर, फेंकने पर आदमी जैसा आदमी मर सकता हो, तो फिर चींटी, सांप, बिछूछू चूहे आदि किस तरह से बच पायेंगे ?

ताड़वृक्ष पर चढ़नेवाला आदमी पेड़ को हिलाता है, लेकिन फल का पतन तो चलायमान क्रिया की अपेक्षा न रखने पर भी खुद वजनवाला होने से अपने आप गिरता है, ऐसी अवस्था में उस पुरुष को पहले की चार क्रियाएं लगती हैं, क्योंकि फलपतन में वह कारणभूत नहीं है, परंतु

जिन जीवों के शरीर से ताड़वृक्ष का निर्माण हुआ है, उन मूल के, थल के, बड़ी छोटी डाल आदि के जीवों को पांच क्रियाएं लगेंगी। अर्थात् ताड़ के फल से मूल-पत्र पुष्प और थल आदि के जीव भिन्न हैं फिर भी एकदूसरे के सहकारी और सहचरी होने से फलपतन की क्रिया में पेड़ के सब जीवों को पांच क्रियाओं का संबंध समझ लेना। यद्यपि सभी जीव साक्षात् कारणभूत नहीं हैं किन्तु परंपरा से वे एक दूजे के साथ संकलित हैं।

ताड़वृक्ष से गिरा हुआ फल पेड़ के नीचे रहे हुए पत्थर के खंभे पर पड़े और वहां से पटकाकर नीचे गिरे तो वहां के जीवों को तो वह मारेगा ही-परंतु ऐसी स्थिति में भी वह फल पहले जड़ जैसे खंबे पर पड़कर नीचे गिरता है, तब पत्थर के खंबे में रहे हुए पुद्गल में जीव रहता है। परमात्मा महावीर स्वामी कहरहे हैं कि गौतम! जड़ के खंबे के पुद्गलों के स्वामी जो जीव हैं वे अब वैमनिक देव में होंगे या मुनिवेश में होंगे, साध्वीवेश में होंगे, देशविरति के विषय में सामायिकरथ होंगे या रेशम के भारी कपड़े पहनकर वीतराग देव के पूजन में मस्त बने होंगे तो उनको भी पांच क्रियाएं लागू होंगी। कारण देते हुए कहा गया है कि भूत काल में जब खंबे के पुद्गलों में जीव होगा, तभी उस भव की माया को नहीं भूलाने के कारण वहां की माया भी उसके मस्तक परलगी होने से क्रियाओं से मुक्ति नहीं मिलती है, इसका ही नाम है—'बिना खाय बिना भुगते ही मुफ्त में कर्म बंध जाय।' अब हम समग्र प्रश्नोत्तर का फलितार्थ देखें। ताड़वृक्ष या किसी भी वृक्ष के पत्ते, फल या डाली आदि को हिलाना, पेड़ पर चढ़ना, पत्थर फेंकना, डंडा मारना, आदि क्रिया करने से उन जीवों का हनन, ताड़न, मारन यावत् प्राणों का व्यतिपात हो, वह प्राणातिपातिकी क्रिया उस जीव को प्रत्यक्ष या परोक्ष, संसार की कैसी भी साध्यत्री में लगे बिना नहीं रहती है; यानि कि पाप लगता है।

नोंध : जैन शासन के अतिरिक्त अन्य धर्मों में भी ईश्वर का ध्यान

जाप-मनन-संत सेवा-दान पुण्य आदि सदनुष्ठान, चर्च में भी ईसा मसीह की प्रार्थना, मस्जीद में खुदा की बंदगी आदि अच्छे कर्मों के विधी-विधान होने से अपनी श्रद्धा से वे सदनुष्ठान होते रहते हैं और उसमें किसी को भी अडचन नहीं आती। परंतु प्रश्न यह है कि पापमार्ग की पिछान बगैर वा सूक्ष्म में सूक्ष्म पाप प्रवृत्तिओं का, वृत्तिओं का, त्याग करे बिना यह सब धर्मानुष्ठान फलदायी होंगे या नहीं ? आज हम प्रत्येक संप्रदाय में कई भक्त रामों को प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि जो बाहर के अनुष्ठानों में होने पर भी आंतरिक जीवन में कोरे ही रहने पाये हैं। जिससे उनके जीभ की तुच्छता, जीवन की कृपणता आदि दूषण पर काबू नहीं रख सके हैं।

खिड़की के दरवाजे खुले हो तो कभी भी चोर, बिल्ली या चूहा प्रवेश कर सकता है, वैसे ही जीवन के जातीय दूषण के द्वार बंध करे बिना आत्मशुद्धि कैसे हो सकती है ? और धर्मानुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि जो नहीं कर सकता है तो उसकी भक्ति, भक्ति नहीं कहलाती, ज्ञान विज्ञान सिर्फ चर्चा तक ही रह जायेगे और जिन्दगीभर उसके भाग्य में वाक्युद्ध ही शेष रहेगा।

इसलिए जैन शासन ही जोर से कहता है कि साधक ! तू सबसे पहले अपने पापों को पिछान, उसका त्याग कर, और उसके बाद धर्म के रास्ते पर आने की लायकात मिलेगी। इस कारण से ही श्रमणधर्म को स्वीकारने वाला साधक पहले 'अइअं निंदामि' भूतकाल में मेरे मन, वचन और काया से जो कुछ भी पापकार्य हुए हो, या जीव हत्या हुई हो तो उन सब की गुरु साक्षी से मैं निंदा करता हूं और सर्वथा उस मार्ग का त्याग करता हूं।

"अणागयं पच्चक्खामि" भविष्य काल में किसी भी प्रकार का पाप मेरे मन वचन काया या स्वप्न में भी न आय उसके लिए मैं जागृत

रहूंगा और वर्तमान काल में सब पापों के द्वार बंध करके रहूंगा। इतना स्वीकार ने के बाद वह महाव्रतों का स्वीकार करता है और अपनी जात को भूत, भविष्य और वर्तमान काल के अनिष्टों से बचा सकता है। इस कारण से ही जैन मुनि के हाथ, पैर, जीभ, मस्तिष्क, कर्मेन्द्रिय संयमित होती है।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावक को भी प्रथम मार्गानुसारीता, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और उसके बाद शिक्षाव्रतों का उपदेश दिया जाता है। इसलिए अरिहंतो के बताये मार्ग पर चलनेवाला साधक सफल होता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म पापमार्गों का त्याग करनेवाले जैन श्रमणों को और श्रमणीओं को कैसे भी मरणांत प्रसंग में भी वृक्ष पर चढ़ना नहीं है, पत्र-पुष्प तोड़ना नहीं है. स्पर्शना नहीं है, नदी या कच्चे पानी का उपयोग नहीं करना है, अपने हाथ से खाना नहीं पकाना है और अपने लिए बना भोजन भी जैन साधु को नहीं चलता है। अत: अष्ट प्रवचनमाता और नव ब्रम्हचर्य में रमण करनेवाले जैन साधु हजारों बार भाव वंदन के लायक हैं।

शरीरादि के कारण मे कितनी क्रियाएं होती हैं ?

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे देवाधिदेव ! औदारिक शरीर निर्माण समय में जीव को कितनी क्रियाएं होती हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, कदाचित् तीन, चार और पांच क्रियाएं होती हैं। बहुवचन से बात की जाय तो भी जीवों को ऊपर जैसी ही क्रियाएं समझना। उसी तरह इन्द्रिय और योग निर्माण में तथा चौबीस दंडकों के लिए भी ऊपर की तरह समझना।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर पांच हैं, इन्द्रिय पांच हैं और योग तीन हैं।

भव भवांतर में किये हुए पुण्य पापों को भुगतने के लिए शरीर को ग्रहण करना अत्यावश्यक है, और इन्द्रिय तथा योग के बिना पूर्वभव में किये हुए कर्मों को भुगतना अशक्य है। वर्तमान भव में जिस समय शरीर पर्याप्ति से शरीर को ग्रहण करता है; उसके बाद मृत्यु की अंतिम घड़ी तक भी जीवात्मा औदारिकादिक शरीर की कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करता है। उसी तरह इन्द्रिय तथा योग की वर्गणा भी ग्रहण करता है।

जीव स्वयं स्वतंत्र होने से प्रतिसमय ली जाती औदारिक वर्गणाओं में रागद्वेषपूर्वक की बातें होती हैं और जहां राग-द्वेष हैं वहां क्रियाएं और कर्म भी होते हैं।

हे प्रभो! भाव कितने हैं?

भगवंत ने छः प्रकार के भाव कहे हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। इन भावों की विशेष चर्चा द्वितीय भाग में की गई है, फिर भी इस विषय को सूत्रकार सुधर्मा-स्वामीजी ने अनुयोग सूत्र द्वारा सविस्तार जान लेने की सिफारिश की है, ऐसे "अधिकस्य अधिके फलम्" इस उक्ति से छः भावों का भेदानुभेद हम देख लें।

औदयिक भाव दो प्रकार से है: औदयिक और उदय निष्पन्न। ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों प्रकृतिओं के उदय को औदयिक के नाम से जानना तथा उदय निष्पन्न के दो भेद हैं, जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्न।

कर्म के उदय से जीव में जो भाव होते हैं वे जीवोदय निष्पन्न हैं, जैसे कि नारक - तिर्यंच-देव - पृथ्वीकायादि - त्रसकायादि - कषायोत्पति-

पुरुषवेदोत्पति, लेश्या, मिथ्यादृष्टित्व और असंज्ञित्व आदि भेद जीवोदय निष्पन्न हैं।

औपक्षमिक भाव भी उपशम और उपशम निष्पन्न रूप से दो प्रकार के हैं। २८ प्रकार का मोहनीय कर्म उपशम हो, वह उपशम भाव है। और उत्पन्न हुई शक्ति से क्रोधादि कषाओं को उपशमित करना, रागद्वेष को शांत करना, अरिहंतों की अष्टप्रकारी भाव भक्ति द्वारा, दर्शन-मोहनीय उपशम करना, चारित्र शुद्धि में ध्यान रखकर मोह को दबा देना, सम्यक्त्व लब्धि,चारित्र लब्धि, उपशांत कषाय, छद्मस्थ वीतराग आदि उपशम भाव से उत्पन्न हुआ, वह औपशमिक भाव है।

क्षायिक भाव भी दो प्रकार से हैं।

आठ प्रकृतिओं का संपूर्ण क्षय वह क्षायिक भाव है, और क्षयभाव से उत्पन्न हुई केवलज्ञान लब्धि, आदि क्षय निष्पन्न भाव हैं।

क्षायोपशमिक भाव के दो प्रकार हैं।

केवलज्ञान का अवरोधक चार घाति कर्मों के क्षयोपशम को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। और उससे उत्पन्न हुए क्षयोपशम निष्पन्न भाव है। जिसके दो भेद नीचे दिये हुए हैं।

क्षायोपशमिक मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-अवधिज्ञान और मनः पर्यव ज्ञान-लब्धि, दर्शन लब्धि, सम्यग्दर्शन चरित्र लब्धि, दान, लाभ, भोग-उपभोग और वीर्यलब्धि, द्वादशांगी क्षायोपशमिक लब्धि, चौद पूर्वज्ञान लब्धि आदि क्षायोपशमिक भाव हैं।

पारिणामिक भाव के दो-तीन-चार या पांच भाव हैं। और मिश्रण को सान्निपातिक भाव जानना।

॥ शतक १७ वाँ : उद्देशक १ पूर्ण ॥

शतक १७ वां : उद्देशक–२

क्या संयतादि, धर्म-अधर्म और धर्माधर्म में स्थित है ?

हे प्रभो ! संयत क्या धर्म में स्थित हैं ?

असंयत क्या अधर्म में स्थित हैं ?

और संयतासंयत क्या धर्माधर्म में स्थित हैं ?

उत्तर में भगवंत ने 'हां' कही है।

सूत्र में "संजय विरय पडिहथ पच्चक्खाय पावकम्मे" है। इसके तीन विभाग हैं। (१) संयत विरत पापकर्मा (२) प्रतिहत पापकर्मा (३) प्रत्याख्यान पापकर्मा इन तीनों का भावार्थ नीचे दिया गया है।

संयत विरत पापकर्मा :- यानि कि प्रचंड पुरुषार्थबल से वर्तमानकाल में मन-वचन.काया से करण, करावण, और अनुमोदन से और क्रोध-मान माया तथा लोभ से किये जाते, कराये जाते पापकर्मों की जिन भाग्यशाली ने संयमित और विरमित किये हैं वह संयत विरत पापकर्मा कहलाता है।

(२) प्रतिहत पापकर्मा –यानि पापों को या पापमार्गों को संयमित या विरमित करने से पहले बांधे हुए दीर्घकालिन स्थिति और तीव्र रसवाले कर्मों को सम्यक्चरित्र और ज्ञान से जिन पुण्यशाली ने स्थिति और रस में कमी की है, वह प्रतिहत पापकर्मा कहलाता है।

(३) प्रत्याख्यान पापकर्मा – यानि कि भविष्यकाल में, जीवन के आखरी वक्त तक त्यागे हुए या छोड़ते की आखरी हद तक लाकर रखे हुए पापकर्म नहीं करने चाहिए ऐसा प्रत्याख्यान किया हो, अथवा

भूतकाल में किये हुए पापकर्मों की निंदा-गर्हा, पश्चाताप या प्रायश्चित करके भाविकाल में पुनः वे कर्म नहीं करने की स्थिति को प्रत्याख्यान पापकर्मा कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों विशेषणों से विशेषित जैन श्रमण ही सम्यक्चारित्र धर्म में स्थित हैं।

जो संयत और विरत नहीं है वे प्रतिहत पापकर्मा और प्रत्याख्यात पापकर्मा नहीं हैं। इसलिए हे गौतम! सम्यक्चरित्र रहित वे अधर्म में स्थित हैं।

और कई अंश में विरत और कई अंश में अविरत देश विरति धर्म में स्थित है।

हे प्रभो! उपर्युक्त धर्म-अधर्म या धर्माधर्म में बैठने या चलने के लिए कोई समर्थ है?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम! यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि मैंने जो धर्म-अधर्म या धर्माधर्म में स्थित रहने की जो बात कही है, उसका अर्थ बैठना सोना नहीं है, लेकिन जो संयत-विरत प्रतिहत, तथा प्रत्याख्यान पापकर्मा हैं वे धर्म का आश्रय करते हैं, और आश्रय करने का अर्थ ही धर्म में स्थित है। इस तरह अधर्म का आश्रय करनेवाला अधर्म में और संयतासंयत में स्थित देशविरति में स्थित है। नारक यावत चार इन्द्रिय तक के जीव अधर्म में स्थित हैं क्योंकि इन जीवों को सर्व विरति या देश विरति धर्म नहीं होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव अधर्म में और देशविरति में स्थित हैं क्योंकि देशविरति धर्म की शक्यता जैन शासन को मान्य है। इस तरह मनुष्यों के लिए जानना।

वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव भी नारक की तरह समझना। क्योंकि उन्हे भी सर्व या देशविरति नहीं है, इसलिए अधर्म

में स्थित हैं। यहां धर्म अधर्म का अर्थ धर्मास्तिकाय या अधर्मास्तिकाय नहीं करता है, लेकिन धर्म से सर्वविरति धर्म, श्रमण धर्म-मुनिधर्म या समिति गुप्ति धर्म लेने का है। जब कि उससे विपरीत अधर्म समझना।

श्रमण क्या पंडित कहलाते हैं ?

हे प्रभो! श्रमण पंडित हैं, श्रमणोपासक बाल पंडित हैं, इस मान्यता में अन्ययूथिक (परमतावलंबी) वह कहते हैं कि श्रमणोपासकों में भी जिन्होंने अन्य प्राणीओं के प्राण का अतिपात विरमित किया हो, फिर भी एकाद जीव के वध की विरति से रहित हो तो वह अेकांत बाल है। सारांश कि, बहुत-सी वस्तुओं की विरति की गई है, फिर भी एक वस्तु का त्याग न करने से वह एकांत बाल कहलायेगा.....ऐसी मान्यता के प्रत्युत्तर में परमात्मा महावीर स्वामी ने कहा कि, हे गौतम! उन लोगों की ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानपूर्वक त्याग की भावना से पापव्यापार, माँस भोजन, शराबपान, वेश्या या परस्त्रीगमन, खाने पीने की बहुत-सी चीजें प्राप्त होने पर भी, जानबूझ के त्याग करनेवाला श्रमणोपासक कदाचित अपनी कोई परिस्थिति के कारण से अमुक वस्तुओं का त्याग न कर पाये, सिर्फ इससे वह एकांत बाल नहीं हो सकता। जैन शासन को पाने वाले बहुत से गृहस्थ शायद गुरु के पास से व्रत न ले सके, तो भी वे बहुत से पापों से मुक्त हैं। जबकि किसी भी प्रकार की व्रतमर्यादा बिना के जीवों के जीवन में पापों के सर्व द्वार खुले हैं, अथवा जो पाप है उसे पाप मानने की ज्ञानशक्ति उनमें नहीं होती है। इसलिए वे शौक से पापरत रहते हैं। उनके खानपान में, स्नान पानी में, व्यापार-रोजगार में उठने-बैठने में कहीं भी मर्यादा नहीं होती है। इसलिए सर्वथा पापत्याग बिना के जीव एकांत बाल कहलाते हैं, परंतु श्रमणोपासक एकांत बाल नहीं पर बालपंडित कहलायेंगे।

नारक से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव सर्वथा बाल ही हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच बाल और बाल पंडित होते हैं लेकिन सर्वविरति के अभाव पंडित में होते नहीं हैं। मनुष्य को भी इस तरह ही जानना। देव भी पंडित नहीं हैं।

जीव और जीवात्मा क्या भिन्न-भिन्न हैं ?

हे सत्यद्रष्टा भगवान महावीर ! अन्ययूथिक (दूसरे दर्शनवाले) यह कहते हैं कि-प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक १८ पापस्थानकों में वर्तमान प्राणी का जीव अलग है और जीवात्मा अलग है। जीव और शरीर का अनन्य भेद मानने वाले वे कहते हैं कि "जीवति प्राणान् धारयतीत जीव" इस उक्ति से जीव शब्द का अर्थ शरीर लेना चाहिए क्योंकि दोनों के धर्म भिन्न होने के कारण शरीर से जीवात्मा अलग है। इसलिए शरीर का अधिष्ठाता चैतन्यमय और शरीर से किये गये कर्मों के फलों का भोक्ता जीवात्मा शरीर से भिन्न है। तर्क देते हुए वे कहते हैं कि देह पुद्गल और जीवात्मा अपुद्गल है, इसलिए पानी और अग्नि में जिस तरह परस्पर भेद है उस तरह जीव शब्द से वाच्य देह अलग है और उसका अधिष्ठाता उससे भी भिन्न है। प्राणातिपातादि १८ पापों में व्याप्रियमाण शरीर को सब कोई देख सकते हैं अतः क्रियाओं को करने वाला शरीर और उसके फलों का भोक्ता जीवात्मा ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

दूसरे मतावलंबी का कथन है कि, नारक देव और मनुष्य के पर्याय वाला जीव है, तथा सबों में अन्यय रूप से रहने वाला जीवात्मा है ! घट पट में जैसे भेद है वैसे द्रव्य तथा पर्याय में भी है। क्योंकि द्रव्य अनुगत आकारवाली बुद्धि को उत्पन्न करता है और पर्याय अननुगताकार बुद्धि को। तीसरों का कथन है कि, पाप स्थान के सेवन की क्रिया में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला जीव शरीर है तथा फल का भोक्ता जीवात्मा है इसलिए दोनों भिन्न है।

इस प्रकार औत्पातिकी चारों बुद्धि में ईए, आदि मतिज्ञान में, उत्थानादि पराक्रम में आठों प्रकार के कर्म में और लेश्या में जीवात्मा भिन्न है।

उपर्युक्त विषय में जैन शासन को क्या कहना है ?

ऊपर की बातों के अनुसंधान में गौतमस्वामी भगवंत से पूछते हैं कि हे प्रभो ! जीव और जीवात्मा को भिन्न माननेवाले उपर्युक्त विषय में आप श्रीमान् क्या फरमाते हैं ? यानि की इसमें सत्य क्या है ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि हे गौतम ! जीव और जीवात्मा को भिन्न मानने की उनकी कथनी सर्वथा भ्रान्त है। मिथ्या है। इस विषय में मैं यह कहता हूं कि प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन तक क्रियाओं को करनेवाला जो जीवात्मा है, वह जीव ही है; क्योंकि शरीरयुक्त जीव ही जीवात्मा कहलाता है। शरीर और जीवात्मा में अत्यन्त भेद माना जाये तो शरीर द्वारा भुगते गये पदार्थों का विज्ञान जीव को कैसे हो सकता है ? तथा शरीर ने किये हुए पापों को आत्मा क्यों भुगतेगी ? शरीर कर्म करे और आत्मा उसका फल भुगते तो' 'अकृतागम" नाम का दोष सिर पर सवार हो जायगा। तो इस तरह आत्मा ने जब कोई भी पाप नहीं किया है तो फल क्यों भुगतना पड़ेगा ? 'कोयला रामजीभाई खाय और काला मुंह लालजी का हो' ऐसा कभी हुआ नहीं है और होगा भी नहीं दोनों को भिन्न मानने में शरीर से किये हुए पापों का संवेदन जीव को हो नहीं सकता। फिर भी संसार के जीव मात्र को प्रत्यक्ष किये जाने पर फल का संवेदन आत्मा को होता है, इसलिए जीव और शरीर सर्वथा भिन्न हो नहीं सकते। उसी तरह सर्वथा अभिन्न माना जाये तो शरीर के साथ आत्मा को भी भस्मसात होने का प्रसंग आयेगा,जो किसी को भी इष्ट नहीं है, इसलिए शरीर और जीव भिन्न भिन्न हैं।

द्रव्य और पर्याय में भी अत्यन्त भेद की कल्पना करना ठीक नहीं

है। क्योंकि घट और कलश की तरह द्रव्य और पर्याय में भी भेद की उपलब्धि नहीं है। शायद द्रव्य और पर्याय की ज्ञानलब्धि भिन्न भिन्न होने के कारण तुम्हें भिन्नता दिखाई देगी। परंतु यह भी ठीक नहीं क्योंकि द्रव्य और पर्याय में भेद सिर्फ अनुवृति और व्यावृति प्रत्ययिक है, जो सिर्फ प्रतिभास काल तक ही रहता है। जैसे कि 'यह घड़ा है', इस तरह अनुवृति रूप से घटाकार में घट का ज्ञान हो, जब यह घड़ा इससे भिन्न है। रंग - आकार से अलग है इत्यादिक व्यावृती रुप से घटाकार में घट के पर्यायों का ज्ञान होता है। इसलिए द्रव्य से पर्याय भिन्न नहीं है, पर्याय से द्रव्य भिन्न नहीं है। इसी तरह ज्ञान - दर्शन उपयोग में जो जीव है, वही है जीवात्मा।

भगवंत की यथार्थ वाणी सुनकर सभी खुश हुए।

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो! महार्धिक, महासुखी, महाद्युतिवंत, महायशस्वी और जबरदस्त शक्ति का धारक देव वैक्रियकरण के पूर्व ही जो रुपी है, वह अपनी आत्मा को अमूर्त बनाकर, रहने के लिए समर्थ है? सारांश कि देवयोनि को प्राप्त देव रुपी होने पर भी अरूपी बनकर देवलोक में रह सकता है?

मनाई फरमाते हुए भगवंत ने कहा कि, हे गौतम! संसार के जो भाव हैं उन्हें मैं यथार्थ जानता हूँ, यथार्थ रुप में देखता हूँ, श्रद्धा के विषयभूत बनाता हूँ, केवलज्ञान से जानता हूँ और अच्छी तरह देख सकता हूँ। पहले भी वस्तु की यथार्थता जानी थी, श्रद्धा के विषयभूत बनाई थी, और बोध के प्रकार से मैंने आज तक जाना था। वस्तु की स्पष्टता करते हुए भगवंत ने कहा कि देवत्व पर्याय को पाया हुआ जीव रुपवाला ही होता है, इसलिये सकर्म, सराग, समोह, सलेश्य और सशरीर जीव अरुपी नहीं होता है, लेकिन रूपवान यानि मूर्त ही होता है। जीव के इन सब विशेषणों में हेतु, हेतुमद्भाव निम्नलिखित जानना।

देवत्वादि पर्याय प्राप्त करनेवाला जीव रुपी होता है। तुम्हें शायद ऐसा लगेगा कि स्वभाव से ही जो अरुपी हो वह रुपी (रुपवान) किस तरह हो सकता है? और इस तरह पदार्थ अपने स्वभाव छोड़ेंगे तो लक्ष्य, लक्षण, हेतु आदि की परिभाषा जरुर बिगड़ के रहेंगी।

गौतम! इसलिये ही 'स्याद्वाद' सिद्धांत अजोड़ है। अपराभवनीय है और मानव मात्र को सत्यज्ञान प्राप्त कराने में पूर्ण समर्थ हैं। क्योंकि संसार सबको प्रत्यक्ष है इसलिए उसकी व्यवस्था का ख्याल करके भाषा व्यवहार सापेक्ष किया जाय तो सिद्धांत और संसार को कोई हरकत नहीं आती। क्योंकि संसार के व्यवहार को ठोकर मार के सिर्फ सिद्धांतों से कोई भी समस्या का निर्णय नहीं होता। कदाचित् किया जायेगा तो संसार के क्लेश ज्यादा भड़केंगे, और शान्ति तथा समाधि में रुकावट आयेगी। इसलिए सिर्फ तर्क ज्ञान से संसार को सम्यग्ज्ञान देने के बजाय दोनों को सापेक्ष बुद्धि से यदि समझा जाय तो मानव का मन सामाजिक जीवन में शांति लाने के लिए समर्थ बनेगा।

संसार का कोई भी पदार्थ इत्थंभूत नहीं है, इसलिए हरएक प्रसंग को अपने गज से मापने के बजाय यदि सापेक्षवाद के गज से मापा जाय तो अच्छा हो सकता है। क्योंकि तृण से लेकर सिद्ध तक के जीवों के लिए सापेक्षवाद से ही निर्णय करना शक्य है।

बेशक! जीव अरुपी ही है लेकिन वह द्रव्यास्तिकनय से अरुपी है, जबकि संसार में घूमने फिरनेवाला जीव कर्मो के चक्र में फंसा होने से कोई भी हालत में संसार की चार गति के चौरासी लाख बाजारों में आवन जावन के सिवा रह नहीं सकता। इस कारण से कर्मो की वर्गणा रुप पर्यायों का निर्णय पर्यायास्तिक से किये बिना और कोई चारा नहीं है। क्योंकि सत्ता में पड़े हुए कर्म अवश्यमेव उदय में आयेंगे और इस कारण से जीव सकर्मक हैं, यानि कि कर्म के भार से दबा हुआ होनेसे संसार

के मंच पर रुपी बनना ही पड़ता हैं, क्योंकि ऋणानुबंध की जंजीर में फंसे जीव को अपने बंधन भुगतने के लिए, माता रूप में, पिता के रूप में पति के रूप या स्त्री के रूप में आकर ऋणानुबंधन भुगतने पड़ते हैं ! इस लिए जो जीव सकर्मक है वह रुपी है ।

अरुपी आत्मा को कर्म का बंध किस तरह लगा ?

तीसरे विशेषण का निर्णय करने के पूर्व इतना जान लें कि जीवात्मा कभी भी अकर्मक नहीं था । यदि वह अकर्मक हो तो उसे कर्म का बंध कैसे हो सकता है ? इसलिए अनादिकाल से जीव सकर्मक होने से रुपी है । खान में से निकली हुई रेत को देखकर वैज्ञानिक कहेगा कि इसमें सुवर्ण का मिश्रण हैं, यहां ऐसा प्रश्न सुलभ है कि रेत में मिट्टी और सोने को किसने मिलाया ? कब मिलाया ? किन साधनों से किया ? किसलिए किया इसका साक्षी कौन है ? हम समझ सकते हैं कि यह सब प्रश्न बेकार आदमियों के ही हो सकते हैं । जिनके जीवन में आत्मकल्याण की साधना नहीं है वे बेकार आदमी ही जीवन के लिए अभिशाप है । क्योंकि संसार में आज भी ऐसे पदार्थ हैं जिन का निर्णय अनादिकाल से आज तक किसी ने भी नहीं किया "कबूतरी पहले ? या अंडा पहले ?" इस प्रश्न निर्णय ३३ करोड़ देव भी साथ मिलकर नहीं कर सकते । क्योंकि संसार में कबूतरी न हो तो अंडा कहां से आया और अंडा न हो तो कबूतरी कहां से आई ? ऐसे प्रसंग के बारे में संसार के बेकार आदमी अपने तर्क वितर्क लड़ाते रहते हैं और आखिर हारकर कहते हैं कि कबूतरी और अंडा अनादिकाल के हैं, सुवर्ण और मिट्टी भी अनादिकाल से हैं, उसी प्रकार जीव के साथ मिश्रित हुए कर्म भी अनादिकाल के हैं, अनादिकाल के प्रवाह से जीव सकर्मक है और कर्म के बारे में बताते हुए सूत्रकार ने जीव को तीसरा विशेषण 'सराग' दिया है ।

सराग जीव को कर्म किस तरह लगेंगे ?

जवाब में कहा गया है, कि जहां राग है वहां द्वेष की हाजरी भी होती है। घी, तेल या सेगान की चीकाशवाले पदार्थ पर धूल आदि के रजकण चिपक ही जाते हैं; वैसे राग द्वेष की चीकाशवाली आत्मा पर कर्म की वर्गणा की धूल भी प्रतिसमय चिटक जाती है।

क्योंकि अनंतानंत मनपसंद पदार्थ के प्रति रहा राग और नापसंद पदार्थ प्रति का द्वेष संसारी को अवश्य रहता है, इसलिए कर्मों का नया-नया बंध होता रहे उसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

राग द्वेष होने का क्या कारण है ?

जीव को राग-द्वेष क्यों होता है ? यानि कि। कोई खान पान जैसा कि दूध, मलाई, रबड़ी, दूधपाक, बदामपाक, खोपरापाक, आम, केले, दाडिम, इलायची आदि द्रव्य अच्छे लगते है और मकाई, जुवार बाजरी की सूखी रोटी नहीं भाती है। गुलाब, हीना आदि अत्तर और सुगंधी पदार्थ अच्छे लगे और गंदे पदार्थ पर नफरत आयी। जवान. मद-माती और रूपवती स्त्री का स्पर्श पसंद आया., मुलायम वस्त्र गद्दे अच्छे लगे और बूढ़ी, रोगिष्ठ, श्यामवर्णी स्त्री तथा मोटे खादी के वस्त्र पसंद नहीं पड़े। गोरी चमड़ी की रुपवान कन्या या रंगबिरंगी कपड़ों से सजी कुलवधू को देखना अच्छा लगा; खेल कूद देखना भी भाया पर कुरूप स्त्री देखना अच्छा नहीं लगा। इत्यादि अच्छे या बूरे भाव इस जीव को क्यों होते हैं ? इसके जवाब में मानवमात्र के कर्मो को प्रत्यक्ष करनेवाले भगवान महावीर स्वामी ने उत्तर में जीव मात्र को चौथा विशेषण 'सवेद' लगाया है, इसलिए जीवमात्र सवेद होने से 'सराग' है, सराग होने से सक-र्मक है और सकर्मक होने से रुपी है।

वेद यानि क्या ?

जिसके कारण रागी पुरुष को मनपसंद स्त्री, रागिणी स्त्री को मन पसंद पुरुष तथा हृदय से और शरीर से नपुसंकों को स्त्री तथा पुरुष दोनों भुगतने की इच्छा हो, उसे जैन शासन में 'वेद' कहा है । ऐसा वेद कर्म जिनके उदय में हो या उदीर्णा कर के भी उदय में लाया गया हो, ऐसे लोग अपने वेद कर्मों के सर्वथा पराधीन होकर अपनी इन्द्रिया तथा मन को पसंद रुप, गंध, रस, स्पर्श और शब्द को पाने के लिए आकाश पाताल एक करते हैं । छल-प्रपंच और मायाजाल में खेलते रहते हैं अथवा अपने मनपसंद उन पदार्थों को स्पर्शने में, स्वाद में, सूघने में, श्रवण में और दर्शन में अपने मन की इच्छाओं को प्रयत्नशील रखकर बैठे होते हैं । और इस तरह जीव मनपसंद वस्तु की ओर राग और अन्य के प्रति नफरत-तिरस्कार द्वारा द्वेष प्रदर्शित किये बिना रह नहीं सकता ।

जीव को वेदकर्म कहां से आया ?

इसके लिए पांचवा विशेषण 'समोह' रखा गया है । अनंत भावों की अनंत जीव और अजीव के साथ की माया के कारण हर एक जीव का प्रत्येक प्रदेश मोह कर्म से भरपूर होता है, जिससे, जिस समय पर मोहकर्म का उदय होगा तब जीव और अजीव के साथ माया में जीव मस्त बनेगा और मोह के कारण वेद कर्म को भुगतने की उम्र आने पर या उससे पहले भी जीव चंचल रहता था। प्रौढ़ावस्था में भी मनपसंद स्त्री, परस्त्री, वेश्या, कन्या आदि के शब्द, रस, गंध और स्पर्श उन्हें सताते रहते हैं। इसलिए कहा गया है कि मोहकर्मी आत्मा सवेद होता है ।

ज्यादातर कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में संपूर्ण मग्न ऐसे मानव के मन में, इन्द्रियों में, बुद्धि में और शरीर में खराब तत्व काम करते रहते हैं । फलस्वरूप उसकी आत्मा भी गंधी ही

होती है। इसलिए लेश्यावाला जीव मोहकर्म को उत्पन्न करने वाला है। और जब तक यह जीव शरीरधारी है तब तक यह लेश्यामुक्त रह नहीं सकता। इन सब सार्थक विशेषणों को लेकर हे गौतम ! देव भी लेश्यावाले होने के कारण समोही-सवेदी होने से रूपी हैं। इसलिए ऐसी अवस्था में वे अरुपी नहीं हैं।

सिद्ध के जीव अरुपी हैं क्योंकि "सिद्धाण नत्थि देहो' सिद्धों को शरीर और कर्म नहीं, इसलिए वे अरुपी हैं। संसारी जीव ऐसे नहीं है इसलिए रूपी है।

॥ शतक १७ वाँ उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक-३

शैलेशी प्राप्त अणगार क्या कंपता है ?

हे प्रभो ! जिस अणगार (मुनि) ने शैलेशी अवस्था को प्राप्त की है, वह प्रमाणरहित सदा कंपायमान होता है ?

जवाब में भगवंत ने फरमाया कि हे गौतम ! शैलेशी अवस्था को प्राप्त करने के बाद प्रयोग बिना एक स्थान से दूसरे स्थान में जा नहीं सकता, दूसरे स्थान से वहाँ वापिस नहीं आता, कोई भी दिशा में

वह जाता नहीं, किसी से भी डरता नहीं, किसी को प्रेरणा देता नहीं है, शैल अर्थात् पर्वत और उसमें राजा जैसा शैलेश (मेरूपर्वत है) कैसा भी भयंकर पवन हो, फिर भी मेरु पर्वत हिलता नहीं है "किं मंदराद्रि शिखरं चलितं कदाचित्" उसी तरह ध्यान अवस्था की चरम सीमा शैलेशी होने से अणगार भी मेरू पर्वत की तरह सदा स्थिर रहता है। इस कारण से वह कभी भी कंपता नहीं है। एजना (कंपन) कितने प्रकार से है ?

भगवंत ने पांच प्रकार की एजना (कंपन) कही है। वह इस तरह द्रव्यैजना, क्षेत्रैजना, कालैजना भवैजना और भावैजना।

द्रव्यैजना के चार प्रकार हैं : नरक आदि गति की अपेक्षा से यह भेद हैं। भूतकाल में नारक जीव, नारक द्रव्य में थे, वर्तमान काल में हैं, और भाविकाल में भी रहेंगे। इस कारण से नारक ने तीन काल में द्रव्यैजना की है, करते हैं और करते रहेंगे। इस तरह अन्य जीवों के लिए भी समझ लेना।

नरक क्षेत्रैजना, अर्थात् नारक, नरक भूमि के क्षेत्र में रहकर तीन काल की एजना करते हैं। कालैजना, नरक भूमि में रहने के काल दरम्यान तीन काल की एजना करते हैं। भवैजना नरक के भव में रहकर करते हैं। भावैजना, औदयिकादि भाव में रहकर करते हैं। इस तरह अन्य गतिओं के लिये भी जानना।

चलना के संबंधी वक्तव्यता :

हे प्रभो ! चलना के कितने प्रकार कहे हैं ?

भगवंत ने शरीर, इन्द्रिय और योग को लक्ष्य में रखकर तीन प्रकार की चलना कही है। चलना भी एक प्रकार की कंपन ही है। जो एजना से ज्यादा स्पष्ट होती है। पांच शरीर के कारण शरीर चलना, पाँच प्रकार

से हैं। औदरिकादि शरीर के चलन में तत्प्रायोग्य पुद्गलों का उसी रूप में ग्रहण करना, वह शरीर चलना है। स्पर्शेन्द्रियादि की चलना में तत्प्रायोग्यइन्द्रियों का उसी रूप से ग्रहण करना वह इन्द्रिय चलना है। योग के लिए भी ऊपर की तरह जानना।

विषय को स्पष्ट करते हुऐ भगवंत ने कहा कि, औदारिक शरीर में रहे हुए जीव जब नये नये शरीरप्रायोग्य द्रव्यों को औदारिक शरीष्ट रूप से परिणमित करते हैं उसे औदारिक चलना कहते हैं। जिसे भूतकाल में भी जीव ने की है, वर्तमान में करता है और भाविकाल में भी करेगा। इस तरह ही पाँच शरीर, इन्द्रिय, और योग के लिए जान लेना।

संवगादि धर्म का फल क्या है !

हे प्रभो ! निम्नलिखित संवेगादि, २८ प्रकार के धर्म की आराधना क्या सार्थक फल देनेवाली हैं ?

जवाब में भगवंत ने 'हां' कही है। उनके अर्थ संक्षेप में यहां जान लें और विस्तार से गुरुमुख से जानने क्योंकि जानने योग्य और जीवन में उतारने लायक तत्व सबसे प्रथम जानने से जीवन धन्य और आराधक बन जाता है। पाप से भरे हुए इस संसार में आराध्य और उपदेय तत्वों का स्वीकार करने से जीवनयात्रा सफल बनेगी और भवभवांतर में पवित्र संसारों का उदय होनेसे अपनी आत्मा अनंत दुःखों से भरे इस संसार का त्याग करके, सदा के लिए अनंत सुखों का स्वामी बनेगा।

संवेगादि, २८ पद नीचे दिये गये हैं :

(१) संवेग :- अव्याबाध और अनंत सुखों के धाम स्वरुप मोक्ष प्राप्ति के अभिलाष को संवेग कहते हैं। ध्येय, लक्ष्य और प्रवृति यदि एकमेक के अनुरूप हो, तो कोई भी कार्यसिध्द करने में बाध नहीं आता।

उसी तरह संसार में रहने पर मोक्ष का ध्येय हो और साथ में लक्ष्य और प्रवृत्ति भी हो तो इष्ट को सिध्द होने में देर नहीं लगती।

(२) निर्वेद :– पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त भौतिक सुखों के भोग में उदासीनता रखना।

(३) गुरु धार्मिक सुश्रषा :– यानि कि दीक्षागुरु, विद्यागुरु या आचार्य आदि गुरुजनों की बहुमानपूर्वक सेवा और विनय करना।

(४) आलोचना :– दैवसिक या रात्रिक आदि दोषों का गुरु समक्ष सच्चे दिल से प्रकाशन करना।

(५) निंदना :– अपने दोषों की निंदा करना, मतलब कि दोषों को दोष जानकर ही उन्हें निंदना।

(६) गर्हणा :– गुरु समक्ष आत्मदोषों को प्रकाशित करना।

(७) क्षमापना :– अपने व्यवहार से असंतुष्ट मनुष्यों की क्षमा मांगना।

(८) श्रुत सहायता :– आगमीय श्रुतज्ञान को परम मित्र मानकर उसका अभ्यास करना और बढ़ाना।

(९) व्युपशमना :– क्रोध के निमित्त बनने पर भी अपने जीवन में क्रोधादि को प्रवेश न देना।

(१०) भावे अप्रतिबद्धता : हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेदादी के सेवन में या उनकी स्मृति में भी मानसिक आग्रह का त्याग करना।

(११) विनिवर्तना :– असंयम के २० प्रकार के असमाधि स्थानों से हमेशा बचकर रहना।

(१२) विविक्त शयनादि :- मतलब कि पशु-पक्षी और नपुंसक आदि पतन स्थानों से अतिरिक्त एकांत स्थानों में रहना।

(१३) श्रोतेन्द्रिय संवर :- उपचार से पाँच इन्द्रिय का संवर करना। यानि कि दुराचार के रास्ते से दूर रहना।

(१४) योग प्रत्याख्यान :- कषायवश, मन - वचन और कायसे किये, कराये गये या अनुमोदित किये गये पापमार्गों का अनुरोध करना।

(१५) शरीर प्रत्याख्यान :- मायावश बनकर सेवी गई सुकुमारता का त्याग करना।

(१६) कषाय प्रत्याख्यान :- क्रोध - मान - माया और लोभ के कुसंस्कारों का प्रत्याख्यान करना।

(१७) संभोग प्रत्याख्यान :- जीन कल्पी का स्वीकार करने के बाद मंडली व्यवहार छोड़ना।

(१८) उपधि प्रत्याख्यान :- जरूरत से ज्यादा तथा बढ़ाई गई उपधि का त्याग करना।

(१९) विरागता :- राग - द्वेष फिर से उत्पन्न न हो जाय या बढ़ न जाय इसके लिए संसार की माया को लात मार देना।

(२०) भाव सत्य :- संसार का कोई भी प्रकरण, पदार्थ, खानानप अथवा कल्पित पोझिशन में अपने मन को अशुद्ध होने न देना।

(२१) योग सत्य:- मन-वचन-काया को किसी भी समय खासकर के वैरीओं के साथ रहने पर भी वक्र नहीं बनाना।

(२२) करण सत्य:- पिंड विशुद्धि आदि उत्तर गुणों को शुद्ध रखने के लिए प्रयत्नशील रहना।

(२३) मन : समत्वाहरणताः- यानि मन को, तथा उपचार से वचन काय को चंचल होने न देना।

(२४) क्रोध त्याग :- उपचार से कषाय का त्याग।

(२५) ज्ञान सम्पन्नता :- सम्यगज्ञान में आगे बढ़ना।

(२६) दर्शन सम्पन्नताः- दर्शन और चारित्र की शुद्धि रखना।

(२७) वेदना ध्यासनताः- परिषह आदि वेदनाओं को सहन करना।

(२८) कल्याणकारकमित्र बुद्धि से मारणांतिक उपसर्गो को सहन करना।

हे देवाधिदेव ! परमतारक ! अनन्त ज्ञानिन् !

भगवान महावीरस्वमी, आपश्री आपके स्वमुख से फरमाईये कि, उपर दिये गये २८ पदों की सम्यग आरधना करनेवाले भाग्यशाली को कैसे फल मिलेंगे ? मोक्ष मिलेगा ?

गौतमस्वामी की उपर्युक्त वाणी सुनकर चराचर संसार के यथार्थवादी भगवंत ने डंके की चोट के साथ कहा कि हे गौतम ! हे तपस्विन् ! हे मोक्षाभिलाषिन् ! इन्द्रभुति, वह भाग्यशाली जरुर ही आज नहीं तो कल संपूर्ण कर्मो का नाश करके मोक्ष में जावेगा। फिर चाहे वह साधक ऐरावत, महाविदेह या भारत भूमि के पंजाब, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान या मालव प्रदेश के ओसवाल, पोरवाल, श्रीमाली या अन्य किसी जाति का हो। पैसेवाला या निर्धन हो, स्त्री हो या पुरुष हो नग्न या वस्त्रधारी हो, पढ़ा या अनपढ़ हो, श्यामवर्णी या गौरवर्णी हो, हे गौतम ! वे सब मोक्ष में ही जायेंगे, तू जरुर समझ लेना क्योंकि मोक्ष को नात-जात या रंग भेद के साथ संबंध नहीं है। और गौतम ! आप भी मोक्ष में जानेवाले

हैं यह नक्की समझना। ऐसी उदार-सत्य और पवित्र वाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए, बहुत खुश हुए तथा त्रिविध से भगवंत को द्रव्य तथा भाववंदना करके अपने आसन पर गये।

॥ शतक १७ वाँ : उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक १७ वां : उद्देशक–४

राजगृही नगरी में समवसरण में बिराजमान भगवंत को गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो! क्या प्राणातिपातादि क्रिया जीव करते हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम! प्राणातिपातादि पाप की संख्या १८ हैं। 'स्थीयतेऽस्मिन् इति स्थान्, पापाना मेव स्थानं पापस्थानम्' मन–वचन और काया से प्रमादवश होकर किये जाने वाले पाप हैं, जिसे आत्मा खुद उन क्रियाओं के साथ संबंधित होकर करता है मतलब कि शरीर के माध्यम से होती क्रियाओं का पाप आत्मा को स्पर्श करता है, इसका विशद वर्णन प्रथम भाग में दिया गया है। राजगृही नगरी के गुण शील चैत्य में समवसरणस्थ भगवंत ने कहा कि हे गौतम! प्राणातिपात यानि अन्य जीवों के प्राण का हनन करना पाप ही है, तथा धर्म; संप्रदाय या

मंत्रोच्चारण द्वारा भी किया जाता प्राणातिपात किसी भी काल में धर्म नहीं हो सकता। इस तरह ही मृषावादादि पापों के लिए भी समझना।

गौतमस्वामी के पूछने पर प्रभु ने कहा कि हे गौतम! जीवमात्र स्वयं किये हुए दुःखों को ही भुगतता है, परन्तु परकृत दुःखों को नहीं भुगतता, यावत् वैमानिक तक के दंडकों में इसी प्रकार जानना।

जीव अपनी वेदना को ही भुगतते हैं। उनमें कर्म कारण हैं और दुःख वेदना कार्य है इसलिए कार्य में कारण का उपचार करने से कर्मों का कर्ता और भोक्ता आत्मा स्वयं है, अन्य जीव के किये हुए कर्म दूसरों को कोई भी काल में भुगतने नहीं पड़ते। यह हकीकत हम महावीरस्वामी की वाणी से जान रहे हैं।

पराये के किये हुए कर्म यदि इस जीव को भुगतने पड़े तो "कृतनाश और अकृताभ्यागम" नामके दोष लग जाते हैं। जैसे कि जिन जीवात्मा ने कर्म किये हो और यदि उसे वह भुगतने न पड़े तो 'कृतनाश' मतलब कि कर्मों को भोगे बिना की स्थिति उपस्थित होगी, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता कि भोगे बिना कर्मों का नाश हो, तथा जिस जीव ने पाप नहीं किये हैं फिर भी दूसरे के कर्म भुगतने पड़ते हैं—तो उसे अकृताभ्यागम दोष लगेगा जो सर्वथा अनिष्ट है और किसे भी मान्य नहीं। इसलिए भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि जीवमात्र अपना ही कर्म भुगत रहा है।

॥ शतक १७ वाँ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक ५

इशानेन्द्र की सुधर्मा सभा कौन से स्थान ये है !

जवाब में फरमाया है, कि जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के भू भाग से उर्ध्व-चन्द्र-सूर्य ग्रह–नक्षत्र-तारों के विमानों से अनेक लाखों योजन दूर ईशान कल्प है, जो पूर्व से पश्चिम तक लम्बा और उत्तर दक्षिण तक चौड़ा है। जिसमें २८ लाख विमान हैं। बीच में अंकावपसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, जीवरुपावतंसक, इन चारों के बीच ईशानावतंसक नामका महा-विमान है। इस इन्द्र की स्थिति दो सागरोपम से कुछ ज्यादा है, शेष वर्णन द्वितीय भाग में चर्चित किया गया है।

॥ शतक १७ वाँ : उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक–६

पृथ्वीकायिक, देवलोक में पृथ्वीकायिक के रूप कैसे उत्पन्न होते हैं ?

हे प्रभो ! रत्नप्रभा नरक में रहे पृथ्वीकाय के जीव मारणांतिक

समुद्घात करके सौधर्म देवलोक में पृथ्वीकाय के नाम जब उत्पन्न होते हैं तब वे प्रथम उत्पन्न होते हैं और बाद में आहार करते हैं ? या प्रथम आहार करने के बाद उत्पन्न होते हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि हे गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों को वेदना, कषाय और मारणांतिक ऐसे तीन समुद्घात होते हैं, जिसमें अंतिम समुद्घात देश से तथा सर्व से होता है। जब सर्व से यानि कि गेन्द की तरह पूर्व के शरीर को सर्वथा छोड़ देता है तब पहले सौधर्म देवलोक में पृथ्वीकायिक के रुप से उत्पन्न होता है और फिर आहार करता है। परन्तु देश से समुद्घात करता है तब कीटक गति से समुद्घात करने पर कई प्रदेश पहले के शरीर में रह जाते हैं, इसलिए वहां आहार करके फिर देवलोक में पृथ्वीकायिक रुप से उत्पन्न होते हैं। इस तरह ईशान देवलोक में यावत् अनुत्तर विमान में और आखिर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के लिए भी जानना। साथ ही साथ दूसरी पृथ्वी से सातवीं पृथ्वीकायिक जीव के लिए भी यही समझना।

॥ शतक १७ वां उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक ७

भगवंत ने कहा कि, सौधर्म कल्पना यावत् सिद्धशिला के पृथ्वीकायिक जीव मरण समुद्घात से छट्टे उद्देशक की तरह रत्नप्रभा से सातवीं पृथ्वी तक उत्पन्न होते हैं।

॥ शतक १७ वाँ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक–८, ९, १०, ११,

उपर की तरह ही अपकायिक जीव और वायुकायिक जीव प्रथम पृथ्वी से समवहत होकर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। और देवलोक के यह दोनों जीव यावत् सातवीं में अपकाय तथा वायुकाय से क्रमशः उत्पन्न होते हैं।

॥ शतक १७ उद्देशक ८, ९, १०, ११ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक १२

एकेन्द्रिय जीव समान आहारवाले, आयुष्यवाले और साथ उत्पन्न होनेवाले नहीं हैं, शेष प्रथम शतक के दूसरे उद्देशक की तरह समझना। वे कृष्ण-नील-कापोत और तेजोलेश्यावाले होते हैं; और उनमें भी सबसे कम तेजोलेश्यावाले, अनंत गुण ज्यादा कापोत लेश्यावाले, उससे विशेषाधिक नील लेश्यावाले और उनसे भी विशेषाधिक कृष्णलेश्यावाले जीव होते हैं।

॥ शतक १७ वां : उद्देशक - १२ पूर्ण ॥

शतक १७ वां : उद्देशक - १३, १४, १५, १६, १७

सोलहवें शतक की तरह नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, वायुकुमार और अग्निकुमारों के आहार व ऋद्धि के लिए हैं।

समाप्ति वचन

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, १७ वें शतक के १७ उद्देश्य के अनुसार १७ प्रकार से संयम पालनेवाले स्व. १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म. (काशीवाले) के शिष्यरत्न, शासनदीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. के शिष्य, न्यायव्याकरण-काव्य-तीर्थ पंन्यासपद विभूषित-गणिवर्य श्री पूर्णानन्द विजय ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए, श्रुतज्ञान में लाभ के लिए, भवभवांतर में भी श्रुतज्ञान के संस्कार के उदयकाल की प्राप्ति के लिए, द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ व्याख्याप्रज्ञप्ति भगवतीसूत्र के मूलपाठ, टीका पाठ के आधार से, सामान्य बाल जीव के कल्याण के लिए सत्रह उद्देशकों से पूर्ण, सत्रहवें शतक का समापन किया है।

"शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्
सर्वे जीवा जैनत्व प्राप्नुयुः"

॥ शतक १७ वाँ पूर्ण ॥

शतक १८ वां

प्रारभ्यते :

इस शतक में निम्नलिखित १० उद्देशक हैं।

[१] जीव अपने स्वभाव से प्रथम हैं या अप्रथम ?

[२] विशाखा नगरी में भगवान समोसरे दूसरा उद्देशक ।

[३] मार्कंदीपुत्र अणगार के प्रश्न संबंधी तिसरा उद्देशक ।

[४] प्राणातिपातादि का चौथा उद्देशक ।

[५] असुरकुमार की वक्तव्यता ।

[६] गुड़ आदि के वर्णादि संबंधी प्रश्नोत्तर ।

[७] यक्षावेश से केवलज्ञानी क्या असत्य बोलते हैं ?

[८] अणगार की क्रिया के प्रश्नोत्तर

[९] भविकद्रव्य नैरयिकादि

[१०] सोमिल विप्र प्रश्नोत्तर

१. नम्रतापूर्वक समवसरण में आना।

२. पूछे गये प्रश्नों के देवाधिदेव द्वारा उत्तर।

३. आर्हत धर्म स्वीकारने के पश्चात् महावीर स्वामी ने विशाल और विस्तृत दिया हुआ देश विरति का उपदेश।

शतक १८ वाँ : उद्देशक १

जीवमात्र प्रथम हैं ? अप्रथम है ?

राजगृही नगरी में भगवान पधारे हुए हैं। प्रसन्न लोग अपने घर से निकलकर समवसरण में आकर भगवंत को वंदना - पर्युपासना करते हैं, धर्मोपदेश सुनते हैं और अपने घर जाते हैं। उसके बाद विनयावनत गौतम-स्वामी परमात्मा को वंदन नमन करके पूछते हैं कि हे प्रभो !

अपने जीवत्व की अपेक्षा से जीव प्रथम या अप्रथम है ? बहुवचन का आश्रय लें तो जीव प्रथम हैं ? सिद्ध का जीव या जीवों का आश्रय करके प्रश्न किया कि वे प्रथम हैं या अप्रथम ? प्रश्न का आशय यह है कि, भवभवांतर में अनेक भव करने के बाद भी जीव प्रथम है या अप्रथम ? अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हो उसकी अपेक्षा से वह द्रव्य प्रथम होता है; और जिनकी उत्पत्ति न हो उस अपेक्षा से अप्रथम कहलाता है। जीव किसी भी काल में किसी से उत्पाद्य न होने के कारण प्रथम नहीं है परन्तु अनादिकाल से अनंतकाल तक अनुत्पाद्य होने से अप्रथम है। इस कारण से भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! जीव अप्रथम हैं।

अनंतानंत जीवों में से कौन सा जीव किससे पहले आया ? यह प्रश्न सर्वथा अस्थान परक हैं क्योंकि जीवत्व सदैव अजन्मा होने से संसारवर्ती सभी जीव अनादिकाल से हैं। इसके लिए वे अप्रथम हैं इसकी विशेष वक्तव्यता १४ द्वार के द्वारा की गई है, वह इस प्रकार है - जीव, अनाहारक, भवसिद्धिक, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि, संयत, कषाय, ज्ञान, योग उपयोग वेद, शरीर और अपर्याप्ति।

सिद्ध के जीव प्रथम हैं क्योंकि सिद्धत्वपद किसी भी काल में प्राप्त नहीं या इसलिए वे प्रथम हैं पर अप्रथम नहीं है।

अनाहारक:-यहाँ आहार बिना के जीव अनाहारक समझना, जो सिद्ध और विग्रह गति प्राप्त जीव होते हैं। उनमें भी सिद्ध के जीव अनाहारक-की अपेक्षा से प्रथम है क्योंकि ऐसा अनाहरकत्व उन्हें ही प्राप्त हुआ है, जबकि विग्रहगति समापन्नक जीव को अनंत बार करना पड़ा है, इस अपेक्षा से वे अप्रथम हैं।

भवसिद्धिक :—अनादिकाल से जीव भवसिद्धिक होने से अप्रथम हैं। अभवसिद्धक के लिए भी वही समझना।

संज्ञीद्वार :— विकलेन्द्रियों को छोड़कर नारक से वैमानिक तक के जीव संज्ञीपन को लेकर अप्रथम इसलिए हैं कि, पूर्व भव में अनंतीबार संज्ञित्व पा चुके हैं। एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय को संज्ञित्व का अभाव है। उसी तरह असंज्ञी जीव भी अप्रथम हैं क्योंकि यह भाव भी कई बार प्राप्त हो चुका है।

असंज्ञीद्वार में नैरयिक से लेकर व्यंतर तक के संज्ञी जीव भी असंज्ञी भाव से प्रथम हैं। यह बात भूतपूर्व न्याय से जाननी क्योंकि असंज्ञी जीवों का उत्पाद व्यंतर तक के संज्ञी जीवों में भी होता है। पृथ्वी आदि के असंज्ञी जीव, असंज्ञी भाव से अप्रथम हैं। जबकि सिद्ध के जीव प्रथम हैं क्योंकि यह भाव उन्हें पहली ही बार मिला है।

सलेश्य:— जीव आहारक की तरह अप्रथम हैं सिद्ध, अलेश्याभाव से प्रथम हैं।

सम्यग्दृष्टि:—इस भाव से जीव प्रथम और अप्रथम भी हो सकता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जब पहली बार सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब उसे प्रथम समझना। और वमन किया गया सम्यक्त्व दूसरी बार प्राप्त करें तो उस अपेक्षा से उन्हें अप्रथम जानना। एकेन्द्रियों को छोड़ कर वैमानिक जीव के लिए उपर्युक्त बात ही है। क्योंकि उन्हें सम्यक्त्व

नहीं हैं। विकलेन्द्रियों को सास्वाद गुणठाणे की अपेक्षा से अपर्याप्तावस्था में सम्यक्त्व होता है। इस कारण से सूत्र में एकेन्द्रियों को छोड़ दिया है शेष दोनों जीव हैं।

सिद्ध:—सम्यग्दृष्टि भाव से प्रथम है क्योंकि सिद्धत्व, सच्चरित्र, सम्यग्दर्शन, मोक्षगमन प्रथम प्राप्त होता है।

संयतद्वार:— एक और बहुवचन का आश्रय करके शायद प्रथम और अप्रथम हो सकता है। दूसरे अनेक जीवों की अपेक्षा से जीव प्रथम और अप्रथम होते है। असंयत जीव अप्रथम है।

इस तरह संयत पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य एक और बहुवचन की दृष्टि से प्रथम और अप्रथम होते हैं। प्रथम बार देशविरति की अपेक्षा से प्रथम और भवभ्रमण में अप्रथम होता है। यानि कि इस भव से पहले भी जीव ने देशविरति प्राप्त की है।

कषायद्वार:— अनादिकाल से जीव कषायी होने से अप्रथम है। जब कि अकषायी जीव यथाख्यातचरित्र की प्रथम प्राप्ति में प्रथम है और दूसरी बार यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा से अप्रथम है।

सिद्ध के जीव प्रथम हैं।

ज्ञानद्वार:— सम्यगदृष्टि की तरह ज्ञानी भी प्रथम और अप्रथम है, केवलज्ञानी, केवलज्ञान की अपेक्षा से प्रथम है। शेष जीव ज्ञान की प्रथम प्राप्ति की अपेक्षा से प्रथम और पुनः प्राप्ति के कारण अप्रथम हैं।

सयोगी जीव अप्रथम हैं, और अयोगी प्रथम हैं।

सवेदी जीव भी अप्रथम हैं और अवेदी प्रथम हैं।

सशरीर जीव भी अप्रथम हैं।

पर्याप्ता और अपर्याप्ता भी अप्रथम हैं।

दोनों उपयोगवाले जीव अप्रथम हैं।

चरमाचरम की वक्तव्यता :

चरम यानि जिसका सर्वदा अंत हो वह और अचरम का अंत नहीं होता है।

जीवमात्र अपने 'जीवत्व' की अपेक्षा से नाश नहीं होता इसलिए वह अचरम है। सिद्धात्मा भी अचरम है।

नारक कदाचित् नरकगति में से निकलकर मोक्ष में जाय उस अपेक्षा से चरम अर्थात् उसे नरक में जाना नहीं है; और अन्य सब नारक अचरम हैं। यावत् वैमानिक तक के दंडकों के लिए जानना।

आहारकपद में शायद अन्य समय में मोक्ष में जाय उससे वह चरम शेष अचरम।

सिद्धशाला में जाने से जीव के भव्यत्व का नाश होता है इसलिए भवसिद्धिक चरम है, अभवसिद्धक अचरम है।

संज्ञी और असंज्ञी को आहारक की तरह जानना।

लेश्यावालों को भी आहारक की तरह समझना।

सम्यग्दृष्टि द्वार में यह जानना है कि, सम्यक्त्व से पतन पाने के बाद भी फिर से सम्यक्त्व मिलेगा इस अपेक्षा से अचरम और सिद्ध सम्यग्दृष्टि दर्शन से गिरते नहीं इसलिये चरम है सम्यग्दृष्टि नारकों को भी फिर से सम्यक्त्व पाने का नहीं है इस अपेक्षा से चरम, शेष अचरम।

मिथ्यादृष्टिओं को आहारक की तरह जानने, यानि कि निर्वाण

पायेंगे, उस मिथ्यादृष्टि से चरम, शेष अचरम।

मिथ्यादृष्टि नारक फिर से मिथ्यात्व के साथ नरकत्व को पाये नहीं उन अपेक्षा से चरम, शेष अचरम।

जो फिर से संयत नहीं होते वे उस अपेक्षा से अचरम हैं।

असंयतों को आहारक की तरह समझना।

सकषायी जीव भी आहारक की तरह जो निर्वाण पायेंगे वे चरम हैं; ज्ञानी सम्यग्दृष्टि की तरह ही जानना।

शतक १८ वां : उद्देशक १ पूर्ण

शतक ११ वां ; उद्देशक - २

कार्तिक शेठ का कथानक :

विशाखा नामक नगरी में 'बहु पुत्रिक' नाम का चैत्य था। वहाँ एक दिन भगवान महावीरस्वामी पधारे और देवनिर्मित समवसरण में विराजमान हुए। पर्षदा आई और धर्मोपदेश हुआ।

उस वक्त हाथ में वज्र धारण किये, पहले देवलोक के शक्रेंद्र भगवान के समवसरण में आये, वन्दना - नमन करके इस प्रकार की नाट्य-विधि की। उनके साथ आभियोगिक देव भी थे : नाट्य-विधि समाप्त करके वे अपने विमान में बैठकर जहां से आये थे वहां चल दिये।

गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो! यह इन्द्र महाराज कौन थे? इन्द्रपद किस तरह मिला? उनकी इतनी बड़ी ऋद्धि के पीछे कौनसा कारण है।

श्रावकधर्मी कैसा हो?

जवाब में भगवंत ने कहा कि गौतम! हस्तिनापुर नगर में कार्तिक नामक एक धनाढ्य शेठ था। जिनका बहुत बड़ा व्यापार-रोजगार था, अच्छी इज्जत थी। यावत् वह शेठ किसी से भी कम नहीं होने से अन्य धर्मवाले तथा संप्रदायवालों से पराभव न पानेवाला था। विशेष में सभी व्यापारीओं में शेठ का नाम आगे था इसलिए सभी जगह उनका स्थान प्रथम रहता था वे अपनी श्रीमंताई के मालिक नहीं लेकिन ट्रस्टी थे दोनों में इतना ही फर्क है कि मालिक अपनी श्रीमंताई का उपयोग अपनी गृहस्थाश्रमी को सजाने में करता है और अपने जात भाई आदि की गरीबी की परवाह नहीं करता है। व्यवहार, इज्जत और बड़प्पन के लिए अपने पुत्र-पुत्रीओं का शीघ्र ब्याह करने के लिए १५, २० हजार करके भी समाज के पास से मान सम्मान और संघवी जा इल्काब भी अपने स्वार्थ के लिए परिधान करता है। इस प्रकार का श्रीमंत द्रव्यदया का मालिक बन सकता है, लेकिन भावदयालु नहीं होता है और जो कुछ भी करेगा, उसमें अपना स्वार्थ ही देखेगा। अपने स्वार्थ की लक्ष्मणरेखा का उल्लंघन नहीं कर सकता है।

जब कि पूर्व पुण्य के उदय से मिली श्रीमंताई पर ट्रस्टीपद का हक

रखनेवाला भाग्यशाली श्रीमंत सबसे पहले अपनी अमीरी का उपयोग किसी भी प्रकार के स्वार्थ के बगैर या बदले की आशा के बगैर अपने ज्ञाति भाइयों, मुनिम, नौकर और किसानों के लाभ में करेगा। ऐसे भाग्यशाली कीर्तिदान से, गुप्तदान में ज्यादा श्रद्धा रखते हैं। अपनी जात के भाईओं के तथा स्वामी भाईयों के लिए मकान बांध देते हैं।

कार्तिक शेठ अपनी लक्ष्मी का ट्रस्टी होने से उनका वर्णन भगवती सूत्र में इसप्रकार दिया गया है। "णेगम पट्ठमासणिय" नैगम यानि वणिक समाज में कार्तिक शेठ का आसन सब से आगे था ऐसा क्यों ?

णेगमट्ठसहस्सस्य बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य कोडबेसुय एवं जहा रायप्पसेण इज्जे चिते जाव चक्खुभूए'

मतलब कि एक हजार आठ वणिकों के बहुत कारणों में, और कुटुम्बों में, वह कार्तिक शेठ सदा सावधान होकर उनका पालनपोषण करते थे। वे मानते थे कि केवल धर्म से दूसरों की सहायता करने के बजाय अपने धन से अंगत संबंधीओं के कार्य में मददरुप होना बेहतर है।

सूत्रकार सुधर्मास्वामी खुद रायपसेणी सूत्र में दिये गये चित्रसारथी के अनुसार कार्तिक शेठ के जीवन को जानने की सिफारिश करते हैं। चित्रसारथी के अनुसार कार्तिक शेठ राज्य के हित की चिंता में, परस्त्रीगमन जैसे जघन्य पापों को रोकने में, बालहत्या या गर्भहत्या जैसे हलके प्रकार के पापों का त्याग करवाने में तथा अपने संबंधीओं द्वारा किये गये लोकविरुद्ध क्रियाकर्मों के प्रायश्चित आदि की शुद्धि में अग्रसर थे। सब में सुखी थे। इस प्रकार का जीवान बिताते हुए शेठ सब को प्रिय थे, श्रमणों के उपासक थे, और जीवाजीवादि तत्वों के अच्छे जानकार थे तथा तपकर्म द्वारा अपने आत्म को भावित करते थे।

मुनिसुव्रत स्वामी तीर्थंकर का आवागमन :

उस वक्त बीसवे मुनिसुव्रत स्वामी तीर्थंकर चतुर्विध संघ के साथ

एक गांव से दूसरे गांव विहार करते हुए हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे, देवाधिदेव परमात्मा का आगमन सुनकर मानवसमूह अपने अपने घर से निकलकर समवसरण में आये । उसी समय कार्तिक शेठ भी स्नान करके, अमूल्य वस्त्र पहनकर, नये आभूषण परिधान करके समवसरण में आये ! हस्तिनापुर के मध्य भाग से होकर कार्तिक शेठ समवसरण में आये और तीन प्रदक्षिणा करके मन-वचन और काया से पर्युपासना करते हुए योगासन पर बैठे । उसके बाद भगवंत ने संसार विमुक्ति की, पाप प्रदर्शनी की ओर वैराग्यवर्धकी धर्मोपदेशना दी । जिसे सुनकर हृष्टतुष्ट हुये कार्तिक शेठ ने भगवंत को कहा कि हे प्रभो ! आपश्री का निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य स्वरुप है । मुझे भाया है । इसलिए १००८ वणिकों को पूछकर तथा गृहस्थाश्रम का भार पुत्रादि को सौंपकर आपश्री के चरण में दीक्षा लेने की भावनावाला हुआ हूँ ।

भगवंत ने कहा कि धर्म के कार्य में विलंब नहीं करना ।

उसके बाद शेठ को भगवंत ने इस तरह कहा तब बहखुश हुआ, चित्त प्रसन्न हुआ, भगवंत को बार बार नमन करता है, वंदना करता है, और वंदना नमन करके प्रभु के पास से सहस्राम्र वन में आया वहां से बाहर होकर हस्तिनापुर में अपने मकान की जगह पर सब वणिकों को बुलाकर कहा कि हे देवानुप्रियो ! अरिहंत परमात्मा की वाणी सुनकर, वैराग्यावासित मैं प्रव्रज्या धर्म स्वीकार ने की इच्छा रखता हूं । तो आप सब क्या करना चाहते हैं ? कौनसा व्यवसाय करेंगे ? आप सब की अंतर्गत इच्छा क्या है ? और आप में कौनसी शक्ति है ? सारांश कि मेरी दीक्षा के बाद आप सब क्या करेंगे ?

शेठजी की बात सुन उन्होंने जवाब देते हुये कहा कि हम भी संसार से उद्विग्न हुए हैं, इसलिए आप के साथ ही दीक्षा ग्रहण करेंगे ।

तब प्रसन्न हुए शेठजी ने कहा कि जब ऐसा ही है तो आप घर जाइये और अपने पुत्रों को घरसौंप कर आडंबर के साथ मेरे साथ आओ जिससे

हम सब मिलकर अरिहंत के पास दीक्षा लें। वणिक अपने घर जाकर, व्यवहार का कार्य सब पूर्ण करके, आडंबरसहित कार्तिक शेठ के पास आये और सब बड़ी ऋद्धि समृद्धिपूर्वक जयजयकार करते हुए मुनिसुव्रतस्वामी के पास आये, वन्दन नमन करके, प्रभु से कहा "जन्म-जरा और मृत्यु के भयंकर रोगों से सारा संसार व्याप्त हैं, चारों ओर से काम-क्रोध--मान--माया और लोभ, जीवमात्र को सता रहे हैं; इसलिए हम दुःखरुप संसार को तिलांजली देकर आपके चरणों में दीक्षित होना चाहते हैं।' उसके बाद भगवंत ने सब को दीक्षा दी और धर्मोपदेश देते हुए भगवंत ने कहा कि, हे देवानुप्रियों ! आप आज से संयमधर्मी हुए हैं, इसलिए १७ प्रकार के संयम को सुरक्षित रखने के लिए - उपयोगवंत रहना। आज से आप मुनि हैं। इसलिए मौनधर्म को संयम का मौलिक कारण जानकर उसमें मस्त रहना और संसार में रहे छकाय जीवों की रक्षा को अपना धर्म समझना। अष्ट-प्रवचन माता, संयम बढ़ानेवाली है, अतः उसके जतन में हमेशा जागृत रहना। नव ब्रम्हचर्य का बख्तर, सम्यग् ज्ञान की तलवार, चारित्र की ढाल के प्रति कभी भी बेध्यान मत होना। और उपयोगपूर्वक रहना।

भगवंत की तथ्यवाणी सुनकर वे सब मुनि संयमभाव में स्थिर हुए।

कार्तिक शेठ (मुनि) अष्ट प्रवचन माता के पालन में, ब्रम्हचर्य की नववाड में स्थिर हुए और स्थविरों के पास से सामायिक से लेकर यावत् १४ पूर्व के ज्ञाता हुए तथा छठ - अठम - चार दशं आदि तपश्चर्या से भावित होकर १२ साल तक संयम पालकर एक माह की संलेखना करके ६० भक्तों का अनशन किया। और काल धर्म पाकर सौधर्म वितंसक विमान में उपपात सभा में इन्द्र के नाम से जन्मे हैं। जहां दो सागरोपम की स्थिति है।

॥ शतक १७ वां : उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक १८ वां : उद्देशक–३

मार्कंदीपुत्र अणगार के प्रश्न :

औपपातिक सूत्र में वर्णन की हुई चंपानगरी की उपमा को धारण करनेवाली राजगृह नामक नगरी थी, गुणशीलक नामका चैत्योद्यान था। भगवान महावीरस्वामी उस नगरी में पधारे, समवसरण की रचना हुई, पर्षदा आई, धर्मोपदेश हुआ।

उस वक्त श्रवण भगवान महावीरस्वामी के मार्कंदीपुत्र अणगार थे। जो स्वाभाव से भद्रपरिणामी, उपशांत, क्रोध - मान - माया और लोभ को बारीक करनेवाले; मार्दव तथा आर्जव गुण को आत्मसात् करनेवाले, गुरु की आज्ञा से संयमधर्म पालनेवाले, तथा विवेकपूर्वक की पर्युपासना करने वाले थे। एक दिन भाषा समिति को सुरक्षित रखनेवाले उस मुनि ने समवसरण में आकर वंदन नमनपूर्वक पूछा कि–

स्थावर जीव मनुष्यावतार पाकर मोक्ष में जाता है ?

हे प्रभो ! पृथ्वीकायिक, अपकायिक और वनस्पतिकायिक जीव कापोतलेश्या में रहने पर वहां से मरण पाकर क्या मनुष्यावतार को पा सकते हैं ? शुद्ध सम्यकत्व मिल सकते है ? आखिर घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जानेलायक हो सकते है ? सारांश कि कापोत लेश्यावाले पृथ्वीकायिक जीव निरंतर मनुष्य अवतार में आकर यावत् निर्वाण पा सकते हैं ? इस तरह अपकायिक और वनस्पतिकायिक लिए भी प्रश्न समझना।

जवाब में चराचर संसार के जीवमात्र के प्रति सर्वथा निष्पक्ष, यथार्थ-

वादी, भगवंत ने कहा कि हे मार्कंदीपुत्र अणगार । वे मानवभव स्वीकार कर सब कर्मों का क्षय करके निर्वाण होते हैं। कृष्णलेश्यावाले भी तीन प्रकार के जीव मानवभव स्वीकार के मोक्ष पाने के लिए भाग्यशाली बनते हैं। जब कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव वहां से मरकर सीधे मनुष्य अवतार को पाने योग्य नहीं हैं। दंडक प्रकरण की गाथा में भी कहा गया है कि मनुष्य गति के लिए चार गति सर्वथा खुली है कि जबकि अग्निकाव और वायुकायिक मनुष्य भाव को पाने में असमर्थ हैं।

भगवंत के पास से खुशखुशाल होकर वह मार्कंदीपुत्र मुनि, जिस जगह अन्य मुनिराज बिराजमान थे वहां गया और भगवंत ने दिया हुआ जवाब कह सुनाया, लेकिन, भगवंत के स्वमुख से प्रत्येक प्रश्नों के उत्तर सुनने की श्रद्धावाले मुनि, मार्कंदीपुत्र मुनि की बात को सच नहीं मानकर परमात्मा के पास आये और पूछा कि हे प्रभो ! जो बात मार्कंदीपुत्र मुनि नेक ही है वह क्या सच है ? ऐसा हो सकता है ? भगवंत ने कहा कि हे मुनि ! मार्कंदीपुत्र मुनि की बात सच हैं। उसके बाद वे श्रमण मुनि के पास आते हैं; और सविनय क्षमा चाहते हैं ।

चरमकर्म की वक्तव्यता :

उसके पश्चात् मार्कंदीपुत्र मुनि उत्थान शक्ति से खड़े हुए और महावीर प्रभु को वंदन नमन करके पूछा कि, हे प्रभो। भावितात्मा केवली अपने जीवन में रहे वेदनीय, गोत्र और नाम कर्म को वेद रहे हैं, यानि कि बांधे हुए कर्मों के रस का अनुभव कर रहे हैं, उसके बाद प्रदेश और विपाक से निर्जरा होती है। इस तरह तीन अघाती कर्मों की अंतिम क्षण तक पहुंचकर औदारिकादि शरीर को तिलांजलि दे रहे हैं। वे क्या उस आयुष्य कर्म के अंतिम समय में वेदन किये जाते कर्म 'चरम' कहलाते हैं ? और पूर्व के तीन कर्मों का वेदन होने से, कर्म सूक्ष्म होने पर क्या सूक्ष्मलोक को अवगाहित कर रहे हैं ?

भगवंत ने जवाब 'हां' में दिया है।

यहां प्रश्न और उत्तर एक समान होने से प्रश्न ही उत्तर के रूप में हैं।

निरतिशय छद्मस्थ दो मुनिओं की निर्जरा को जानते हैं ?

उसके बाद मार्कंदीपुत्र मुनि ने भगवंत को निरतिशय छद्मस्थ के बारे में पूछा है और सूत्रकार ने प्रज्ञापाना सूत्र के १५ वें पद के इन्द्रिय उद्देशक में जिस तरह कहा है, उस तरह ही जान लेने की सिफारिश की है। सारांश कि दो मुनिओं के निर्जरा के पुद्गल में रहे भेद को निरतिशय छद्मस्थ जानता नहीं है लेकिन जो विशिष्ट अवधिज्ञानी है वह निर्जरा के भेद को जानता है देखता है। देवों में भी विशिष्ट अवधिज्ञानी देव; उस भेद को जानते हैं पर साधारण देव नहीं जानते। जब कि सात नरक, दश भवनपति, पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि निर्जरा के सूक्ष्मम पुद्गलों को जानते नहीं हैं - देखते है।

बंध की वक्तव्यता :

मार्कंदीपुत्र मुनि के पूछने पर भगवंत ने कहा कि बंध के दो प्रकार हैं। (१) द्रव्यबंध और (२) भावबंध

स्नेहपाश आदि से अथवा द्रव्यों का अन्योन्य बंध हो, उस द्रव्यबंध को प्रयोग और विस्रसारुप से दो भेद में जानना है। दोरी आदि के प्रयोग से जो बंध हो उसे प्रयोग बंध कहते हैं। और स्वाभाविक रुप से बदल आदि के बंध को विस्रसाबंध कहा है। उसमें विस्रसा के सादिक और अनादिक दो भेद हैं। बादल आदि का सादिकबंध कहा है और धर्मास्ति कायादि का पारस्परिक बंध अनादि का है।

प्रयोगबंध भी शिथिल और गाढ़ रुप से दो प्रकार का है। भावबंध के दो प्रकार हैं। मुख्य प्रकृति बंध और दूसरा उत्तर प्रकृतिबंध मिथ्यात्वादि के कारण जीव के साथ कर्मो का बंध होता हैं उसे भावबंध कहते हैं।

नारकों से यावत् वैज्ञानिक तक के दंडकों में दोनों बंध जानने। मूल और उत्तरकर्म प्रकृतिओं का ज्ञान कर्मग्रन्थादि से समझ लेना।

पापकर्मों में भेद की वक्तव्यता :

मार्कंदीपुत्र मुनि ने पूछ कि हे प्रभो! जीव ने बांधे, वर्तमान में बधते और भविष्यकाल में बंधे जाने वाले तीन काल के कर्मों में क्या भिन्नता है?

परमात्मा ने 'हा' में जवाब देते हुए कहा कि जैसे कोई आदमी धनुष्य को हाथ में लेता है, उस पर तीर रखता है, दोरी कान तक खिंचता है और ऊपर देखकर तीर फेंकता है, अब आकाश की ओर जाते हुए उस बाण की प्रथम समय की क्रिया में जो फर्क है उससे दूसरे समय में यावत् अंतिम समय की क्रिया में फर्क स्पष्ट दिखता है; उसी तरह जीव के प्रति-समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न होने से उसके पापकर्म भी भिन्न भिन्न हो वह स्वभाविक है।

नारकों की आहार वक्तव्यता :

पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगवंत ने कहा कि नारक जीव, जिन पुद्-गलों का आहार के लिए स्वीकार करते हैं और उनमें से असंख्य भागरुप

में उनका आहार करते हैं और अनंत भागरुप पुद्गलों का आहार नहीं कर सकते।

वैमानिक देव भी ग्रहण किये असंख्य पुद्गलों में से असंख्य भाग ग्रहण करते हैं और अनंत भाग छोड़ देते हैं।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक १८ वाँ : उद्देशक–१

जीव के परिभोग में क्या क्या आता है ?

राजगृही नगरी में गौतमस्वामी ने पूछा कि, हे प्रभो !

(१) प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यात्वशल्य

(२) प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विरमण

(३) पृथ्वीकायिक जीव यावत् वनस्पतिकायिक जीव

(४) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय

(५) सिद्ध के जीव

(६) परमाणु पुद्गल

(७) शैलेशि प्राप्त अणगार

(८) विकलेन्द्रि जीव

उपर्युक्त आठ संख्यकों में जो जीवरुप हैं, अजीव रुप हैं, वे सब क्या जीव के परिभोग में आते हैं ? यानि कि इन सब का परिभोग जीवात्मा कर सकता है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! उनमें से कई जीवों के परिभोग में आते हैं और कई नहीं आते । कारण देते हुए कहा है कि, प्राणातिपातादि यावत् मिथ्यात्वशल्य विरमण तत्व, जीव के शुद्ध स्वभावरुप होने से चारित्रमोहनीय कर्मोदय के कारणभूत या कार्यभूत नहीं । इन कारणों से किसी भी जीव के परिभोग में नहीं आते । धर्मास्तिकायादि तीन तत्व सर्वथा अमूर्त होने से तथा पुद्गल परमाणु सूक्ष्म होने से किसी के परिभोग में आ नहीं सकते । तथा शैलेशी प्राप्त अणगार और सिद्ध जीव उस समय किसे भी उपदेश द्वारा प्रेरणादि न करने पर परिभोग्य नहीं है । इसलिए जीव के परिभोग में नहीं आते ।

जब कि प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यात्व शल्य जीव के अशुद्ध स्वभाव रूप होने से, जिस समय कोई भी जीव प्राणातिपात, मृषावाद मिथ्यात्वशल्यादि अठारह पापों का सेवन करता है, तब उस जीव को चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होता । इस कारण से प्राणातिपातादि जीव के परिभोग में आता है ।

जनक और जन्म स्थान में रहे भवभवांतर के किये चारित्रमोहनीय कर्म के कारण जीव हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, परिग्रह की माया, क्रोधादि कषाय-राग, द्वेष, पैशून्य, परिवाद, अभ्याख्यान, माया मृषावादादि पाप करता है, और वे पाप करने से जीव बारबार चारित्रमोहनीय

कर्म का उपार्जन करता है। इस कारण से प्राणातिपातादि जीव के परिभोग में आता है।

स्थावर जीवों का परिभोग सब किसी को सर्वथा स्पष्ट है। जिन्हें रहने के लिये हवेली, घड़, पत्थर, हीरे, सुवर्ण चांदी, तांबा-पित्तल आदि जो काम में आता है, वह और अन्य असंख्य पदार्थ पृथ्वीकायिक जीव के कलेवर हैं।

कुआ - बावड़ी - नल या वर्षादि द्वारा अपकायिक जीवों का परिभोग होता है। जिससे स्नान, रसोई, कपड़े, धोना, घर धोना, बर्तन साफ करने आदि क्रियाओं में उन जीवों का परिभोग हरएक करता है।

चूल्हा, सिगड़ी, प्रायमस या गैस आदि से उत्पादित अग्निकायिक जीवों का परिभोग स्पष्ट है।

बिजली पंखा, हाथ पंखा या रुमाल द्वारा वायुकायिक जीवों का परिभोग होता है।

गेहूँ, चना, बाजरी, मकाई, मग, मठ, चावल, भाजीपाला, सब्जी फल आदि तथा रहने के मकान में खिड़की दरवाजे तथा कुर्सी, टेबल, सोफा आदि और पहनने के सुतराउ कपड़े द्वारा वनस्पतिकायिक जीवों का परिभोग होता है, जो वनस्पतिकायिक है। पुस्तक–पन्ने, आदि में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वनस्पतिकाय के पुद्गल होते हैं। इत्यादि असंख्य प्रकार से जीवमात्र को पृथ्वीकायिक जीवों का उनके कलेवरों का परिभोग स्पष्ट है। उनके बिना जीव को जिंदा रहने में बहुत मुसिबत हैं, अथवा बिना मौत मरने के सिवा कोई चारा नहीं।

'प्रकृति' जब इतनी सारी उदार है, जीवनोपयोगी सभी चीजों को वक्त वक्त पर हाजिर करती है, तब मनुष्य भी सच्चे अर्थ में आदमी बन कर मानवता का विकास करके, दूसरे मानव भी मेरे भाई हैं यह समझकर

दया भाव रखकर, परिभोग में आनेवाली वस्तुओं के प्रति निर्ध्वंसभाव-निर्दयभाव या राक्षसीय भावों को त्याग कर अनिवार्य रुप से ही वस्तुओं का परिभोग करें तो संसार में अमृत तत्व के प्रसारण में या मैत्रीभाव की साधना में कहीं भी दिक्कत न हीं आती है। जैसे कि :—

(१) अपने कुटुंब के पोषण या रक्षण के लिए दो - तीन - चार कमरे का मकान यदि आपके पास हो तो दूसरे मकान के लिए आशा रखकर मानव जात में वैषम्यवाद बढ़ाने का निरर्थक पाप करना बेकार है।

(२) दो तीन लोटे या एक बाल्टी पानी से यदि आपका स्नान हो सकता है तो नल के नीचे घंटे दो घन्टे बैठने की क्या जरुरत है ? उपयोग के बिना नल खुला छोड़कर पाप की गठरी आपके सिरपर क्यों उठाते हो ?

अप्काय या वायुकाय का उपयोग यदि मश्करी या मौज-शौक की खातिर किया गया हो तो निरर्थक होनेवाली उन जीवों की हत्या से आपकी आत्मा भारी हुए बगैर कैसे रह सकती है ?

वनस्पति काय के प्रति मर्यादा छोड़ देने से तुम्हें कितना नुकसान होगा उसका हिसाब गुरु महाराज के पास बैठकर आप करेंगे क्या ?

इसी कारण से भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि भाव दयापूर्वक अनिवार्य का परिभोग करना पड़े तो बात अलग है। लेकिन निर्ध्वंस परिणामवाले होकर यदि संसार में रहोगे तो हर कदम पाप है। जिससे भवांतर बिगड़के ही रहेगा।

कषायों की निर्जरा की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! कषायों की संख्या कितनी है ?

जवाब में भगवंत ने क्रोध–मान - माया और लोभ यह चार कषाय

कहे हैं । उस संबधी शेष बात प्रज्ञापना में देख लेने की सिफारिश की है । वहां कषायों के भेदानुभेद बताये गये हैं; उसके बाद आठ कर्मों के भूत भविष्य और वर्तमानकाल का आश्रय करके, उनका चय-उपचय, बंध, उदीर्णा वेदना और निर्जरा शब्दों का आयोजन करके उनमें से हुएँ आलापकों को इस तरह जानना ।

चार कषायों के कारण जीव आठ कर्मों का चय करता है, किया है, और करेगा ।

उपचय करता है, किया है और करेगा ।

बंधन किया है, करता है, और करेगा ।

उदीर्ण करता है, किया है और करेगा ।

वेदन करता है, किया है और करेगा ।

उसी तरह निर्जरण किया है, करता है और करेगा ।

वैमानिक के लिए भी उपर की तरह जानना । नारकों को आठ कर्मों का उदय रहता है और उदित कर्म निर्जरा को पाते हैं ।

सारांश कि जीवमात्र को सत्ता में रहे हुए और किसी भी कारण से अपने आप उदय में आये हुए चार कषाय का वेदन होकर वे निर्जीर्ण होंगे । इससे उदय में आये हुए कर्म निर्जरा होते हैं । इस प्रश्नोत्तर का इतना ही सार है कि प्रवाहबद्ध कर्म प्रतिसमय उदय में आते हैं । और निर्जरित होकर आत्मप्रदेश से विमुख होते हैं । उस समय जीवात्मा को यदि मोह मिथ्यात्व-माया या संसार प्रति का राग होगा तो पहले के उदय हुए कषायों का नाश होगा लेकिन दूसरे भयंकर कर्मों की लायकात खड़ी करके समाप्त होंगे ।

युग्म कितने है ?

जवाब में भगवंत ने चार युग्य कहे हैं- वे इस तरह हैं :- कृतयुग्म त्र्योजयुग्म, द्वापरयुग्म और कल्योजयुग्म ।

यह चार पारिभाषिक शब्द होने से युग्म और ओज [का अर्थ संख्या वाचक जानना । अन्यथा गणित शास्त्र में युग्म यानि समसंख्या (दूहरी संख्या) और ओज यानि विषम इकहरी संख्या होती है ।

इस प्रश्नोत्तर में दोनों संख्यावाचक हैं, भावार्थ इस तरह है ।

संख्या चाहे लिखी जा सके या नहीं, लेकिन जिनमें से चार-चारकी संख्या को कम करते हुए शेष चार रहने पाय वह कृतयुग्म कहलाता है । जैसे १६, ३२, ६४, १२८ आदि से लेकर पल्योपम या सागरोपम भी हो पर शर्त यही कि उनमें से चार-चार संख्या बाद करने से शेष चार की संख्या ही रहने पाये ।

उपर की तरह ही चार-चार को कम करते हुए शेष तीन रहें तो वह त्रयोज कहलायेगा । जैसे १५, १९, २३, २७ आदि ।

शेष दो की संख्या रहें तो वह द्वापरयुग्म कहलाता है । जैसे ६, १०, २२ आदि ।

एक शेष रहेगा तो उसे कल्योज कहते हैं । १३, १७ आदि । इस कारण से मैंने कहा है कि इन चारों को संख्यावाचक समझना ।

नारक क्या कृतयुग्म हैं ?

जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम की अपेक्षा से भगवंत ने कहा कि जघन्य पद से नारक कृतयुग्म हैं, उत्कृष्ट पद त्रयोज राशि का हैं और मध्यमपद

से चार राशिवाला हैं।

असुरकुमारों से स्तनित देवों को उपर की तरह जानना।

वनस्पतिकायिक जघन्यपद से सामान्यतः १ अपद है। और नियत संख्या होने से उत्कृष्ट पद से भी अपद हैं। क्योंकि परंपरा संबंध से वनस्पति कायिक मोक्ष में भी जाते हैं। इसलिए जघन्य और उत्कृष्टपद की संभावना नहीं है, क्योंकि नियत संख्यारुप जघन्यपद और उत्कृष्ट कालांतर में भी नारकादि में संभव होता हैं, इसलिए संख्या अनियत होने से जघन्य और उत्कृष्ट पद से नहीं होता। इसलिए इन अपेक्षा से इन्हे अपद कहैं हैं। लेकिन मध्यमपद से उनका चार राशि में समावेश हो सकता है।

दोइन्द्रिय जीव अत्यंत स्तोक होने से जघन्यपद से कृतयुग्म हैं, उत्कृष्टपद से द्वापरयुग्म राशि रूप हैं और मध्यमपद में चार राशि में हैं। तीन और चार इन्द्रिय जीव के लिए भी उपर की तरह जाना। जहां कि वनस्पति को छोड़कर शेष स्थाकर दोइन्द्रिय को तरह समझना और शेष नरकों की तरह जानना।

अंधक का अर्थ वृक्ष में रहे बादर अग्निकाय का लेना और सूक्ष्म नाम कर्म के कारण अल्पायुष्यवाले होते हैं।

इस तरह भगवंत की वाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए और ध्यानावस्था में लीन हुए।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक १७ वाँ : उद्देशक--५

एक विमान के दो देवों के बीच सुदंरतादि में फर्क क्यों ?

हे प्रभो ! एक ही असुरकुमारावास में दो देव उत्पन्न हुए हों, उनमें से एक देव सुन्दर और हरक्षण देखने लायक होता है, जबकि दूसरा देव साधारण और अशोभनीय होता है, उसका क्या कारण है ? देवलोक एक हैं फिर भी देवों में फर्क क्यों ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! देवगति में उत्पन्न होनेवाले देव दो प्रकार के हैं और उन स्थान को प्राप्त करने के पूर्व भी उनके जीवन, भाषा, व्यवहार, भिन्न भिन्न होने से बंधे हुए पुण्यकर्म में भी तफावत होती है।

(१) अमायी सम्यग्दृष्टि संपन्न

(२) माया मिथ्यादृष्टि संपन्न

पहला देव है जिसने सरलता और सम्यग्दर्शन की आराधना से तीव्र रसवाला वैक्रिय नामकर्म बांधा हैं और अन्य ने शठता आदि माया मिथ्यादर्शन के सेवन से मंद रसवाला वैक्रिय नामकर्म बांधा हैं। इस तरह दोनों देव के निमित्त भिन्न-भिन्न होने से पुण्यकर्मों में भी फर्क पड़ेगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन की हाजिरी में अशुभ कर्मों को बांधने की लायकात न होने से उस साधक का जीवन अहिंसक, संयमी और तपोधर्म युक्त होता है। ऐसी अवस्था में असंख्य और अनंत जीवों को अभयदान देनेवाला और दान करनेवाला तथा तपोधर्म की आराधना करनेवाला होने

के कारण जीवमात्र का मित्र बनेगा ! जो बहुत सारे जीवों का मित्र होता है, उसके पास ही सुन्दरता दर्शनीयता, प्रशंसनीयता होती है । इससे, पहले देव की बाह्य और आभ्यंतर सुन्दरता होती है। जबकि मिथ्यादर्शनी आत्मा के पास पापमार्गों को काबू में रखने की शक्ति न हो वह स्वाभाविक है। उसका बाह्य जीवन और आंतर्जीवन हिंसक, दुराचारी और भोग-विलासी होता है । फलस्वरूप बहुत से जीवों का हनन कार्य करनेवाला होने से भवांतर में मिलनेवाली संपत्ति भी कम तेजवाली और अन्य को न भाये ऐसी अल्प मात्रा में होती है। इस तरह गौतम ! पहले नंबर का देव जब आभूषण, वस्त्र आदि धारण करता है तब वह दर्शनीय और प्रशंसनीय बनता है। व्यवहार में भी एक भाग्यशाली के शरीर पर रहे वस्त्र भूषण, चश्मा, घड़ी आदि अच्छे दिखते हैं, और वही वस्तुएं अन्य के शरीर पर नहीं शोभते हैं ।

पुण्य और पाप की यह बात अपने जीवन में हरपल देखी जाती है। इसलिये जैन शासन ने कहा है कि हे भाग्यशालिन ! जब तक आपके जीवन में पापमार्ग बंध नहीं हुए हैं तब तक पुण्यमार्गों को कभी छोड़ना नहीं। उपर की बात नागकुमार यावत् स्तनितकुमार देव के लिये जाननी है।

दो नारकों की गुरुकर्मिता किस कारण से ?

एक ही नरकवास में उत्पन्न हुए दो नारकों में से एक नारकजीव महाकर्मी और महावेदना वाला होने से पापकर्मों को भुगतता है और दूसरा और अल्पकर्मी अल्पवेदना वाला होता है ? ऐसा किसलिए ?

कारण में कहा गया है कि प्रथम नरक माया मिथ्यादृष्टि संपन्न होकर उत्पन्न हुआ है । और दूसरा अमायी सम्यग्दृष्टि संपन्न होकर जन्मा है। आज भी हम संसार के मानवों को प्रत्यक्ष कह रहे हैं कि, देवदुर्लभ मनुष्यावतार पाकर भी उनके जीवन में सम्यकत्व का प्रकाश न होने से वे

मोह, माया और मिथ्यात्व के घोर अंधकार में भयंकर गुप्त या अगुप्त प्रकार से पापकर्म कर रहे हैं। अन्य को भी प्रेरक होते हैं और दूसरों के पाप देखकर खुश हो जाते हैं। जब दूसरे आदमी ने सम्यकत्व का प्रकाश पाया होने से घर संसार में रहकर भी उदासीनभाव से सब कुछ करने को मजबूर हो जाता है और किये हुए कर्मों के लिए माफी चाहता है। इस कारण से हे गौतम! बंधे हुए पाप कर्मों में फर्क होने से पहला नारक महाकर्मी और महावेदना भुगतनेवाला और दूसरा अल्पकर्मी और अल्पवेदना को भुगतनेवाला होता है।

असुरकुमार के लिए भी ऊपर की तरह समझना मिथ्यादृष्टि संपन्न असुरकुमार देवलोकवासी होकर भी महाकर्मी, महाआश्रववाला और महावेदना को भुगतते हुए अपना आयुष्य पूर्ण करता है। जो सम्यकत्व संपन्न होगा वह असुरकुमार अल्पकर्मी यावत् अल्पवेदनावाला होता है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

उत्तर समय में मरनेवाला नरक कौनसा आयुष्य पायेगा?

प्रश्न का आशय यह है कि वर्तमान के समय का नरक जीव दूसरे ही समय में मृत्युपाकर तिर्यंच अवतार लेनेवाला हो, तो दोनों में से कौनसी गति का आयुष्य भुगतेगा?

जवाब में भगवंत ने कहा कि दूसरे समय में मरनेवाला नारक अपने पहले समय में नरक आयुष्य भुगत रहा है और तिर्यंच आयुष्य को उदयाभिमुख करता है। सारांश कि नरक के जीव को पहले समय का मृत्यु के पहले नरकायुष्य का संवेदन है और दूसरे स्थान पर जिस समय आनेवाले है, तब का आयुष्य उदय में आने की तैयारी में है।

मनुष्य के लिये भी यही समझना है।

असुरकुमार भी देवायुष्य का वेदन करते हैं और बाद में पृथ्वीकाय

में जानेवाला हो तो वहां के आयुष्य को उदयाभिमुख करते हैं। वैमानिक के लिए भी यही जानना।

पृथ्वीकायिक उस चालू भव का आयुष्य भुगतते हैं और मरके फिर पृथ्वीकाय में पुनः जाना हो तो वहां के पर्याय का आयुष्यकर्म उदयाभिमुख से भुगतते हैं।

मनुष्य भी ग्रहण किये हुए भव का आयुष्य भुगतते हैं और दूसरे समय में पुनः वहां ही जन्म लेनेवाले हो तो उस आयुष्य को उदयाभिमुख करते हैं।

असुरदेव इच्छानुसार विकुर्वणा क्यों नहीं कर सकता है ?

एक असुरकुमार अपनी इच्छा से सुन्दर विकुर्वणा करता है, जब कि दूसरा असुर उसी देवावास में रहने पर भी ऐसा क्यों नहीं कर सकता है।

जवाब में भगवंत ने कहा कि असुरकुमार माया मिथ्यादृष्टि संपन्न, तथा सम्यगदृष्टि संपन्न दो प्रकार के हैं। इनमें प्रथम नम्बर के असुरदेवों का पुण्यकर्म बहुत कम होने से हजार प्रयत्न करने पर भी अच्छे रुप की विकुर्वणा करने में समर्थ नहीं है। दूसरों का देखकर अच्छा करने जाय फिर भी विकुर्वणा में कहीं तो वक्रता, कद्रुपता आकर ही रहती है। व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई आदमी अच्छी तरह से धोती पहनी जा सके इसलिए बहुत सारा वक्त गंवाता हैं तो भी पहनी हुई धोती भद्दी ही लगेगी एक की आंख पर ऐनक अच्छी लगती है कि दूसरे व्यक्ति को देखना भाता है और दूसरे आदमी चेहरा बुरा है; जिसमें महंगी फ्रेम भी उसे शोभित नहीं है। प्रत्युत कदरूपी दिखेगी और दूसरे परोक्ष में हंसे बिना नहीं रहेंगे।

जबकि सम्यग्दृष्टि देव इच्छा से विकुर्वणा करके सर्वत्र शोभनीय बनते हैं।

नोंध :- जिनके आंतर्जीवन, कषायी विषयी और संसार की माया में डूबे होते हैं, वे अच्छा करना चाहते हैं फिर भी अच्छा नहीं होता। भला करने पर बैर बंध जाता है। क्योंकि उनके रोमरोम में पाप ही है पाप है। उसकी और भावनाएं हैं, स्वार्थ है और मायामिथ्यात्व हैं। इसलिए अच्छे का सोचने पर भी अच्छा नहीं कर सकते। कीर्ति की अपेक्षा अपकीर्ति मिलती है। क्योंकि आंतजीवन जैसे रंग से रंगा होगा, उनका संसार व्यवहार भी वैसा ही बनेगा। जबकि संसार में रहने पर भी भद्रिक, सरल और पवित्र भाववाला व्यक्ति काम कम करेगा, फिर भी अपने संसार में ज्यादा सुख-शांति तथा समाधि का स्वामी बनेगा।

मायामिथ्यात्व का सेवन करके जो असुरकुमार देव हुए हैं, उनकी आत्मा की वासना भी उनके साथ गई होने से देवलोक में अच्छेपन को पा नहीं सकते। इस कारण से ही जैनाचार्य कहते हैं कि - हे मानवों! आप आपके जीवन में क्षुद्रता, वक्रता, पापशीलता, स्वार्थांधता और उदरंभरिता को किसी भी काल में मत पोषना। अन्यथा देव जैसे अवतार में जाने के बाद भी आपका आर्तध्यान और रौद्रध्यान पल्लू छोड़नेवाला नहीं है। यानि कि इस तरह की देवगति पाप का कारण बनेगी। इसलिए मनुष्यजीवन जो जंक्शन जैसा है, उसे किसी भी तरह बिगाड़ना नहीं। जिससे उसके बाद के ५ - २५ - सैकड़ों - हजारों - लाखों या करोड़ों भव बिगड़ने न पायें।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १८ वाँ : उद्देशक ६

गुड़ आदि में वर्णादिक कितने ?

सूत्र में फाणित शब्द है जिसका अर्थ नरम गुड़ ऐसा होता है। गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! गुळ पदार्थ में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने होते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! इस प्रश्न का निर्णय निश्चय और व्यवहार से करना पड़ेगा। क्योंकि पदार्थमात्र का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए दो दृष्टि हैं। जिसके माध्यम से पदार्थ का निर्णय सत्यार्थ हो सकता है।

प्रमाण के एक देश को नय कहते हैं।

पदार्थ में एक ही धर्म (पर्याय) नहीं रहता, पर अनंत धर्म विद्यमान होते हैं। उनमें से कई धर्म अस्तित्व (विद्यमानता रुप से) और कई नास्तित्वरुप से (अविद्यमानरुप) रहे हुए हैं। ज्ञायक कई पर्यायों का जब अस्तित्व रुप से निर्णय करना चाहता है, तब उसमें शंका हो सकती है अथवा दूसरे रुप से उस पदार्थ का निर्णय करना चाहे तब उस पदार्थ में नास्तित्व रुप से रहे धर्म भी वह जानना चाहता है। क्योंकि नास्तित्व रुप से धर्मों को जानने के बाद ही अपने इष्ट पर्याय का निर्णय करने में सरलता रहती है।

व्यवहार दृष्टि को समाप्त करके सिर्फ निश्चय दृष्टि से सत्यार्थ मिलता नहीं है, और निश्चय की ओर सर्वथा आँख बंद करके व्यवहार मात्र से या आँख के देखने मात्र किया गया निर्णय भी सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि आँख पौद्गलिक होने से उसकी शक्ति मर्यादित होती है।

प्रश्न के जवाब में स्थाद्वादी भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि निश्चयदृष्टि से गुळ में पांच वर्ण, दो गंध पाँच रस और बादर स्कंध होनेसे आठ स्पर्श होते हैं। क्योंकि संसारभर का एक भी स्कंध या परमाणु - गंध - रस और स्पर्श रहित नहीं होता। अपनी आँख कमजोर हो, मतिज्ञानावरणीय कर्म की तीव्रता हो अथवा आँख में रोग हो तो गुळ में रहे पांच वर्ण नहीं दिखाई देते। उस तरह जीभ, नाक या स्पर्शेन्द्रिय में भी इन्द्रियावरण कर्म जोरदार हो तो भी पदार्थ में रहे रस आदि के निर्णय में आदमी मार खा जाता है। उससे उन द्रव्य में रहे वर्णादि का अभाव नहीं होता है।

अब सिर्फ व्यवहार से उस गुळ को देखा जाय तो दूसरे वर्णादि होने पर भी उसके प्रति उपेक्षा अथवा उस समय में जानने की अनिच्छा से ज्ञायक सिर्फ इतना ही जानना चाहता है की क्या गुळ मीठा है ? जब व्यवहार से कहा जायेगा 'हां' गुळ मीठा है। इसका अर्थ मात्र यह नहीं कि गुळ में सिर्फ मीठा रस ही होता है ! लेकिन व्यवहार की मर्यादा यही है कि अनंत पर्यायों को गौण करके सिर्फ उसमें मीठा रस है कि नहीं ? इतनी ही जानने की इच्छा उस ज्ञायक में रहती है।

भ्रमर - चतुरिन्द्रिय है और व्यवहार की दृष्टि से काले रंग का है। जब कि निश्चय से पांच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्शवाला है।

हलदी - व्यवहार से पीतवर्ण की है, निश्चय रुप से उपयुक्त वर्णादिवाली है।

शंख-व्यवहार से श्वेत है। इसलिए शंख सफेद, हलदी पीली, भ्रमर-काला, गुळ मीठा यह सब जब कहा जाता है वह सिर्फ व्यवहार की दृष्टि से कहलाता है और लौकिक भाषा झूठ नहीं होती। जब कि निश्चय-रुपसे उपर्युक्त जानना।

सुगंध द्रव्यों से बना वासक्षेप (कोष्टपुट) व्यवहार से सुगंध गुणवाला और निश्चय से उपर्युक्त जानना।

मृतक शरीर - व्यवहार से दुर्गंध और निश्चय से उपर्युक्त।

सूँठ-तिक्त रसवती और निश्चय से उपर्युक्त।

कपित्थ-कोठा तुरे रसवाला, केरी खट्टी, चीनी मीठी, व्रज कर्कश, मक्खन मृदु, लोहा गुरू, खाख रुक्ष है। यह सब भाषा व्यवहार से जानना।

परमाणु पुद्गल में वर्णादि का वर्णन :

हे प्रभो! परमाणु पुद्गल में वर्ण-गंध-रस और स्पर्श की संख्या कितनी होती है?

जवाब में भगवंत ने कहा कि उन परमाणु में पांच वर्ण में से एक वर्ण, पांच रस में से एक रस और आठ स्पर्श में से दो स्पर्श होते हैं। वह इस तरह-स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण इन चार स्पर्श में से परमाणु में विरुद्ध स्पर्श को छोड़कर, जैसे की स्निग्धत्व हो उसमें रुक्षत्व और जिसमें शीतत्व हो उसमें उष्णत्व होता नहीं, इससे दो स्पर्श कहे हैं।

द्विप्रदेशिक स्कंध के लिए कहा है कि शायद एक वर्ण या दो वर्ण होते हैं। क्योंकि दो परमाणु के संबंध से बने स्कंध में समान जाति के दो परमाणु हो उस अपेक्षा से एक वर्ण और विभिन्न जाति के हो तब दो वर्ण भी उनमें रह सकते हैं।

इस तरह आगे के लिए भी समझना। जो मूल सूत्र में स्पष्ट है।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १८ वाँ : उद्देशक ७

यक्षावेश में केवली क्या मृषाभाषा बोलते हैं ?

राजगृही नगरी में समवसरणस्थ भगवान महावीर स्वामी को गौतम स्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! अन्य मतवालों को यह कहते हुए सुना है कि, 'केवली के शरीर में यक्ष का आवेश होने पर मृषा और सत्यामृषा नामकी दो भाषा भी बोलते हैं।' मतलब कि केवलज्ञान होने के बाद शरीर में यक्ष प्रवेश करता है तब यक्ष के कारण केवली भी मृषा यानि झूठ भाषा और सत्यमृषा यानि सच्ची-झूठी बातें करता है। तो क्या उन लोगों का कहना ठीक है ? अर्थात् वे जो कहते हैं वो क्या सच है ? इसमें सत्यार्थ क्या है ? वह आपश्री श्रीमुख से फरमाईये।

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! उनका यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि केवली भगवंत को यक्ष, भूत या प्रेत हैरान नहीं करता है इसलिए हे गौतम ! केवली हरहालत में भी मृषा या सत्यमृषा भाषा बोलते नहीं हैं। लेकिन सत्यभाषा और असत्यमृषा भाषा ही बोलते हैं।

नोंध : "सति कारणे कार्योत्पत्ति :" इस न्याय से कारणों की विद्यमानता हो तब कार्योत्पत्ति होती है। झूठ भाषा या थोड़ी सच और थोड़ी झूठ भाषा बोलने में मोहनीयकर्म ही काम करता है। केवलीओं का मोहनीय कर्म सदंतर नष्ट हुआ होता है। यानि कि मोहकर्म के संपूर्ण मूलिये जब मूल में से निकल जाते हैं तब ही केवलज्ञान की प्राप्ती होती है। उससे पहले साधक कितनी भी मेहनत क्यों न करें, केवलज्ञान पा नहीं सकता।

संसार में झूठ प्रपंच के जो खेल तमाशे चल रहे हैं वह सब मोहकर्मी आत्मा के आभारी हैं । पुत्र मोह द्रव्य मोह यशकीर्ति, तथा परिवार का मोह हो, या उज्जवल वस्त्र पहनकर अपटूडेट रहने का मोह हो, थोड़े-बहुत अंश में, प्रकट या अप्रकट रूप से वह मानव असत्य बोले बगैर या व्यवहार करे बगैर रह नहीं सकता ।

मर्त्यलोक में जन्मे हुए मनुष्य भी यदि पुण्यशाली होंगे तो उनके पुण्य के कारण भी यक्ष भूतादिक कुछ भी नहीं कर सकते । तो फिर पुण्य कर्म की सीमा जहां समाप्त हो गई हो, ऐसे केवली को यक्षावेश हो नहीं सकता । प्रत्युत देव 'कोडिसय संथुअं' हर पल करोड़ करोड़ देव, जिनमें भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, भूतनी, डाकन, पिशाचन और सूर्य, चंद्र ग्रह, नक्षत्र, तारे, इन्द्र, ब्रम्हलोक देव हमेशा खड़े पैर तीर्थंकर देवों की सेवा में हाजिर रहते हैं, जिनमें से कई देव रास्ते के कांटे, कंकर, बड़े पत्थर आदि को दूर करते हैं । कई देव उस रास्ते पर सुगंधी पानी की छांट मारते हैं, कई रास्ते की दुर्गंध को हटाकर धूप आदि से उन प्रदेशों को सुगंधमय बनाते हैं । जब कि दूसरे देव ढोलक, नगारे, बंसरी आदि वाजिंत्रों से संगीत करते हुए तथा नृत्य करते हुए देव दुदुभी के नाद से चराचर संसार से कहते हैं, जगाते हैं कि हे मानवों ! "भो भो "प्रमादमवधूय भजध्वमेनम्" तुम जागो, रजाई गद्दे का मोह छोड़ो और तीर्थंकर देवों के चरणों में आकर उनकी सेवा करके मानव जीवन का लाभ लो ।

उपधि के कितने प्रकार हैं ?

गौतमस्वामी पूछते हैं कि, हे प्रभो ! उपधि के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में परमात्मा ने कहा कि हे गौतम ! उपधि तीन प्रकार से है, वह इस प्रकार कर्मोपधि, शरीरोपधि और बाह्योपधि ।

इनमें प्रथम दो आभ्यंतर उपधि हैं और अंतिम बाह्य उपधि है। इसकी व्युत्पति इस तरह है । "उपधीयते उपष्टभ्यते आत्मा येन स उपधिः" आत्मा जिनसे स्थिर हो, स्थिर किया जाय उसे उपधि कहते हैं। कर्मों के भार के कारण शरीर उपधि की तरह बाह्य उपधि भी मानव को अत्यावश्यक है। क्योंकि इसके सिवा कर्मचक्र में फँसी हुई आत्मा आर्त-ध्यान रहित हो नहीं सकती। संसार में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिनके पास मकान, वस्त्र, खुराक, बरतन या वस्त्रादि नहीं है, वे बेचारे २४ घंटे आर्तध्यान में डूबे होने से रोटी, पानी, स्त्री-पुत्र, मकान वस्त्रादि पाने के लिए आकाश पाताल एक कर रहे होते हैं । ऐसे जीव आर्तध्यान से किस तरह बचनेवाले थे। मन को स्थिर कैसे रखेंगे ?

इससे विपरीत पुण्यानुबंध पुण्य के मालिकों को भी हम जानते हैं कि वे बाह्य चीजों को पाने के बाद गुरु के प्रति श्रद्धा रखके घर में, दूध रोटी होने पर भी एकासण, आयंबिल, उपवासादि कर रहे हैं। घर में गद्दे-रजाई हैं तो भी वे संवेगपूर्वक पौषध प्रतिक्रमण करते हैं। गुरु के मुख से अरिहंत की वाणी सुनकर अपने जीवन को धन्य बनाते हैं। और दान-शील-तप और अच्छे भाव से धर्म की आराधना कर रहे हैं, कराते हैं और करनेवालों को सहायक भी बनते हैं। मंदिर जीर्णोद्धार, उपाश्रय, उपधान आदि कार्यों में आगे रहकर हाथ बढ़ाते हैं।

जबकि पापानुबंधी पुण्य के मालिक के पास द्रव्य बहुत है फिर भी उनके घर से मुनिराजों को खाली हाथ जाना पड़ता हैं और सरस्वती वचन भी सुनने पड़ते हैं। यह सब देखने के बाद अगले भव में आर्तध्यान करना न पड़े, उतने प्रमाण में धर्मध्यान की बैंक मजबूत कर लेनी चाहिए।

नारकों को महाभयंकर पापोदय होने से बाह्य उपधि का अभाव होता है। इसलिए कर्मोपधि और शरीरोपधि ही होता हैं। एकेन्द्रियों को नारक की तरह समझना। शेष दंडकों को तीन प्रकार की उपधि है।

दूसरे प्रकार से यानि सचित, अचित और मिश्ररूप से उपधि तीन प्रकार की है। नारक को तीन उपधि कही है। जैसे कि उनका शरीर सचित उपधि है। जन्म स्थान अचित है और श्वासोच्छवास मिश्र है क्योंकि शरीर सचित है और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक होने से जड़ है। इस तरह २४ दंडकों के लिए जानना।

परिग्रह भी तीन प्रकार से हैं। कर्म परिग्रह शरीर परिग्रह, और बाह्य परिग्रह।

प्रणिधान के कितने प्रकार हैं ?

भगवंत ने कहा कि मन-वचन और काय रूप से प्रणिधान के तीन प्रकार हैं।

नक्की किये हुए आलंबन में एकाग्रता रखना यह प्रणिधान है। नारक, असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार तक के जीवों को तीन प्रकार का प्रणिधान है। स्थावरों को कायप्रणिधान, विकलेन्द्रियों को वचन और काय का, और शेष को तीन जानना।

दुष्प्रणिधान भी एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियों को क्रमशः एक दो और शेष जीवों को तीन प्रकार से है।

सुप्रणिधान, मनुष्यों को तीन प्रकार से है। शेष २३ दंडकों को सुप्रणिधान न होने का कारण बताया कि सर्वविरति और देशविरति, मनुष्य को ही होने से चारित्र है। चारित्राधान है। उस कारण से मनःशुद्धि होने से सुप्रणिधान का सद्भाव है।

मद्रुक श्रावक संबंधी वक्तव्यता और चर्चा :

उस काल में राजगृही नामक नगरी थी। गुणशिलक नाम का चैत्य

था उससे थोड़ा बहुत दूर अन्य यूथिक यानि अन्य दर्शन को माननेवाले परिव्राजक वगैरह रहते थे। जो परस्पर यह चर्चा करते थे कि 'केवलज्ञान पानेवाले महावीरस्वामी पंचास्तिकाय की जो प्ररुपणा करते हैं, उसे हम कैसे सच मान लें? यह सब बात सातवें शतक के दसवें उद्देशक की तरह जाननी। वह इस प्रकार-पंचास्तिकाय में से तीन को अचेतन और अरुपी मानते हैं तथा जीव को सचेतन और पुद्गल को रूपी मानते हैं। धर्मास्ति काय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय किसे भी न दिखनेवाले पदार्थ हैं, इससे वे रूपी हैं? अरूपी हैं? यह सब बातें कैसे सुसंगत हो सकती हैं?

उस समय राजगृही नगरी में 'मद्रुक' नामका श्रमणोपासक यानि श्रावक रहता था। यावत् जीवादि तत्वों का ज्ञाता और जैन शासन का परम वफादार भक्त था।

उसी समय पर परमपावनी ज्ञानरूपी गंगा में जीव मात्र को पवित्र-तम बनाते भगवान महावीरस्वामी, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहां पधारे और अनेकानेक देशों से, दिशाओं से जनसमूह परमात्मा की वाणी सुनने के लिए आया। यह बात जब मद्रुक श्रावक ने सुनी तब उसने प्रसन्नचित होकर, स्नानादि करके वस्त्रालंकार पहन के देवाधिदेव को वंदन-नमन करने समवसरण की ओर जाने का प्रस्थान किया। जहां परमतावलंबी अपने घर के बाहर बैठे थे। उनके पास से गुजरते हुए मद्रुक को देखकर वे उनके पास गये और बोले कि हे देवानुप्रिय श्रावक। तुम्हारा धर्माचार्य श्रमण महावीरस्वामी जो अस्तिकायों के लिए बात करता है क्या यह सच हो सकती है? जवाब में श्रावक ने कहा कि कई पदार्थ का अदृश्य होने पर भी अभाव नहीं हो सकता। जैसे पर्वत की गुफा में रही अग्नि सब के लिए अदृश्य (अतीन्द्रिय) है फिर भी धूम से अनुमानित होता है। वैसे धर्मास्तिकाय अपने अपने अनुग्रहादि कार्यों से अनुमानित होते हैं। यानि

कि वे प्रत्यक्ष (चक्षुगोचर) न हो तो भी उनके कार्यों से उनके सद्भाव की सत्ता मानी जा सकती है ।

श्रावक ने यह बात स्पष्टता से समझाई जाने पर भी अभिगृहीत मिथ्यात्व के कारण से उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा । प्रत्युत कहते हैं कि हे श्रावक ! तू जिनवरदेव का उपासक है फिर भी, धर्मास्तिकाय पदार्थों की यर्थाथता को जान नहीं सकता है, तो तेरी श्रमणोपासकता भी कैसी ?

लेकिन अरिहंतों का तत्वज्ञान समझनेवाला श्रावक किसी से कम नहीं था और शांत हुए उस श्रावक ने पूछा कि :—

मद्रुक :—हे आयुष्यमंतों ! प्रत्यक्ष चलते इस वायुकाय के रूप को तुमने देखा है ? जाना है ?

अन्ययू :—हे श्रावक ! वायुकाय के रूप को हम देख नहीं सकते ।

मद्रुक :—पुद्गल में रही हुई गंध क्या घ्राणेन्द्रिय के साथ रहती हैं ?

अन्ययू :—'हां' वह गंध घ्राणेन्द्रिय के साथ रहती है ।

मुद्रुक :—उस गंधगुण को हम देख सकते हैं ?

अन्ययू :—पवन से आते हुए उस गंध गुण को हम देख नहीं सकते ।

मुद्रुक :—अरणिकाष्ठ में रहे अग्नि को आप देख सकते हैं ?

अन्ययू :—काष्ठगत अग्नि को हम देख नहीं सकते ।

मुद्रुक :—समुद्र के उस पार रहते अदृश्य पदार्थों को आप देख सकते हैं ?

अन्ययू :—समुद्र के उस पार विद्यमान अदृश्य पदार्थ होने पर भी हम देख नहीं सकते ।

मद्रुक :—देवलोक में रहे हुए पदार्थों को आप देख सकते हैं ?

अन्ययू :—वहां के विद्यमान पदार्थों को हमने देखा नहीं ।

मुदरुक :—हे आयुष्यमंतों ! मैं या आप या तो अन्य कोई भी छद्मस्थ पदार्थों को जानने या देखने के लिए समर्थ नहीं । सिर्फ उससे ही पदार्थ का अभाव कैसे मान सकते हैं ? यदि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले पदार्थों के अस्तित्व को ही सत्य मानें तो वायु और देवों का अभाव भी मानना पड़ता है । फिर भी आप वायु का, काष्ठगत अग्नि का, समुद्र के उस पार रहे पदार्थों का या देवलोक के द्रव्यों का अभाव मानने के लिए तैयार नहीं तो फिर धर्मास्तिकायादि ऐसे बहुत से पदार्थ हैं; जो अपने जैसे छद्मस्थों के लिए सर्वथा अदृश्य है । फिर भी उनके कार्यों से उनका सद्भाव मानना पड़ता है ।

उपर्युक्त बातों से अन्य यूथिकों को निरुत्तर करके मुदरुक श्रावक भगवान के समवसरण में आया और वंदन-नमन तथा पर्युपासना करके एकचित्त से खड़े रहे श्रावक को देवाधिदेव ने कहा कि हे श्रमणोपासक ! आपने आज बहुत अच्छा किया है अन्य यूथिकों को जो आपने कहा है वह अच्छा किया है – सर्वथा सत्य कहा है ।

धर्मास्तिकायादि अदृश्य होने से यदि आपने उन्हें कहा हो कि 'मैं उन अस्तिकायों को देखता हूँ अथवा संसार के बहुत पदार्थ, हेतु प्रश्न और उत्तर छद्मस्थ को अज्ञात होने पर भी, अदृष्ट होने पर भी वह यह कहे कि मैं उन्हें जानता हूँ, देखता हूँ तो वह छद्मस्थ अरिहंतों की और उनके प्ररुपे हुए धर्म की आशातना करनेवाला बनता है तत्वों को न जानने पर भी श्रोताओं को यह कहता है कि मैं उन तत्वों को जानता हूं । इसलिए हे श्रावक ! आपने ठीक किया । उन्हें अच्छा जवाब दिया है ।

भगवंत की वाणी सुनकर हृष्ट पुष्ट और तुष्ट हुआ वह श्रावक नमन वंदन करके अपने उचित स्थान पर बैठ गया । पर्षदा को भगवंत ने धर्म कहा और खुशखुशाल पर्षदा अपने स्थान पर गई ।

उसके बाद भगवंत को वंदन-नमन करके गौतम स्वामी ने पूछा कि हे प्रभो ! मद्रुक श्रावक क्या आपश्री के पास महाव्रतधारी बनेगा ? भगवंत ने ना फरमाते हुए कहा कि वह श्रावक देशविरति की आराधना करके काल करके स्वर्ग में जायेगा और वहां से महाविदेह क्षेत्र में जाकर दीक्षा लेकर सिद्ध बुद्ध यावत् निर्माण पायेगा ।

महर्द्धिक देवों की विकुर्वणा की विशेषता :

हे प्रभो ! महर्द्धिक देव क्या अपने ही शरीर में से हजारपुरुषों की विकुर्वणा करके उनके साथ संग्राम करने में समर्थ है ?

जिन देव ने अपने हजारों शरीरों की विकुर्वणा की है उन सब में जीव एक ही है या भिन्न भिन्न जीव हैं ?

जवाब में कहा गया कि हजारों शरीरों में जीव एक ही है जो सब शरीरों के साथ संबंधीत है ।

विकुर्वित हजारों शरीरों में जो अंतर है । अंतराल है । वह क्या एक ही जीव के संबंधमय है कि अनेक जीवों के संबंधवाला है ?

जवाब में कहा गया कि जिन जीव के विकुर्वे हुए हजारों शरीर हैं उनका अंतराल भी उसी जीव के साथ संबंधित है ।

बीच में रहे अंतराल में कोई जीव हाथ से, पैर से या शस्त्र से दुःख पैदा कर सकता है ?

जवाब में कहा गया है कि 'यह अर्थ ठीक नहीं' यानि कि आठवें

शतक के तीसरे उद्देशक में कहे गये अर्थ से कोई भी जीव के प्रदेशों का किसी द्वारा हनन नहीं होता मारा या काटा नहीं जा सकता।

देवासुर युध्द क्या शास्त्र संमत है ?

हे प्रभो ! देवों को तथा असुरों को परस्पर युद्ध करने का अवसर आता है ?

'हां' में जवाब फरमाते हुए भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! 'कषाय-एव संसार: स अस्त्येव संसारी' इस कारण से चार गति में रझड़नेवाले जीवों को कषाय होने से परस्पर बैर-विरोध लड़ाई आदि तत्वों का होना स्वाभाविक है। इसलिए कहता हूं कि देवों को तथा असुरों को भी कभी कभी युद्ध होता है।

शस्त्रों के लिये फरमाते हुए परमात्मा ने कहा कि देव पुण्यशाली होने से जिस समय जिन वस्तु को स्पर्श करते हैं वह शस्त्र बन जाते हैं। युद्ध करने के आशय से तृण काष्ठ आदि का स्पर्श करने से तृण शस्त्र का रुप धारण कर लेता है। जैसे दाढ़ों की थाली का स्पर्श करते ही सुभूम चक्रवर्ती के लिए वह थाली चक्र बन गई थी, वैसे देवों के लिए भी समझना है। जब कि असुरकुमार के पास वैक्रिय शक्ति से विकुर्वे हुए शस्त्र हमेशा हाजिर ही होते है। क्योंकि अन्य देवों से उनका पुण्य कम–जोर होता है।

पुण्यकर्मी होने से लवणसमुद्र को, घातकीखंड को या रुचकवर द्वीप की चारों तरफ चक्कर काटकर शीघ्र अपने स्थान पर आ जाने के लिए समर्थ हैं। उसके बाद वे देव आगे जाते हैं पर चारों तरफ फिर नहीं सकते।

देवों में कर्मों की निर्जरा :

भौतिक सुख में मनुष्य से आगे निकले हुए देव भी संसारी होने से उनके आत्मप्रदेश पर अनंतानंत कर्मों की शुभ प्रकृति रुप वर्गणा लगी हुई है। उनमें से उनकी निर्जरा का क्रम नीचे दिया गया है।

जिन कर्माशों की निर्जरा वाणव्यंतर देव एक सौ साल में करते हैं। असुरेन्द्रों को छोड़कर भवनपति देव दो सौ साल में करते हैं। असुरकुमार तीन सौ साल में, ज्योतिष्क चार सौ साल में, उनमें से सूर्य और चन्द्र पांच सौ साल में, सौधर्म और ईशान के देव एक हजार साल में, सनत्कुमार और माहेन्द्र दो हजार साल में, ब्रह्मलोक और लांतक् देव तीन हजार साल में, महाशुक्र और सहस्रार देव चार हजार साल में, आनत प्राणत और अच्युत देव पांच हजार साल में, नीचे के ग्रैवेयक देव एक लाख साल में, ऊपर के तीन लाख साल में, विजय-वैजयंत-जयंत और अपराजीत देव चार लाख साल में तथा सर्वार्थ सिद्ध देव पांच लाख साल में अनंत कर्माशों को पूर्ण करते हैं।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १८ वाँ : उद्देशक ८

उपयोगवंत मुनि को कौन सी क्रिया लगती है ?

राजगृही नगरी में समवरणस्थ भगवंत को गौतमस्वामी पूछते हैं कि, हे प्रभो ! संयम में स्थिरता को प्राप्त करनेवाला मुनि इर्यासमितिपूर्वक युगमात्रदृष्टियुक्त होकर रास्ते से जाता हो और उनके पैर तले मुर्गी या बतक का छोटा जीव आ जाय और मुनि के पैर से दबकर मर जाय तो हे प्रभो ! उस मुनि को ऐर्यापथिकी क्रिया लगेगी ? या सांपरायिकी क्रिया ? जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! उस मुनि को सांपरायिकी क्रिया नहीं लेकिन ऐर्यापथिकी क्रिया लगेगी। जिसका विशद वर्णन प्रथम भाग में किया गया।

नोंध :— क्रिया द्वारा हुए जाते कर्म का बंधन परिणाम पर रहा है, क्योंकि जहां चिकनाई हो वहां धूल जमती है पर सूखे खम्भे पर नहीं चिपकती। और यदि चिपक जाय तो भी अल्प प्रत्यन्न से गिर जाती है। उसी तरह रागद्वेष रहित जीव को क्रिया लगने पर भी कर्मबंधन नहीं होता। सर्वथा निर्दोष नौकर के हाथ से झूला अचानक टूट जाय और बच्चा मर जाय तो भी बच्चे को मारने का कतई ईरादा न होने से नौकर पर कोई केस नहीं लगता। आपरेशन थियेटर में रोगी को बचाने के लिए हजारों प्रयत्न किये जाने पर यदि वह मर जाय तो डाक्टर पर कानून की कोई कलम नही लगती। दूसरी ओर खून के इरादे से पिस्तौल लेकर किसी के पीछे पड़नेवाले को पुलिस पकड़ेगी और खून न किया हो फिर भी गुनाहगार कहलायेगा। इस तरह व्यवहार के कायदे से भी जान सकते हैं कि हत्या का भाव हो तो हत्या का पाप लगता है।

मुनिराजों का जीवन अष्टप्रवचनमाता की आराधनापूर्वक का होने से किसी भी जीव को मन-वचन और काया से मारने की भावनावाला नहीं होता। इसलिए भगवंत ने कहा कि मुनि के पैर से विराधना होने पर भी सांपरायिकी क्रिया नहीं लगती है।

गृहस्थ भी यदि सम्यक्त्व के प्रकाश में आ गया हो तो उनके निर्ध्वंस परिणाम नाबूद हो जाने से गृहस्थाश्रम की क्रियाएँ करने पर भी पाप का बंधन बहुत ही अल्प होता है और वह भी प्रतिक्रमण करने के बाद बिखर जाता है।

समदिट्ठी जीवो जइवि हु पावं समायरे किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो जेण न निद्धंधसं कुणइ॥

जैन मुनि क्या बाल है ?

उस समय में राजगृही नगरी थी। गुणशिलक नामका चैत्योद्यान था। पृथ्वीशिला पट्टक था। उनसे थोड़े बहुत दूर अन्य मत के अनुयायी (अन्य यूथिक) रहते थे।

उस वक्त भगवान महावीरस्वामी वहां पधारे, पर्षदा आई, धर्मोपदेश हुआ और सब अपने-अपने घर गये।

उस वक्त देवाधिदेव के बड़े शिष्य गौतमस्वामी दो पैर पर बैठे थे और ध्यानस्थ थे। उनके पास अन्य यूथिक आये और सापेक्षपूर्वक बोले कि 'हे आर्य! आप जैन मुनि मन वचन और काया से संयम रहित हैं! यावत् अविरत, अप्रतिहत पापकर्मी हैं, त्रिदंडयुक्त हैं, इसलिए आप एकांत बाल हैं।'

तब गौतमस्वामी ने पूछा कि 'हम किस कारण से असंयत यावत् एकांत बाल है ?

तब उन्होंने कहा कि, आप एक गांव से दूसरे गांव आवन-जावन करते हैं, उस वक्त आपके पैर तले न जाने कितने जीव कुचले जाते हैं।

इत्यादि बातों के जवाब में गौतम ने कहा कि, 'हम जब विहार करते हैं तब इर्यापमितिपूर्वक उपयोग का ख्याल रखकर चलते हैं। इसलिए जीव हिंसा का संभव हम जैन मुनिओं को नहीं है। किसी जीव को हम उपद्रवित, पीड़ित, दुखित, संघठित, परिवर्तित या स्पर्श आदि के कारण प्राणी-वध से मुक्त हैं, परंतु आप लोग असंयमी होने से धमधम करते हुए, ऊपर नीचे देखते, उपयोग रहित चलते हैं। सम्पूर्ण शरीर स्नान करते हैं, फल-भाजी तोड़कर, मसलकर, पकाकर के खाते हैं। कंदमूलादि का भक्षण करते लकड़े के खडाऊ पैर में पहनकर चलते हैं। उस वक्त लकड़े से कितनी सारी चींटी, कीड़े मर जाते हैं। पुष्प तोड़ते हो, माला बनाते हो; गले में पहनते हो, चूल्हा सुलगाकर खाना बनाते हो, और भांग, अफीम, चरस, गांजा पीते हो और गृहस्थाश्रम में रहकर पुत्रादि के पिता भी बनते हो इसलिए आप असंयमी हैं, जीववधक हैं, यावत् पापों का एक भी द्वार बंध न होने से आपका सारा जीवन पापों को उपार्जन करने में ही बीत जाता है। इस कारण से आप ही एकांत बाल हैं। हम जैन मुनि नहीं है क्योंकि ऊपर की एक भी बात का सेवन हम नहीं करते, इसलिए पापों के द्वार जिन्होंने ज्ञानपूर्वक बंध किये हो वह पंडित कहलाता है। आप वैसे नहीं हैं, इसलिए बाल हैं।

इस तरह गौतमस्वामी ने अन्य यूथिकों को सर्वथा निरुत्तरकिया और भगवंत के पास आकर, तीन प्रदक्षिणा देकर, वंदन-नमन किया तब भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! तू ने अच्छा किया, उन्हें सत्य कहा। क्योंकि मेरे बहुत शिष्य छद्मस्थ होने से अन्य यूथिकों को तुम्हारी तरह निरुत्तर नहीं कर सकते। इसलिए गौतम ! तूने अच्छा किया।

छद्मस्थ क्या परमाणु को जानते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, कई छद्मस्थ पुद्गल परमाणु को

जानते हैं लेकिन देख नहीं सकते। कई उन्हें देखते भी नहीं और जानते भी नहीं हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानी हो और उपयोगी हो वे शास्त्रज्ञान से पुद्गल परमाणु को जानते हैं पर प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। तो फिर ज्ञान और उपयोग बगैर के छद्मस्थों के लिए अवकाश कहां है ? द्विप्रदेशिक से लेकर असंख्यात प्रदेशी स्कंध के लिए भी जानना है। सारांश कि ऐसे असंख्य प्रदेशी स्कंध भी प्रत्यक्ष नहीं होते।

अनंत प्रदेशी स्कंधों के लिए भगवान ने कहा कि :—

(१) अवधिज्ञानी छद्मस्थ स्पर्शादि से स्कंध को जानते हैं और नेत्र से देखते हैं।

(२) श्रुतज्ञानी छद्मस्थ स्पर्शादि से जानते हैं पर नेत्र से देख नहीं सकते क्योंकि :— "श्रुते दर्शाभाव;"

(३) कोई छद्मस्थ स्पर्शादि से जानता नहीं पर देखता है। दूरस्थ पर्वत दिखता है पर स्पर्श नहीं हो सकता।

(४) अंध छद्मस्थ जानता और देखता भी नहीं है ऊपर के चारों भाग अनंत प्रदेशी स्कंध के लिए जानने। जबकि परमाणु को अवधिज्ञानी जानते हैं लेकिन देखते नहीं।

परमावधिज्ञानी जिस समय पर जानते हैं, उस समय पर परमाणु को देख नहीं सकते। और जब देखते हैं तब जान नहीं पाते। कारण में कहा गया है कि, ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। दोनों आपस में विरुद्ध धर्मवाले होने से समान काल का कोई संभव नहीं है।

ऐसे परमावधि अन्तर्मुहुर्त के बाद केवली होते हैं। केवली भी जिस वक्त जानते हैं उस वक्त देख नहीं सकते। और जिस समय देखते हैं उस वक्त जान नहीं सकते। क्योंकि एक समय में दो क्रियाएँ हो नहीं सकतीं।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक १८ वां : उद्देशक–९

भव्य द्रव्य नैरयिकादि की वक्तव्यता :

राजगृही नगरी में समवसरण में बिराजमान भगवान महावीरस्वामी को गौतमस्वामी ने पूछा कि, हे प्रभो ! इस संसार में क्या भव्य द्रव्य नारक हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! भव्य द्रव्य नारक होते हैं। "भवितुं योग्यो भव्यः" इस सूत्र का सरलार्थ यह है कि वर्तमान में वह जीव मनुष्य या तिर्यंच के अवतार में है और वहां से मरकर नरक में जाने वाला हो उसे 'भव्य द्रव्य नैरयिक' कहते हैं। जो तीन प्रकार से है।

(१) एक भविक :- चालु भव पूर्ण करके तत्काल दूसरे भव में नरक में जानेवाला हो।

(२) बद्धायुष्क :- चालू भव में आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहने पर नरक का आयुष्य कर्म बांधनेवाला।

(३) अभिमुख नाम गोत्र :- पूर्व भव का त्याग करके नारक आयुष्य और नाम गोत्र का वेदन साक्षात् कर रहा हो।

भविष्यकाल में नारक होने वाला हो और गृहीत यानि चालू भव के पर्याय को छोड़कर नारक होनेवाला हो वह भव्य द्रव्य नारक कहलाता है। इस व्याख्या से इतना विशेष जानना है कि जिन जीवों ने भूतकाल में नरक पर्यायों को भुगतना हो; उनका समावेश इसमें नहीं करना है। लेकिन अगले भव में जो नरक में जायेगा उनको ही भव्य द्रव्य नारक समझना।

भगवंत ने कहा कि देव तत्काल नरक में नहीं जाते हैं और नारक भी तत्काल वापिस नरक में नहीं जाते है, इसलिए मनुष्य या तिर्यंच को ही नरक में जाने की योग्यता है। सारांश कि अब वह जीव चाहे मनुष्य या तिर्यंच हो, फिर भी वह नारक कहलायेगा। इस तरह असुरकुमारों से स्तनितकुमार देवों तक जानना है।

तिर्यंच, मनुष्य या देव मरकर पृथ्वीकायिक होनेवाला हो, उसे भव्यद्रव्य पृथ्वीकायिक कहते हैं।

विषय वासना, परिग्रह और उनमें आसक्त हुए देव भी वापिस पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं। जहां 'एकेन्द्रिया य सव्वे असंख उस्सप्पिणी सकायंमि उवज्जंनि चयंतिय' यानि एकेन्द्रिय अवतार पानेवाले जीव को पांच, पच्चीस, सौ, हजार, लाख या करोड़ की संख्या में परमात्मा की चोवीसी हो तब तक उसे बाहर निकलना नसीब नहीं। इस तरह अप्काय और वनस्पतिकाय के लिए समझना। विशेष में यह है कि वनस्पतिकाय को प्राप्त करनेवाला देव अनंत चोवीसी होने के बाद शायद फिर से मनुष्यावतार पाने के लिए भाग्यशाली बन सकेगा।

दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम में एक चोवीसी होती है, उसके बाद दूसरी चोवीसी होने के लिए उतना ही समय लगता है, और फिर से एक चोवीसी होती है। इस तरह अनंत चोवीसी होने के बाद उस जीव को वनस्पतिकाय से बाहर निकलने का अवसर मिलेगा।

मनुष्य या तिर्यंच जीव, वायुकायिक, तेजस्कायिक या विकलेन्द्रिय होनेवाला वह भव्यद्रव्य, वायुकायिक, तेजस्कायिक और विकलेन्द्रिय की संज्ञा से संबंधित होगा और नारक, तिर्यंच, मनुष्य या देव मरकर तिर्यंच या मनुष्यावतार में आनेवाले हो तो उन्हें भव्य द्रव्य तिर्यंच या मनुष्य भी कह सकते हैं। शेष वाण व्यंतर-ज्योति एक वैमानिक आदि के लिए भी जानना।

आयुष्य की कितनी स्थिति है ?

भव्य द्रव्य नारकों की जघन्य आयुष्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। मत्स्य की मर्यादावाला संज्ञी या असंज्ञी मरके नरक में जानेवाला हो वह उत्कृष्ट से एक करोड़ वर्ष की स्थितिवाला संज्ञी तिर्यंच या मनुष्य मरके नरक में जानेवाला हो उसकी पूर्व कोटि आयुष्य मर्यादा जानना।

भव द्रव्य असुरकुमार के लिए जघन्य से संज्ञी तिर्यंच या मनुष्य उद्देश्य के अंतर्मुहूर्त की है और उत्तरकुरु आदि यौगलिकों को लेकर तीन पल्योपम की उत्कृष्ट से जानना है। यावत् स्तनित देव तक जानना है।

भव्य पृथ्वीकायिक अन्तमुहूर्त की जघन्य स्थितिवाले हैं, और उत्कृष्ट से ज्यादा दो सागरोपम की कही है। यह बात ईशान देवों के लिए जानना है। क्योंकि ईशान तक के देव पृथ्वीकायिक हो सकते हैं। तो अप्कायिक होने पर भी उन्हें कौन रोकनेवाला था ?

द्रव्य वायुकायिक, तेजस्कायिक नारक की तरह जानना।

द्रव्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से नरक में से निकलकर इस स्थान को प्राप्त करें। इस कारण से ३३ सागरोपम की जाननी है।

मनुष्यों की भी उसी तरह जाननी। विशेष में सातवीं नरक और अनुत्तर सिद्ध विमानवासी भी मनुष्य बन सकते हैं।

केवलज्ञान रहित दूसरे महाज्ञानीओं के लिए भी सर्वथा अगम्य, तीर्थंकर देव की वाणी सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि हे प्रभो ! आपश्री की वाणी यथार्थ है। आपने जो कहा वही सत्य है। हम निःशंक होकर निर्ग्रंथ प्रवचन श्रद्धा में लेते हैं, यह कहकर अपने ध्यान में स्थिर हुए।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक ९ पूर्ण ॥

शतक १८ वाँ : उद्देशक १०

आसन्न भव्यता के परिपाक के लिए और केवलज्ञान की आराधना में सरलता हो इसलिए यह दशवां उद्देशक ठंडे कलेजे से पढ़ना, जिसमें बहुत से चित्रविचित्र प्रश्न तथा उत्तर, उपादेय होने से जानने लायक बनेंगे। सोमिलद्विज का चर्चात्मक विषय और स्वीकारे हुए बारह व्रतों का पठन करने से व्रतों की भावना होगी।

असीधारा पर चलनेवाले मुनि क्या छेदाते हैं ?

वक्रिय लब्धिसम्पन्न मुनिओं के लिए प्रश्न के उत्तर में भगवंत ने फरमाया कि; हे ! गौतम वे मुनि तलवार की या अन्य किसी शस्त्र की धार पर बैठने के लिए समर्थ हैं, पर पत्थर पर गिरते हुए अस्त्रे की धार जिस तरह कम हो जाती है उसी तरह मुनिओं की वैक्रिय लब्धि के कारण तलवार की धार भी कम हो जाती है। इसलिए वे छेदाते नहीं-भेदाते नहीं। शेष सब बातें पांचवे शतक के सातवें उद्देशक की तरह प्रथम भाग में से जानना।

क्या परमाणु वायुकाय से स्पृष्ट हैं ?

परमाणु वायुकाय को स्पर्शता है कि, वायुकाय परमाणु को स्पर्शता है ? यानि कि परमाणु से वायु व्याप्त है या वायु से परमाणु व्याप्त हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! परमाणु पुद्गल वायु से स्पृष्ट होता है। वायुकाय परमाणु से व्याप्त नहीं है, क्योंकि परमाणु प्रदेश रहित होने से सूक्ष्म है और वायु महान है, यावत् असंख्यात प्रदेश तक यही जानना। अनंत प्रदेशी स्कंध यदि वायु से महान होंगे तो व्याप्त होंगे।

सूक्ष्म स्कंध से वायु व्याप्त नहीं। उसी तरह मशक के प्रत्येक छिद्र वायुकाय से भरे हुए होने से मशक से वायुकाय स्पृष्ट नहीं लेकिन वायुकाय से मशक स्पृष्ट है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे काले-श्वेत, नीले-पीले और दुर्गंध-सुगंध, तीखे, कटु, कषाय, खट्टे, मीठे तथा कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, उष्ण, शीत, स्निग्ध और रुक्ष द्रव्य हैं। वे सब परस्पर गाढ़ बंधे हुए, समुदाय में बंधे एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। यावत् सातवीं पृथ्वी और सिद्धशिला के नीचे भी इसी तरह जानना है।

सोमिल द्विज की वक्तव्यता :

उस समय में वाणिज्य नामक नगर था। दुति पलाश चैत्य था। वहां सोमिल नाम का द्विज रहता था। जो श्रीमंत, दूसरों से पराजित न होनेवाला, यावत् वेद-वेदान्त का पारगामी था। उनके पांचसो शिष्य थे। जो वास्तव धर्म को भजनेवाले थे।

उस वक्त १४ हजार साधु, ३६ हजार साध्वीजी आदि बड़ी पर्षदापूर्वक विहार करते हुए भगवान महावीर स्वामी वाणिज्य गाम में पधारे। पर्षदा आयी। दयासागर प्रभु ने धर्मोपदेश किया। सुनकर खुश हुई पर्षदा ने भगवंत को वंदन, नमन और पर्युपासन किया।

उस समय सोमिल को यह पता चला कि भगवान महावीरस्वामी पधारे हैं, तो मैं भी उनके पास जाऊँ और तरह तरह के प्रश्न पूछूं और उनका जवाब यदि यथार्थ रुप से देंगे तो भगवंत की पर्युपासना करुँगा, अन्यथा उन्हें निरुत्तर करुँगा। यह सोचकर स्नान किया, वस्त्र पहने, मंगल प्रायश्चित किया और घर से बाहर आया। अपने शिष्यों को लेकर दूति पलाश उद्यान में आया और थोड़े दूर खड़े रहकर निम्नलिखित प्रश्न पूछे :—

(१) हे प्रभो ! आप श्रीमान को यात्रा है ?

(२) हे नाथ ! आप श्री को यापनीय है ?

(३) आपश्री अव्याबाध हैं ?

(४) और आपको प्रासुक विहार है ?

जवाब देते हुए प्रभु ने कहा कि हे सोमिल ! मुझे यात्रा है, यापनीय है, अव्याबाध है और प्रासुक विहार भी है।

भगवंत ने कहा कि, तप, नियम, संयम, स्वाध्याय ध्यान और आवश्यक योगों में यतना है, मतलब ज्ञानपूर्वक मेरी आत्मा वर्तमान है। क्योंकि कर्मों के भार से मुक्त होने के लिए और आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराने के लिए उत्तम तरह की मुझे यात्रा है। विशेषार्थ यह है :

(१) तप :-स्वीकारे हुए संयम की रक्षा के लिए, तथा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा के उपवासादि सम्यक् प्रकार से किये जाय, वह तप है। जो किये हुए पापों का छेद करानेवाले दस प्रकार के प्रायश्चित में विद्यमान तप विशेष है।

(२) नियम :- लिए हुए पांच महाव्रतों को पालने के लिए :-

१. उत्तर गुणों को धारण करना।

२. इन्द्रिय और मन का जिससे दमन हो।

३. पाप द्वारों को रोकने के लिए अभिग्रह विशेष।

४. शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान करना।

५. अकल्प्य ऐसे विचित्र अभिग्रहों को धारण करना ऊपर दिये हुए नियम हैं जिनसे महाव्रत दृढ़ बनते हैं।

(३) संयम :-पृथ्वीकायादि जीवों का रक्षण करना यह सत्रह प्रकार से संयम कहा जाता है।

(४) स्वाध्याय :- अपना विचार करना वह स्वाध्याय है।

(५) ध्यान :- आभ्यंतर तप विशेष, जो मन, वचन और काया की एकाग्रतापूर्वक किया जाय वह ध्यान है।

(६) आवश्यक :- उनके अर्थ नीचे दिये गये हैं।

१. जिनसे चारों ओर से आत्मा वश्य हो सके।

२. शरीर की सभी चेष्टाओं का त्याग हो।

३. पाप और आश्रव मार्गों से वापिस आना अर्थात् परिवर्तित होना।

४. मुनिओं को तथा साधुओं को अवश्य करना हो।

५. जिनसे ज्ञानादि गुण और मोक्ष भी वश्य बने।

६. इन्द्रियादि भाव शत्रुओं के जोर जिनसे नाश हो।

७. संपूर्ण और चिरस्थायी आत्मा के गुणों की प्राप्ति हो।

८. अनादिकाल के दोषों की आदत जिनसे मिट जाय।

९. आत्मा में ज्ञानादि गुणों को स्थिर करानेवाला।

१०. ज्ञानशून्य आत्मा को ज्ञानमय बनानेवाला।

११. मूल और उत्तर गुणों का शुद्धिकरण करानेवाला।

ऊपर दिये गये गुणों की जो प्राप्ति करा दे वह आवश्यक है।

भगवंत ने कहा कि हे सोमिल! इस तरह छः प्रकार की मेरी यात्रा है। उसे तू समझ।

यापनीय का मतलब क्या ?

भगवंत ने कहा कि (१) इन्द्रिय यापनीय (२) नोइन्द्रिय यापनीय। इस तरह दो प्रकार से मुझे यापनीय है।

प्राकृत भाषा के 'जवणिज्ज' शब्द से संस्कृत में यापनीय शब्द बना है। जो 'यांक् गतौ' धातु के प्रेरक में 'पुक्' का आगम लगने पर, अनीय प्रत्यय लगाने से यापनीय शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ जाने देना - गमन कराना - भेज देना होता है।

अनादिकाल से आत्मा के हाड़बैरी इन्द्रिय और कषाय हैं। जिसके पाप से आत्मा ने अनंतभव में महादुःखों का अनुभव किया है। इन्द्रिय घोड़े जैसी होने से, लगाम बिना का घोड़ा जिस तरह मालिक को गड्ढे में गिरा देता है, वैसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररुपी लगाम बिना की इन्द्रियों ने बड़े - बड़े ब्रह्मवादी, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, वन में रहकर सूखे पत्ते खानेवाले और स्त्रीओं का मुँह जिन्होंने नहीं देखा है उन सबों को दुर्गति की खाई में गिरा दिया है, तथा जहां इन्द्रियों के घोड़े तूफानमय रहते हैं वहां कषायों की विद्यमानता अवश्य रहती है।

तो हे सोमिल ! मैंने अपने संयम द्वारा इन्द्रिय यापनीय अर्थात् तूफान करनेवाली पांच इन्द्रियों को वश की है। जिससे मेरा कुछ भी कर नहीं सकती। और कषाय यापनीय द्वारा मेरे क्रोध-मान-माया और लोभ सर्वथा शक्तिहीन होकर मेरी दया मांग रहे हैं। हे सोमिल ! इस तरह से तू मेरी यापनीय को जान।

अव्याबाध यानि क्या ?

सूत्रों में अव्याबाध के अर्थ नीचे की तरह है।

अंतराय बिना, बाधारहित, रोगरहित, ऐसा मोक्ष-मुक्ति। सोमिल, शरीर में वात - पित्त और कफ की तीन द्रव्य बीमारी और रागद्वेष - मोह - माया आदि की भाव बिमारियां हैं। उन्हें मेरे तप से मैंने सर्वथा क्षय कर ली हैं। इसलिए अंतराय, रोग, बाधा बिना का मैं, संपूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्ति के द्वार पर आ खड़ा हूँ। जिससे मैं सर्वथा अव्याबाध हूँ।

प्रासुक आहार का मतलब क्या ?

हे सोमिल ! बाग में, उद्यान में, देवकुल में, प्रपाओं में, स्त्री - पशु, नपुंसक रहित स्थानों में मैं सुखरुप और स्वस्थ रहता हूँ, इसलिए यही मेरा प्रासुक आहार है।

उपर्युक्त जवाब साफ, स्पष्ट और सविस्तर होने पर भी सोमिल आज निर्णय करके ही आया होगा कि आज यदि महावीर का शिष्यत्व स्वीकारुं अथवा महावीर को निरुत्तर करके मेरी जयपताका लहराऊँ। यह सोचकर उसने फिर से प्रश्न पूछे।

सरिसवय क्या भक्ष्य है ?

केवलज्ञान के मालिक को उसकी वक्रता जानने में देर नहीं लगी फिर भी नास्तिक - मिथ्यात्वी या वक्र आदि विशेषण उन पर बरसाये नहीं, लेकिन स्याद्वाद भाषा का आश्रय लेकर अथवा श्लिष्ट भाषा का मर्म जानकर भगवंत ने कहा कि हे सोमिल ! सरिसवया शब्द के दो अर्थ होते हैं : (१) सरसव (२) समान वय का मित्र उनमें से तुम्हारे ब्राम्हिण सूत्र में दूसरा अर्थ किया गया है। वह मेरे लिए अभक्ष्य है, यानि खाने लायक नहीं है। क्योंकि पंचेन्द्रिय जीवों को मारकर उनका माँस खाना सभी के लिए अभक्ष्य है, और खास करके देव जैसे मानवों के लिए तो विशेष प्रकार से अभक्ष्य है। किन्तु धान्य विशेष अर्थ 'सरसव' हैं वह हमें भक्ष्य है। उसमें भी यदि वह सरसव अग्नि आदि शस्त्र से अचित (जीव रहित) हो गया हो, वह भक्ष्य है, और उनमें भी यदि अेषणीय यानि याचना करने के बाद मिले हो तो भक्ष्य हैं, क्योंकि जैन मुनि को तृण से लेकर संसार की कोई भी चीज मांगे सिवा लेनी नहीं होती। अदत्तादान के पाप के लिए और व्रत के भंग के लिए सचित, अनेषणीय और याचना

करने पर भी न मिले वह कोई भी पदार्थ मुनि के लिए निषेध है। यह तू समझ ले।

क्या माष भक्ष्य है ?

भगवंत ने कहा कि हे सोमिल ! तेरे ब्राह्मिण सूत्र में माष शब्द के दो अर्थ हैं। (१) माष यानि माह [महिना] और दूसरा अर्थ उड़द धान्य विशेष होता है। इनमें से श्रावण; भाद्रपद, अश्विन, कार्तिक, मार्गशिर्ष पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ रुप जो बारह महिने हैं, वे श्रमणों के लिए अभक्ष्य हैं, क्योंकि वह काल मास हैं।

नोंध :– आज कार्तिक सुदि १ से नये साल का प्रारंभ होता है। तो संभव है कि महावीर स्वामी के समय में श्रावण महिने से महिनों की शुरुआत होती होगी। अन्यथा कार्तिक को आदि न कहकर श्रावण से क्यों महिने गिने ? तथा द्रव्य माष दो प्रकार के है (१) अर्थ माष (२) धान्य मा। उनमें अर्थ माष भी सुवर्ण और रजत नाम के दो प्रकार से हैं। यहां माष यानि नाप तौल) समझना है। जो ८ रत्ति का एक माषा होता है। वे दोनों प्रकार के सुवर्ण और चांदी रुप में माह जैन साधु को सर्वथा अभक्ष्य है। जब कि धान्य माष उड़द है वह भक्ष्य है। उनमें भी जो अचित है, अेषणीय है और याचना से मिला हो वह भक्ष्य है, अन्य नहीं।

क्या कुलत्था भक्ष्य है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'ब्राह्मिन शास्त्र में इसके दो अर्थ है (१) कुलत्था–कुलीन स्त्री (२) कलत्थी धान्य विशेष। कुलीन स्त्री तीन प्रकार से है। कुल कन्या, कुलवधू और कुल माता, यानि किसी भी खानदान में जन्मी हुई कन्या, सधवा और माता (वृद्ध - विधवा - आदि स्त्री) इन तीन प्रकार से अथवा उपलक्षण से कोई भी स्त्री - चिन्हवाली नारी-

तथा लकड़ी - मिट्टी आदि की बनी हुई पुतली, कागज में चित्रकार ने बनाई हुई स्त्री, यह सब स्त्री, जैन श्रमण के लिए अभक्ष्य मतलब अस्पृश्य, अचिन्तनीय, अमननीय और अव्यवहरणीय होने से त्याज्य है। जब कि धान्य विशेष कलत्थी - पूर्व की तरह भक्ष्य जानना।

सोमिल के आत्मविषयक प्रश्न :

आनेवाले प्रश्नों से हमें भगवान महावीरस्वामी के समय के पांडित्यगर्विष्ठ, वाद - विवाद - वितंडावाद - जल्प तर्क - छल - हेत्वाभास आदि से एक दूसरे को परास्त करने में उस समय के पंडित कैसे दावपेच चला रहे थे उसका ऐतिहासिक परिचय होगा, जो ज्ञानवृद्धि का कारण है।

मनुष्य के जीवन में जब तक मिथ्यात्व के ताप की असर होती है, तब तक उसका जीवन-वचन और व्यवहार भी वक्र होता है। जिससे देश और समाज को भयंकर नुकसान होने के उपरांत जातिवाद और संप्रदाय के विषचक्र भी जोर करते होते हैं।

भगवान महावीरस्वामी सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, यह सब प्रकाश जैसी स्पष्ट बात होने पर भी सोमिल के प्रश्न में यद्यपि जिज्ञासा हो सकती है, पर जब जिज्ञासा में वक्रता हो, तब मानव के जीवन कवन की क्या दशा ?

सोमिल पूछता है कि हे प्रभो ! आप एक हैं ? दो हैं ? अक्षय हैं ? अव्यय हैं ? सारांश कि भगवान यदि अपनी एकता का यानि 'मैं एक हूं' यह एकरार कर लें तो श्रोत्र आदि विज्ञानों के अवयवों में रहे अनेकपन को सिद्ध करके भगवान के एकत्व का खंडन करूंगा। यदि 'मैं दो हूं' यह भगवान कहेंगे तो प्रथम कहे हुए एकत्ववाद के साथ का विरोध बताकर भी उन्हें निरुत्तर करके रहूंगा। उसके बाद यदि वे कहेंगे कि 'मैं अक्षय हूं' अवि-

नाशी हूं' तो उन्हें पूछूंगा कि अब तक आप अनंती बार जन्में हैं और मरे हैं और अक्षय, अविनाशी में जन्म मरण होते नहीं। इसलिए तुम्हारा अक्षयत्व और अविनाशीत्व आश्चर्यकारक है। क्योंकि अपने मूल स्वभाव का त्याग किये बिना कोई भी अव्यय नहीं होता, और पर्यायों से तो सब व्यय हैं। इससे महावीर अव्यय हैं, कह कैसे माना जाय ? और एक रूप से भी कोई सिद्ध नहीं होता, इसलिए महावीरस्वामी यदि कहेंगे 'मैं अव्यवस्थित हूं 'तो मेरा जवाब रहेगा कि प्रत्येक पदार्थ में रूपांतर होता हो तब किसी की अवस्थिता कितनी ? इस तरह तर्कों द्वारा मैं भगवान को निरुत्तर करुंगा ?

अक्षय, अव्यय और अवस्थित यह प्रश्न आत्मा का नित्य पक्ष लेकर किये हैं।

अब अनित्य पक्ष लेकर पूछता है कि हे प्रभो ! आप श्रीमान में अनेक भूत-भावि और वर्तमान पर्यायों और भविष्य में होनेवाले पर्यायों की संगति हो सकती है। उसके सिवा एक ही आत्मा भूत-भावि के पर्यायों को कैसे प्राप्त करेगा ?

सोमिल की मानसिक अवस्था का ख्याल करके भगवंत ने कहा, सोमिल ! संसार में ऐसे शाब्दिक वितंडावाद जब तक उपशमित नहीं होते हैं तब तक मानव सौम्य, साम्य और समाधिस्थ नहीं हो सकता। अभिगृहित मिथ्यात्व के प्रभाव से हतप्रभ आदमी सिर्फ शब्दों की व्यूह रचना में उलझकर तत्व की असलियत से हजारों मील दूर रहता है और स्वार्थ निकाला जाय ऐसे अर्थ की ओर आंख मिचौली करके शब्दजाल में फंस जाता है, और अपना अहित करता है। इसलिए सोमिल को स्याद्वाद की भाषा में उत्तर देना चाहिए। आदमी यदि दूसरों के शब्द का आशय समझ जाय तो संसार में अमृततत्व की प्रादुर्भूति होने से सामाजिक जीवन विषमुक्त हो जायेगा। संसार में कोई आदमी मिथ्यात्व, मान या अविनय

से दबा होगा तो इस तरह के ही शब्दों का प्रयोग करेगा, इसलिए उनसे वाग्युद्ध या वितंडावाद करने की आवश्यकता नहीं हैं। और प्रत्येक प्रसंग समझदारीपूर्वक हल करने से जीवन को आनन्द और संसार को सत्य तत्व की प्राप्ति होगी।

मनुष्य के आंतरजीवन में वस्तु को समझने का अपेक्षावाद नहीं होने के कारण दूसरे की सच्ची बात को पहले पहलू में झूठ और पूर्वगृहीत मान लेता है, फलस्वरूप वितंडावाद से वितंडावाद, पूर्वग्रह से पूर्वग्रह और छलप्रपंच या झगड़े की आदत से झगड़े उत्पन्न होते हैं।

कई बार आदमी के मस्तिष्क में स्याद्वाद समझने की शक्ति होती है, किन्तु मस्तिष्क और हृदय, यह दोनों भिन्न भिन्न होने से, जब तक कोई भी बात हृदय के अणु में उतरने न पाय तब तक मस्तिष्क शक्तिओं के कितने भी विकास से संवाद का जन्म नहीं होता। किसी समय मस्तिष्क से समझी हुई वस्तु हृदय तक पहुँच सकती है, और उसे मानने के लिए हृदय की तैयारी भी होती है। लेकिन हृदय के किसी कोने में किसी चीज की माया, अपने को सच साबित करने की दानत, अन्य को परास्त करके दावपेंच, लड़ने लड़ाने की आदत, सत्तावाद का मोह या अपना उत्कर्ष बताने की पूर्वतैयारी वगैरह कई अभिगृहीत मिथ्यात्व के सैनिकों का जोर इतना तो जबरदस्त होता है कि जिससे वह स्याद्वादनय - प्रमाण आदि को समझ सकता है और दूसरों को समझा पाता है लेकिन अपने जीवन में उतारकर मिथ्यात्व के ताप को भगा देने में उसे समर्थता नहीं मिलती है।

पंडितों के महापंडितों के जीवन की यही बड़ी करुणता है, जिनके अभिशाप से संसार को शान्ति - समाधि की बक्षिस मिलनी चाहिए थी उसके बजाय क्लेश - वैर - विरोध और जबरदस्त वाग्युद्ध की बक्षिस मिलने पायी है। इसलिए ही हृदय में रहे गंदे तत्वों से अमृत नहीं निक-

लता क्योंकि कड़ी पीनेवाले आदमी को दूधपाक का स्वाद कैसे आ सकता है ?

स्याद्वाद का अर्थ सापेक्षवाद - अनेकांतवाद है, क्योंकि भूत - भावी और वर्तमान के पर्यायों की अनंततावाले द्रव्यों का निर्णय भिन्न भिन्न अपेक्षा से करना होता है और तीन काल के अनेक पर्याय उनमें विद्यमान होते हैं। पूछनेवाला भी सिर्फ एक आशय से नहीं पूछता है, क्योंकि उसकी जिज्ञासा अनेक और सापेक्ष होती है, इसलिए जवाबदाता को दूसरे की बात को ठीक से सुनकर, सोचकर ही जवाब देना चाहिए, जिससे दूसरे वाद - विवाद का अवसर समाप्त हो जाय।

स्याद्वाद कोई धर्म नहीं, जिसके कारण उसके आदि, अनादि का प्रश्न उपस्थित हो सके। आदिनाथ - ऋषभदेव ने भी स्याद्वाद की भाषा ही बोली थी और महावीरस्वामी ने भी इसी भाषा का व्यवहार किया है। स्याद्वाद का अर्थ यह है कि द्रव्य में अस्तित्व के रुप में रहे पर्यायों को आस्तिक रुप से और नास्तित्व रुपसे रहे पर्यायों को नास्तिक रुप में कहना है; यानि किसी भी प्रसंग को सापेक्ष दृष्टि से बोलना जिससे विद्यमान पर्याय का निषेध करने का प्रसंग न आय, और वर्तमान समय में पर्यायों की नास्ति है इससे उनके नास्तित्व का भी निषेध करना न पड़े।

भगवान महावीरस्वामी ने सोमिल के प्रश्नों का जवाब फरमाते हुए कहा कि हे, सोमिल ! 'मैं एक भी हूं'। 'मैं दो भी हूं'-अविनाशी, अक्षय भी हूं, और भूत भावी तथा वर्तमान पर्यायों के परिणाम वाला भी हूं। स्पष्ट जवाब होने पर अब भी उसके मन में शंका है कि ऐसा किस तरह हो सकता है ? जो एक है वह दो कैसे ? और यदि दो हो तो एक किस तरह ? पर्यायों में विचरने वाला अक्षय कैसे ? और यदि अक्षय हो तो क्षय हुए बिना भूतभावी और वर्तमान के पर्यायों में कैसे परिणमित हो सकता है ? इन सब जंजाल से बचने के लिए प्रभु को पूछा कि हे प्रभो ! आपश्री ने एक दूसरे से विरुद्ध बाते कहीं वे किस तरह संगत हो सकती है ?

भगवंत ने कहा कि हे सोमिल ! प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले इस संसार का निर्णय सिर्फ शास्त्रों के पन्ने पलटने से नहीं होता । आज तक आपने कितने ही शास्त्र पढ़े, चर्चा की और कंठस्थ करके बैठे हैं । तो भी उनमें से मक्खन नहीं निकाल सके । तो आप के माने हुए शास्त्र को बाजू में रखकर यदि संसार की किसी भी बात को या प्रसंग को अपेक्षा बुद्धि से समझने का प्रयास करोगे तो कुछ तत्व पा सकोगे । ठहरो, अब मैं यह सब बातें तुम्हें समझाता हूं ।

जीव में एकत्व की सिद्धी :

मैंने कहा था कि 'मैं एक हूं' इस जवाब में इसका आशय समझने की जरूरत है। पृथ्वी-पानी-अग्नि वायु आदि तरह तरह के द्रव्य होने पर भी 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा से 'द्रव्य एक है' ऐसे संग्रहनय की भाषा में प्रत्येक मनुष्य बोलता है और सामनेवाला उसका भाव समझ लेता है इस तरह 'मैं एक हूं' इनमें भी जीवद्रव्य की अपेक्षा समझ लेनी है । यद्यपि जीव में असंख्य प्रदेश रहे हैं तो भी उनकी अनेकता का आश्रय लिए बगैर सिर्फ जीवद्रव्य की अपेक्षा से जीव एक है ।

यह संसार एक व्यक्ति का नहीं लेकिन अनेकानेक देश, जाति, धर्म और भाषाओं से व्याप्त है । इस संसार के व्यवहार का सिर्फ शास्त्रों के पन्नों से यदि निर्णय किया जाय तो संसार का बहुत सारा व्यवहार जो अनपवर्तनीय है, उनमें विरोध खड़ा होने पर बिगड़ जायेगा । जो किसे भी इच्छनीय नहीं है । इसलिए संसार के व्यवहार का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए 'असत्यामृषा' यानि व्यवहार में बोली जाती और सत्यस्वरूप से समझी जाती भाषा का भी प्रयोग करें तो मानव समाज के बहुत सारे झगड़े अपने आप ही समाप्त हो जाते हैं ।

जीव में अनेकत्ववादि की सिद्धी :

ऊपर की तरह द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव एक होने पर भी स्वभाव

की भिन्नता के कारण जीव भेद हो तो किसे हरकत नहीं होती । क्योंकि जीव के स्वभाव एक समान न होने के कारण मैंने कहा था कि 'मैं दो हूं' यानि कि ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मेरे दो स्वरूप होने से 'मैं दो हूं' कहा है । यद्यपि जीव द्रव्य है और ज्ञान दर्शन गुण है, इससे इनमें फर्क स्पष्ट दिखाई देता है । परंतु यह न भूलना चाहिए कि गुण हमेशा द्रव्याश्रित होते हैं । 'द्रव्याश्रिता गुणाः अर्थात् गुण बिना गुणी नहीं होता और गुणी में गुणों की हाजरी त्रिकालाबाधित है । इसलिए आत्म द्रव्य के साथ ज्ञानादि गुणों की कथंचित् अभिन्नता भी स्वीकार्य है । हम जानते हैं कि ज्ञान और दर्शन गुण चैतन्य स्वरूप जीव में ही होते हैं । जड़ में नहीं होते । इस कारण से आत्मा ज्ञानमय और दर्शनमय है फिर भी उपयोग के समय भिन्नता होने से किसी समय आत्मा ज्ञानस्वरूप है और किसी समय दर्शन स्वरूप है । क्योंकि दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते । कदाच तुझे शंका हुई होगी कि वस्तु का विशेष ग्राहित्व ज्ञान में है और सामान्य ग्राहित्व दर्शन में है । तो यह दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के गुण एक आत्मा में कैसे रह सकते हैं ? जवाब में यह कहा गया है कि अपेक्षा बुद्धि को समझे बिना शास्त्रों के अर्थ मनघडंत करने से मानव की बुद्धि में भ्रम, विखंडावाद, संशयवाद और विपरीत वादिता की उत्पति हो जाती है ।

एक द्रव्य में, एक - दो नहीं लेकिन अनंतानंत धर्म भी बुद्धिगम्य है, जैसे एक ही मानव में अपने पिता की अपेक्षा से 'पुत्रत्व' धर्म विद्यमान है, वैसे अपने पिता की अपेक्षा से 'पुत्रत्व' धर्म को भी कैसे नकार सकते हैं ? इस तरह द्रव्य में अनंत पर्यायों (धर्मों) की विद्यमानता की सिद्धि अपेक्षा दृष्टि से शक्य हो सकती है (दूसरे भाग में यह विषय सविस्तार दिया गया है ।

'अक्षय भी हूँ' इसका आशय यह है कि जीव असंख्य प्रदेशी है, और उन प्रदेशों में से एक भी प्रदेश किसी भी काल में जीव से अलग

नहीं होता है। इसलिए प्रदेशों की अपेक्षा से जीव अक्षय है। इस तरह अव्यय की कल्पना भी जान लेना।

जीव अनित्य है :

जीव का अनित्य पक्ष लेकर जवाब देते हुए भगवंत ने कहा कि हे - सोमिल ! भूतकाल में अनेकानेक भवों के पर्यायों का उपयोग मेरे आत्मा को हुआ है। जो मेरे आत्मा से अलग नहीं। यावत् सत्तर काडोकोडी सागरोपम के असंख्यात या अनंत भवों के भावों का उपयोग आत्मा में आज भी विद्यमान है। और वर्तमानकाल के पर्यायों का उपयोग भी है। और भविष्य काल के पर्यायों का उपयोग भी यह जीव करेगा। इसलिए तीन काल के पर्यायों के उपयोगवंत होने से मैंने कहा कि भूत-भावी और वर्तमान पर्यायवाला हूं।

कदाचित तुझे आत्मा की अनित्यता के लिए शंका होगी तो भी हे द्विजवर ! तू चिंता मत कर। अब तक का इतिहास तेरी आंख समक्ष है कि आत्मा को एकांत से नित्य माननेवाले और अनित्य माननेवालों में धुरंधर पंडित हैं, जिनके डंडाडंडी-मुष्टा-मुष्टी के युद्धों से सारा भारतदेश हैरान-परेशान है। यह पंडित जब आमने-सामने होकर गालियां देते हैं, गंदे शब्द और अनार्थ आदमी न बोल सके ऐसे वीभत्स शब्द बोलते हैं, तब मैं ऐसा पूछ सकता हूं कि ऐसी पंडिताई या शास्त्रों, या भाषा देश को क्या काम की ? याद रखना कि इस देश में पंडित बहुत कम हैं, श्रीमंत और सत्ताधारी भी कम हैं, जबकि बीच का मध्यम वर्ग अपने पेट की चिंता में रातदिन कडी मेहनत करता है। तब पंडितों, शास्त्रज्ञों और तत्वज्ञों की लड़ाई देश को रसातल में ले जायेगी।

आत्मा को एकांत से नित्य माननेवाला और अनित्य माननेवाला झूठ है, क्योंकि आत्मा एकांत नित्य भी नहीं, और अनित्य भी नहीं, यह बात

वाग्युद्ध के रणमेदान में उतरे हुए आप जैसे पंडित को कौन समझावें ? याद रखना इस संसार में कोई भी द्रव्य पर्याय बिना का नहीं है। और पर्याय रहित द्रव्य भी नहीं है। इन दोनों का संबंध 'समवाय' के कारण भाडूती नहीं बल्कि अनादिकाल से दोनों तादात्म्यरूप से है, क्योंकि पर्याय रहित द्रव्य संसार को कभी काम नहीं आया। और द्रव्य बगैर पर्यायों की विद्यमानता गधे के शिंग जैसी, यानि कि कुछ भी काम की नहीं। इस तरह द्रव्य मात्र जब पर्यायात्मक है तब प्रत्येक वस्तु की विचारणा में इन दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखे बगैर संसार की किसी भी चर्चा का अंत कभी आया नहीं। इसलिए द्रव्य की चर्चा द्रव्यास्तिकनय से करनी और पर्यायों की चर्चा पर्यायास्तिकनय करने में वस्तु की यथार्थता का सम्यग्ज्ञान मिलेगा। जिनसे जीवन में रहे क्रोध, लोभ, मद, मत्सर और मिथ्याभिमानादि आत्मिक दूषणों का अंत आने से अपनी आत्मा ऊंची पायरी पर पहुंच जाती है।

पालीताणा की तलेटी को सीढ़ी पर खड़े हो कर गांव की ओर नजर डालते हुए प्रत्येक धर्मशाला और पेड़ छोटे बड़े दिखाई देगे। लेकिन १००-१५० सीढ़ो चढ़ने के बाद गांव की तरफ देखने से सब एकाकार दिखेगा। वैसे ही जब तक मानव के मन से लड़ाई झगड़े के संस्कार मिटे नहीं हैं तब तक संसार के जीवों में से कोई सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी कौन हो यह परमात्मा जाने। इसलिए ही अभिगृहीत मिथ्यात्व के नशे में चकचूर बना मानव सत्य निर्णय न कर सकने के कारण किसी केसाथ संधि नहीं कर सकता है। फल-स्वरूप उसका पूर्ण जीवन कलेश-कंकास में ही पूर्ण होता है।

परंतु सबसे पहले कषायों को मारने का शिक्षण लेनेवाला भाग्यशाली जब ऊंचे दरजे पर पहुंचता है, तब सब जीवों में कुछ न कुछ अच्छा दिखाई देने से प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा की तरह समझकर भद्र व्यवहार करता है, यह कहकर भगवंत ने विराम लिया।

गारुड़ी मंत्र से नागराज और कटु दवा से मलेरिया ताव का जहर नष्ट होता है, वैसे भगवंत की यथार्थ-साम्य-सौम्य और जीव मात्र को हित

करनेवाली वाणी सुनकर सोमिल को पता चला कि आज तक सिर्फ शास्त्रों के पन्ने पलटने से मैं तत्वार्थ समझ नहीं सका, जिसे आज पूर्णतया जान पाया हूं।

राग-द्वेष-मिथ्या प्रतिष्ठा या आडंबर से उत्पन्न हुए झगड़े, दृष्टि या वाग्युद्धों को शास्त्रों के पन्ने से किस तरह विरमित कर सकनेवाले थे। ऐसे तो मैं भी शास्त्र-वेद-वेदांत के पंक्तियों की खाल उधेड़नेवाला हूं। इस तरह सामने भी पंडित है, शास्त्र एक ही, पंक्ति एक ही है। श्लोक या गाथा भी एक है फिर भी पंडित शांत नहीं हुए हैं। प्रत्युत बैर से बैर क्रोध से क्रोध, मिथ्याडंबर से मिथ्याडंबर बढ़े! संसार के मानक नहीं तो नास्तिक हैं और नहीं हैं मिथ्यातत्वी। लेकिन शास्त्रों के पन्नों में उलझने वाले पोथा पंडित-महापंडित ही महामिथ्यात्वी हैं, नास्तिक हैं, गुप्त नास्तिक हैं और परमात्मा पद के कट्टर बैरी हैं। इस तरह के विचार आने से सोमिल द्विज देवाधिदेव भगवंत के चरणों में गिर पड़ा और द्रव्य तथा भाव से चरण वंदन करके संवेग से भरा वह द्विज परमात्मा से कहने लगा कि हे प्रभो! आपश्री की यर्थाथ वाणी सुनकर मेरा मिथ्याज्ञान शांत हुआ है, क्योंकि 'दृष्टि ऐसी सृष्टि'। आज तक संसार को जीतना चाहता था, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता था, क्योंकि मिथ्यात्व के काले रंग से रंगी हुई मेरी दृष्टि संसार पर थी, परन्तु आज मेरी दृष्टि बदल गई और संसार से उठकर आत्मा पर पड़ी तब मुझे मालूम हुआ कि "जब तक मुझ पर विषय वासना की काली नागिन चक्कर काट रही हो, भोग लालसा की चुड़ैल मुझे सता रही हो तथा कषायरूपी भूत मुझे संपूर्णतः खत्म करके मुझ पर सवार हो तो मैं संसार को किस तरह जीतनेवाला था? इसलिए हे प्रभो आज आपश्री के चरणो का स्वीकार करता हूं आपश्री का प्रवचन जीवन में उतारता हूं और अब ही आपश्री का अनन्य उपासक बनता हूं।

हे प्रभो! यद्यपि आपश्री के चरणों में अब तक बहुत सारे राजा-महाराजा-तलवीर मांडलिक, कौटुंबिक, ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और पुत्रादि

होने से उनका त्याग करना, वह आत्मा की मोक्षाभिलाषिणी पुरुषार्थ शक्ति के आभारी हैं। मन-वचन और काया से, करना, कराना और अनुमोदन का त्याग वह सर्वविरति कहलाता है। किन्तु सब जीवों की आत्मशक्ति तथा प्रकार की न होने से उन पापों का त्याग अपनी परिस्थिति के वश होकर थोड़े अंश में किया जाय वह देशविरति है, जिनके बारेह भेद हैं। प्रारंभ में पांचअणुव्रत तथा तीन गुणव्रत द्वारा नये पाप अटकते हैं, पर फिर से वह पाप होने न पावे इसके लिए उन तथा भाव पापों को रोकने के लिए चार शिक्षाव्रत हैं। इससे धीरे धीरे जीव को आध्यात्मिक शिक्षण मिलता है। जिससे क्रोध-मान माया-लोभादि पाप काबू में आ जाते हैं। आत्मा में अपूर्व शक्ति उत्पन्न करने के लिए भोगोपभोग विरमणव्रत के अंतर्गत १४ नियमों का विधान है। जो जैन शासन की अपूर्व देन है। अभ्यास करके उसकी शिक्षा लेनेवाला आदमी चोक्कस कल्याण पाता है, यह निर्विवाद है। अब हम बारह व्रतों को को क्रमशः देखें।

(१) प्राणातिपात विरमण

भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि अनादिकाल से जीव मिथ्यात्वी होने के कारण भाव अंधत्व को प्राप्त कर चुका था। द्रव्य अंध मतलब आंख बिना का अंध आदमी, जो दूसरे के कहने से या समझाने से कुछ तो सत्य स्वरुप समझ सकता है। किन्तु भाव अंध को समझाने के लिए किसी की भी शक्ति काम नहीं आती है। इस कारण से उसके जीवन में निर्ध्वंस परिणाम का प्राचूर्य है, जिससे थोड़ी भी हिंसा उसे महाभयंकर फल देती है। क्योंकि जीवन में विवेक न होने से एक जीव की, हत्या अनेक जीव की हत्या का कारण बनती है। उनकी झूठ भाषा सदैव द्रोहात्मक, चौर्यकर्म द्रव्य और भाव हिंसात्मक, मैथुनकर्म सर्वथा निर्दयी और परिग्रह संज्ञा मर्यादातीत होने से क्रोधादि भाव पाप भी सदा भड़के हुए होते हैं। इससे "पाप, पाप है" यह उन्हे समझने में नहीं आता है।

इससे विपरीत अरिहंतों के, उनके मुनिओं के, या वीतराग परमात्म की मूर्तिओं के दर्शन-वंदन, नमन-पूजन या स्पर्शन से मिथ्यात्व पलायन होकर जिन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, उन्हें यह भान होता है कि "आज तक जीव हिंसा के पाप से ही मैं दुःखी हूँ, रोगी हूँ" इसलिए सबसे पहले मुझे जीवहिंसा के द्वार बंद करने चाहिए। पर उन्हे इस प्रकार के ज्ञान अथवा चारित्र धर्म की प्राप्ति न होने से सर्वथा जीव-हिंसा को छोड़ देने के लिए वह जीव समर्थ नहीं बन सकता। यद्यपि वह भाग्यशाली जीव हिंसादि पापों को पाप ही समझता है, पर अपनी बेबसी के कारण संपूर्ण हिंसा के कार्यों को न छोड़ सकने के कारण सबसे पहले सर्वथा निरर्थक हिंसा न करे तो भी जीवन निर्वाह में कुछ भी दिक्कत नहीं होती है, ऐसी हिंसा, हिंसाकर्म, हिंसा व्यापार या व्यवहारों को छोड़ने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ बनता हैं और स्वप्न में भी जागृत रह कर उस प्रतिज्ञा का पालन करता है। शेष रही अपने पेट या व्यवहार के लिए होनेवाली हिंसा जो सर्वथा अनिवार्य है, उनमें भी निर्ध्वंस परिणाम का, क्रूरता का, खाने-पीने की लालसा का, पहनने ओढ़ने के मोह का, पुत्र परिवार की माया का धीरे धीरे शमन करके संसार का व्यवहार उदासीन भाव से चलाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है। जीवन के व्यवहार में कहीं भी दया का नाश, समता का अभाव, उदासीनता में कमजोरी आने न पाये इसके लिए सम्यकत्व से दीप्त मानव प्रतिक्षण जागरुक रहता हैं। उसके बावजूद यदि किसी समय पर किया गया निर्णय ध्यान बाहर चला जाय, प्रमाद का सेवन हो जाय, और अनजाने में या अन्य किसी कारण से, अनिच्छा से भी, कुछ हो जाय, अथवा करना पड़े इसके लिए उसकी आत्मा पश्चातापपूर्वक लगे हुए अतिचारों की आलोचना करके फिर से ऐसा नहीं करना पड़े उसके लिए सावधान बनेगी। भगवान की बात सुनकर सोमिल ने भी स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत स्वीकार किया और प्राणीमात्र

के तिरस्कार का, तथा हेलना, अवहेलना, या विराधना होने न पाये उसकी मर्यादा का निर्णय किया।

(२) मृषावाद विरमण :

मोह माया के नशे में सर्वथा बेभान बनी हुई आत्मा को मृषावाद (झूठवाद) की पकड़ बहुत जोरदार होती है। संसार के बहुत से आदमियों को हम जान सकते हैं कि वे कुछ छोड़ने के लिए, लाखों का दान पुण्य करने के लिए, या व्यवहार को अच्छा बनाने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहेंगे, पर अपने झूठ व्यवहार को, व्यापार को, झूठ भाषा को छोड़ने में समर्थ नहीं है। इसके लिए बड़ा कारण मिथ्यात्व है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मिथ्यात्व को अंधकार कहा है। जिसकी हाजरी में बड़े बड़े योगी, महायोगी, तपस्वी या ध्यानी भी अपनी आदत को सुधार नहीं पाये हैं, जब कि सम्यक्त्व का प्रकाश पाने के बाद उनकी आत्मा में आप ही आप कुछ समझ आयेगी कि, आज तक अपने अपराधों को छुपाने के लिए मैं झूठ बोला पर मेरा झूठापन प्रकट हुए बिना रहा नहीं, मेरे झूठेपन को सामनेवाले ने पकड़ लिया है, इसलिए मेरी निंदा, हेलना, मश्करी-अपमान या मार खाना पड़ता है। इस तरह मेरी बुरी आदतों, अपराधों ने ही मुझे दुःखी बनाने में मदद की है, इसलिए आज से मेरा झूठ बोलना बंद है अर्थात् चाहे कुछ भी हो, चाहे कितना भी सहन करना पड़े, पर आज से मिथ्याभाषा या व्यवहार नहीं करूंगा। जाने या समझे बिना किसी की बात में हकारात्मक या नकारात्मक भाव प्रदर्शित नहीं करूंगा। और अपनी नजर से देखे हुए दुश्मनों के पाप को प्रदर्शित नहीं करूंगा। इस तरह वह भाग्यशाली झूठ बोलने के कुसंस्कारों को मर्यादित करता है। उस वक्त उस साधक को इतना भी समझ में आयेगा कि मेरे बोलने से यदि क्लेश होता हो, बढ़ता हो, सच्ची बात कहने पर भी यदि किसी का हनन, मारण होता हो वहां न

करना पड़े अथवा मेरे व्यवहार से किसी का भी जीवन मुसीबत में आ जाय या किसीका शाप मुझे लगे या मुझे किसी को शाप देना पड़े ऐसे झूठ व्यवहार मैं करूंगा नहीं। यह निर्णय करके उस सोमिल ने भगवान महावीरस्वामी के पास मृषावाद विरमण व्रत का स्वीकार किया।

अपनी जीविका न टूटे, व्यवहार कलंकित न बने, इतना ध्यान रखकर स्थूल तरह का मृषावाद विरमण सबके जीवन का कल्याण करानेवाला है।

(३) अदत्तादान विरमण :

आंख से जिसे दिखाई नहीं देता है वह आदमी ठोकर खा सकता है या कौनसी चीज किसकी है ? उसका ध्यान न होने से निर्दोष भाव से एक दूसरे की वस्तु को इधर उधर कर सकता है। फिर भी उस अंध को प्रत्येक वस्तु का स्पर्श कराने के बाद हरएक चीज की बातमी दे देने के बाद वह अंध आदमी भूल नहीं कर सकता है। अंध धोबी भी गांव के मैले कपड़े लेता है, निशान करता है, तालाब पर धोने जाता है, उजले करता है, और जो कपड़े जिनके हैं उन्हे बराबर देता है। लेकिन मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार में व्याप्त बने हुए भाव अंध को सुधरने या मार खाने के बाद वापिस ऐसी भूल न करता हो।

यह कभी देखा है ? अर्थात प्रायः ऐसा नहीं होता है, क्योंकि उनके रोमरोम में पूर्वभव से चोरी करने के कुसंस्कार इस तरह के पड़े हैं जिससे वह मार खायेगा, पुलीस के डंडे खायेगा, अपमानित होगा और धूत्कार पायेगा। लेकिन लक्षण या आदत से मजबूर वह बार बार चोरी किये बिना नहीं रहेगा। ऐसे मैले वस्त्रवाले चोर चोरी करके पावली पैसे की ही करेंगे, जब कि उजले वस्त्र पहननेवाले ग्रेज्युएट डबल ग्रेज्युएट किस तरह चोरी करते हैं यह आप जानते हैं? चोरी गई चीजों को खरीदे बिना, चोर को मददरूप हुए बिना, माल में भेलसेल किये बिना, राज्य विरुद्ध

कर्म किये बिना, या झूठ नाप या हिसाब तथा व्याजादि में गड़बड़ किये बिना मिनिस्टर, डॉक्टर, बड़े व्यापारी लाखों करोड़ो रुपये किस तरह इकट्ठे कर पाये हैं ? और पलक झपकते ही मोटर, फ्लेट या फैक्ट्री के मालिक कैसे बन सकते हैं ?

देशके लाखों करोड़ों लोगों को भूखे रखकर अनाज की गोनीओं को तथा तेल के डिब्बे किसी को भी पता न चले ऐसे एक जगह से दूसरी जगह कैसे करते होंगे ? यह सब कार्य साहूकारी को आभारी नहीं पर अदत्ता दान (चौर्यकर्म) पर ही निर्भर हैं। इसलिए मेरे शासन में अदत्तादान को पाप कहा है। इन सब बातों से हमें इतना ही जानना है कि भव भवांतर में मिथ्यात्व के जोर से किये गये चौर्यकर्म के संस्कार क्या काम करते है?

बुखार का असर शरीर में रहता है तब तक जीभ, आंख या सिर भी स्थिर नहीं रह पाता। उस तरह मिथ्यात्व को बुखार की उपमा दी गई है। जिसकी असर से देव-गुरु-धर्म-सत्य-सदाचार-इज्जत आबरु और कर्मसत्ता पर भी विश्वास नहीं रहता है। ऐसे जीवों को इस तरह का बकवाद करते हुए आप देख सकते हैं, वे इस तरह बोलते हैं ? "समाज में बैठे है, धर्म कर्म देखने बैठे तो श्रीमंत कब होंगे ? ऐसे जीवन की किंमत भी क्या है ? एकाद या दो चार संस्था का मेम्बर, सेक्रेटरी अध्यक्ष या ट्रस्टी न बनने पाऊं तो यह जीवन क्या काम का ? महाराज को क्या मालूम कि हमारी किंमत पैसे से होती है, धर्म कर्म से नहीं होती। इसलिए अब आंख कान बंद करके किसी भी तरह पैसे इकट्ठे करने के सिवा और कोई मार्ग मेरे पास नहीं। इस तरह बोलते रहते हैं और व्यवहार के लिए कुछ करके व्यापार धंधे में पूर्ण मस्त बन जाते हैं। उस वक्त उन्हें महावीरस्वामी का शासन "तेना हडप्पओगे" या "कूडतोले 'कूडमाणे" यह सब सिद्धांत मस्करी जैसे लगते हैं।

परंतु सोमिल ! तू समझ तो सही, चोरी करनेवाला कहीं भी

विश्वासपात्र नहीं बना है, किसी के साथ मित्रता टिका नहीं सकता है, यावत् अपनी मां-पत्नी तथा पुत्र का भी हो नहीं सकता।

यह सब बाते सुनकर सोमिल ने निश्चय किया कि आजसे मैं चोरी नहीं करुंगा, झूठ नाप-तौल नहीं रखूंगा, ब्याज वटाव और माल में गड़बड़ करुंगा नहीं। दाल-रोटी मिल जाने के बाद मेरे व्यवहार व्यापार भाषा और तौल-नाप में से झूठापन सर्वथा निकाल दूंगा। आखिर तो मनुष्य को पेट में दो रोटी, पहनने के लिए कपड़े, सोने-उठने बैठने के लिए ३॥ हाथ की जमीन के सिवा और कुछ काम नहीं आता है। तीजोरी में कितनी भी अशरफियां हो तो उसका 'राहता' कभी नहीं बना है, और नोटों की चटनी खाने में काम नहीं आती। यह समझकर भगवंत के पास से 'स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत' लेकर अपने जीवन को पाप में से मुक्त किया।

(४) मैथुन विरमण :

अनंत भवों की रझड़पाट में इस जीवात्मा ने अनंत जीवों के साथ के विलास भुगते हैं, जिस के खतरनाक कुसंस्कार आत्मप्रदेश के अणुअणु में होने से, मदिरापान के नशे में चकचूर आदमी जैसे हिलता रहता है, जैसे कुसंस्कारों का उदय होता है और मोहकर्म का नशा बढ़ने लगता है, उस वक्त माता-पिता-मित्र और हितकारी गुरुदेवों को भी सुनना नहीं चाहता है।

गृहस्थाश्रम जीवन में चारों ओर से आनेवाले असंख्य पापों के मूल में मैथुनपाप रहा है; जिससे उनके जीवन में, जीभ में, मन में फेरफार होने से सर्वथा काबू के बाहर होकर संसार के मंच पर बेफाम फिरता है उस समय उसके आंख के इशारे, बोलने की चालाकी और हाथ-पैर की चेष्टाऐ देखने लायक होती है। कामदेव के स्कूल में

भरती हुए ऐसे भाग्यशाली पर जरा बारीक नजर करके देखेगे तो, कामदेव के स्कूल के तूफान तुम्हें प्रत्यक्ष दिखाई देगे।

छोटे बालक या बालिका के 'बालत्व समाप्त होने पर उसके शरीर, के अंगोपांग, रुप, स्पर्श आदि से लेकर उनकी आंखों में भी 'मादकता' (भोगलालसा) की असर उत्पन्न होती है, बढ़ती है और उसके बाद अपनी माता को ही सर्वस्व माननेवाला धीरे धीरे उसके शिकंजे से छुटता है। उस वक्त झूठ शपथ खाकर अपनी माता की आंख में भी धूल झोंकता रहता है। तो यह समझना सरल होगा कि कामदेव के नशे में चूर जो व्यक्ति अपनी माता को भी मूर्ख बनाता है वह पिता-मित्र-भाई-बहन या अन्य की क्या सुनेगा ?

सोमिल ! जब तक मानव को संसार है तब तक अपने उपार्जित ऋणानुबंधन को भुगतने के लिए, दूसरी व्यक्ति का साथ लेना ही पड़ता है। परंतु उसमें संबंध कैसा होना चाहिए ? जिससे दोनों का उत्कर्ष हो और जीवन व्यवहार पवित्र और अनुकरणीय बनने पाये। संबंध में प्रेम और मोह इन दोनों में से एक की पसंदगी करनी रहेगी यद्यपि दोनों में मित्रधर्म, दांपत्यधर्म तथा कौटुंबिकधर्म को रजा नहीं देनी है, तो प्रेम और मोह में फर्क क्या है ? यह जानकर एक तत्व की आराधना करनी रहेगी.... जैसे कि,

प्रेम स्वयं प्रकाश है, और मोह अंधकार है।

प्रेम उर्ध्वगामी है और मोह अधोगामी है।

प्रेम में स्वार्थ बलिदान है, मोह में उसकी साधना नारकीय जीवन है।

प्रेम में मन तथा इन्द्रियें शीतल रहती हैं, जब कि मोह की साधना में गर्म रहती हैं।

प्रेम में मैत्रीभाव का विकास है, मोह में नाश है।

प्रेम में ज्ञान का वर्धन है, मोह में ह्रास है।

प्रेम सरल मार्ग है, मोह वक्र मार्ग है।

प्रेम जागृत है, मोह अंध है।

प्रेम से माया घटती है, मोह से बढ़ती है।

प्रेम से वृद्धत्व यावत् मृत्यु और परभव सुधर जाता है, जब कि मोह सबको बिगाड़ देता है।

प्रेम को संतसमागम पसंद है, जब कि मोह को पसंद नहीं

इत्यादिक कारणों को लेकर. दूसरे मानव के साथ प्रेममय संबंध से संबंधित हो तो जातीय दूषण काबू में आयेंगे और मानवता का विकास होगा।

जब तक कर्मों की सत्ता है तब तक दांपत्यधर्म का स्वीकार किये बिना चारा नहीं। उसमें भी यदि प्रेम को स्थान देने की कोशिश की जाय तो दोनों का जीवन धर्ममय बनेगा। और एक दिन धर्मपत्नी के साथ रहकर भी जीवन व्रतधारी बनेगा।

वेदमोहकर्म की विद्यमानता में कामराग और स्नेहराग की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। पर दोनों राग में मोह का प्रवेश न कराया जाय तो "कामराग स्नेहरागौ ईषत्कर निवारिणौ" यदि दोनों में मोह का एकराग नहीं होगा तो वे आसानी से जीते जायेंगे। किन्तु दोनों में दुर्बुद्धि के वश होकर यदि मोह (दृष्टिराग) को लाया गया तो तुम्हारा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विद्या और आत्मा भी मोह मदिरा के पान में बेभान बनेगा। तथा जिनकी प्राप्ति में दान, शियल, तप और भाव की आराधना काम लगी थी वह सब पुण्यमें और सत्कर्मों का दिवाला निकलेगा और आत्मा दुर्गति का अतिथि बनेगा।

वेदरहित भगवान की उपर्युक्त बातों को जब सोमिल समझने लगा तब एक ही पल में निर्णय किया कि..... भूत और भावी के जीवन मेरे हाथ में नहीं पर वर्तमान भव को यदि अरिहंत के शासन में रंगना हो और "जाइ जरा मरण सोगपणासणस्स" इस धर्म के संस्कारों से आत्मा को भावित करना हो तो सब से पहले मुझे प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि गत भवों के अधूरे रहे संसार की कोई भी स्त्री चालू भव में यदि अप्सरा बनकर आवे तो भी वह मेरी 'माता' है तथा वो मेरे समक्ष कैसे भी नखरे करे मेरे चरणों में शरीर और धन अर्पण करे, तो भी इस भव के लिए मेरी 'माता' है। अपनी विवाहित स्त्री को छोड़कर दूसरी विधवा, कन्या, सधवा; त्यक्ता, भाभी, साली प्रभृति सब स्त्रियें मेरी इस भव में माता समान है। ऐसा पवित्र भाव उत्पन्न करके मुझे मेरी माता के सामने देखने का पाप नहीं करना चाहिए है। ऐसी जबरदस्त और कड़क प्रतिज्ञा लिए बिना भवभवांतर के पाप संस्कारों को नाबूद करना बच्चों का खेल नहीं है। ग्यारहवें गुणठाणे से या चतुर्दश पूर्व से पतित होने में दूसरा क्या कारण है ?

आनतादिकृतभुजां मनोविषयसेविनाम्।
कायेनऽस्पृशतां देवीमपि क्षीणमनोभुवाम्॥
मनुष्यस्त्रियमाश्रित्य यद्येवं स्याद्विडम्बना।
तर्हि को नाम दुर्वारं कदर्थं जेतुमीश्वरः॥

(लोकप्रकाश १-३-१७७)

और जन्म जन्म के बैरागी भर्तृहरि ने हाथ झटककर बिना संकोच कहा कि :-

मत्तेभकुम्भ दलने भुवि सन्ति शूरा।
केचित् प्रचण्ड मृगराज वधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्प दर्पदलने विरला मनुष्याः॥

सोमिल जो अब महावीरस्वामी के चरणों में बैठा है वह सोचता है कि देवाधिदेव के शासन में, तुफान में आये हुए मोहकर्म को भी मोक्षाभिलाषिणी आत्मशक्ति से उपशमित किया जाता है। उसके लिए यानि कि मोहकर्म की उदीर्णा नहीं करने के लिए, उदय में आये हुए मोहकर्म को शांत करने के लिए, परस्त्री के साथ मेरे सारे संबंध यावत् धर्म के नाम से भी छोड़ देने में मेरा कल्याण है, यह सोचकर अपना गृहस्थाश्रम महक उठे, और भवांतर में जैन शासन मिलने पाये इसके लिए अधर्म्य मैथुन द्वार को बंध करना चाहिए। यह समझकर स्थूल मैथुन पाप का विरमण हो इसके लिए परमात्मा से चौथे व्रत का स्वीकार करता है।

मथुन विरमण व्रत पालना किस तरह ?

खेत को बाड़ की, बंगले को फाटक की आवश्यकता हर किसी को मान्य है उसी तरह भवभवांतर के कुसंस्कार जब जिंदगी में तुफान मचाते हैं तब जीवन के प्रत्येक प्रसंग से प्रत्येक मिनिट में या सेकंड में जागृत आत्मा ही अपने जीवनधन को बचाने के लिए समर्थ है। उसके सिवा एक भी शक्ति जीवनधन की रक्षा करने के लिए समर्थ नहीं है।

बातों के बड़े बनाना एक अलग बात है और जीवन की असलियत और बात है। संसार को प्रत्यक्ष करें तो ख्याल आयेगा कि अच्छे निमित्तों में, संत समागम में रहने पर भी आन्तरवृत्तिओं को काबू में नहीं लायी जाती। इसलिए कहा गया है कि साधक जब तक अपनी आत्मा को गुरु न बनावे तब तक व्यवहारनय के गुरु की असर उस साधक पर कभी पड़ती है; और बहुत बार नहीं पड़ती है। इस कारण से अपनी आत्मा को जागृत करनेवाले साधक को मोहराजा कुछ नहीं कर सकता। वीतराग की आज्ञारुपी तलवार, ज्ञानरुपी ढाल और वैराग्यरूपी कवच जिनके पास है, उनसे बेचारा मोहराजा, उनके रागद्वेष तथा कामदेवादि बड़े योद्दे भी दूर भागते हैं।

इन सब बातों की यथार्थता जानने के बाद सोमिल ने परस्त्रीगमनरुप मैथुन विरमण को अच्छी तरह से चालने के लिए नीचे दिये हुए नियम धारण किये। क्योंकि नियम बिना यम (व्रत) चालना लगभग अशक्य है।

१. मेरी धर्मपत्नी की गैरमौजूदगी में या बीमारी में मेरी इच्छा पूर्ण करने के लिए मेरे घर की दासी को भाड़ा देकर उसमें स्वस्त्री की कल्पना कभी नहीं करुंगा। क्योंकि हृदय में दुराचार कि भावना बिना दुसरे की औरत में अपनी पत्नी की कल्पना नहीं होती है।

२. हाल में वह स्त्री किसी पराये की नहीं है। चाहे वह कन्या हो, विधवा हो या अन्य कोई हो, फिर भी उसके साथ गमन करने की की कल्पना मैं नहीं करुँगा। अथवा परदेश गये पति के वियोग में सधवा तथा त्यक्ता थोड़े समय के लिए मेरी पत्नी बनना चाहे तो यह बात मैं स्वीकार नहीं करुँगा।

३. मेरी धर्मपत्नी से भी दूसरी कन्याएँ रुपवती और मदमाती हो सकती हैं। उससे मेरे मन में खराब तत्व की उद्दीर्णा होने न पाये इसके लिए उनके लग्न प्रसंग में नहीं जाउँगा। क्योंकि रुपवती कन्या को देखकर कदाचित दूसरे भव में भी वैसी स्त्री की प्राप्ति के लिए उनमें मेरा दिल खो जाय तो भव का अंत आने का दिन कभी नहीं आयेगा, यह सोचकर सिर्फ व्यवहार निभाने के लिए वहाँ जाऊंगा। पर दूसरी बातों में मन मक्कम करुँगा।

४. स्वस्त्री में भी संतोष पाने के लिए शक्य होगा तब तक मैं स्वस्त्री के संसर्ग में भी संयम पालूँगा, यानि कि भोगरात्री के सिवा दूसरी सब बातों में मन को काबू में रखूंगा। जिससे अन्य कोई प्रकार की गंदी चेष्टा, गंदा भाषण होने न पाये और होने का प्रसंग भी आयेगा तो भी उसे टालने की दानत रखूंगा।

५. भोगरात्री बिना के दिवस तथा रात्री में काम की उत्पत्ति न हो वैसे मिष्टान्न, अतिभोजन, कामकथा या भोगे हुए प्रसंगों को याद नहीं करूँगा। महावीरस्वामी के धर्म की प्राप्ति के पहले के जो कुछ भी याददास्त, स्थान, चित्र, कथा और संगीत होंगे, उन्हे घर में से और हृदय में से दूर करूँगा।

ऊपर दिये गये नियमपूर्वक मैं मेरा पवित्र व्रत जो मेरे जीवन में प्रथमबार उदय में आया है, उसे जान के जोखम से पालूंगा और ब्रह्मचारी, व्रतधारी, तपस्वी तथा स्वाध्यायी महापुरुषों का सहवास करूँगा।

(५) परिग्रह परिमाण व्रत :

जिसके भाग्य में स्वीकारी हुई स्त्री सबसे बड़ा परिग्रह है, वह साधक बाह्य या आभ्यंतर परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता। आकाश में रहे ग्रहों को तिल या कुरमुरे का लाडू दो, या रुमाल के लिए लाल-पीला कपड़े का टुकड़ा दो, तो वे देनेवाले पर राजी हो जाते हैं किन्तु जिनका पेट कभी भरता ही न हो; भरे हुए पटारे भी खाली जैसे लगे। और लाखों नदीओं के भयंकर पूर से समुद्र को जिस तरह तृप्ति न हो उसी तरह परिग्रह नामके राक्षस का पेट भी कभी नहीं भरता। लाखों करोड़ों की दौलत घर में आने पर भी आप की आशा तृष्णा आकाश की तरह, मुँह खुला रहकर बैठी राक्षसिनी की तरह भूखी ही भूखी रहेगी।

और बढ़ा हुआ या बढ़ाया गया परिग्रह कामदेव का सहचारी मित्र होनेसे उनके तूफान सब को परेशान करेंगे। क्योंकि थके हुए शरीर में शक्ति का पुनः संचार करने के लिए उसका रस बढ़ाता ही रहेगा। फार्मसी की पौष्टिक औषधियों के लिए लालसा बढ़ेगी। कपड़ों से शरीर को सजाने की वृत्ति तथा प्रवृत्ति बढ़ेगी और कामदेव को सोये हुए सर्प की तरह फिरसे भड़कायेंगे। यह सब प्रताप परिग्रह का है क्योंकि :--

"पालो पति खाय जो, ताको सतावे काम ।
दूध दहि, मलाई चाटे ताकी जाने श्रीराम ।"

यह सब बातें जानकर सोमिल ने परिग्रह को नियंत्रित करने के लिए भिन्न भिन्न नियम स्वीकारे ।

(१) सोने-चांदी-हीरे-मोती आदि के आभूषणों को मैं नया नहीं कराऊंगा । मेरे शरीर पर धारण नहीं करूंगा । मर्यादित सुवर्णादि द्रव्यों को बढ़ानेके लिए भी मैं कोशिश नहीं करूंगा । बिनजरूरी व्यापार, रोजगार बंध करूँगा तथा नये व्यापार, फैक्टरी आदि का प्रारंभ नहीं करूँगा ।

(२) खेत, जमीन, मकान आदि को बढ़ाऊँगा नहीं, जितना है उतने में संतोष मानूँगा ।

(३) पशू आदि जो मूक प्राणी हैं उनकी संख्या में बढ़ती नहीं होने दूँगा । कदाचित बढ़ती होने का प्रसंग आये तो उन गाय भैंस आदि को मेरे स्वामीभाई को सौंप दूँगा। किन्तु कसाई या उनके दलालों को मेरा एक भी जानवर दूंगा नहीं, उन्हें बेचूंगा नहीं ।

इत्यादि कारणों से परिग्रह परिणामव्रत खूब सावधानी से पालूंगा ।

गुणव्रत :-

ऊपर दिये गये ये पांच बड़े पापों का अमुक अंश से त्याग करने के लिए पांच व्रतों का स्वीकार करना पड़ता है । बीमारी के बाद होनेवाली अशक्ति को पुनः सशक्त बनने में देर लगती है, उस तरह अनंत भव की मिथ्यात्वरुप ताप की अलर से अशक्त हुए जीवात्मा को भी आध्यात्मिक शक्ति धीरे धीरे आती है और बढ़ती है ।

साधक का गुरुकुलवास यदि मजबूत होगा तो शक्ति का संचार शीघ्रता से होगा। तथा गुरुकुलवासादि की कमजोरी हो और साधक भी कमजोर हो; और साधक को आगे बढ़ने की भावना हो तब वह आत्मा ज्यों ज्यों समझता जायेगा त्यों त्यों शक्ति आयेगी और पांच व्रत में जो कुछ भी ढीलापन है उसे कम करने की आदत पड़ेगी और शक्य इतना निरर्थक पापों को होने नहीं देगा। परम दयालु अरिहंत देव के शासन में इसलिये ही तीन गुणव्रतों की योजना सार्थक बनती है। मां अपने लाड़ले को गोद में सुलाकर जबरन कड़वी दवा पिलाते हुए कहती है कि बेटा! यह दवा पेट में जाते ही गुण करेगी। उस तरह इन गुणव्रतों को भी समझना। क्योंकि अनादिकाल से जीवात्मा को पौद्गलिक सहवास रहा है; ऐसी स्थिति में उसे त्याग करना यह लोहे के चने चबाने जैसा कठिन कार्य है। इसलिए अमुक साधक को छोड़कर दूसरों के लिए सरल मार्ग यह है कि उसका क्रमशः त्याग करे और शेष के त्याग के लिये तैयार रहे। लिये हुए पांच अणुव्रतों को पूर्ण सहायक होने के लिये यह तीन गुणव्रत हैं। जिससे जीवन में पड़ी झूट नापक आदते काबू में आयेगी।

कई बार ऐसी भी आदतें रहती हैं जो सर्वथा असभ्य, बीभत्स और दूसरों को नहीं कही जाती है। घर में धर्मपत्नी होने पर भी उन्हें छोटे बच्चों के साथ गंदे कर्म करते देखते हैं। उम्र ढल जाने पर भी कुछ खानगी आदतें हैं। जिन्हें घरवाली, पुत्र, गुरु देखनेवाले नहीं हैं, वैसी आदतों से लाचार बने मानवोंको देखते हैं तब उनके जीवन की करुणता का ख्याल आता है। और साथ साथ यह भी पता चलता है कि आदतों का त्याग कितना दुःशक्य है। फिर भी साधक धीरे धीरे आगे बढ़े और किये गये पापों का प्रायश्चित करे, तो उसे सफल होने में देर नहीं लगती। अब इन तीन गुणव्रतों को हम क्रमशः देख लें।

(१) दिग्परिमाण गुणव्रत

मिथ्यात्व के जोरदार हमले से जीवात्मा में जब मैथुनभाव मर्यादातीत होता है तब उसे पुष्ठ करने के लिए अपने शरीर में रक्त - मांस और वीर्य आदि की शक्ति का खजाना अटूट रहे और कम होने न पाये इसके लिए औषध, खानपान और रहनसहन को सुन्दर बनाने के लिए परिग्रह को बढ़ाये बिना कुछ चारा नहीं। जिससे मैथुन के सहचारी परिग्रह को कैसे बढ़ाया जाय? यह प्रश्न जीवात्मा के लिए मुख्य है तब संसार की चारों ओर व्यापार रोजगार बढ़ाता जाता है और लाखों की पूंजी इकट्ठी करने में अपना जीवन पूर्ण करता है।

परंतु सम्यक्त्व के प्रकाश में आगे बढ़ते हुए सोमिल की आत्मा को समझ में आता है कि, सिगड़ी में डाले गये कोयलों से आग शांत नहीं होती, इस तरह किये गये पाप भी अपनेआप शांत नहीं होनेवाले हैं। इसलिए मेरे चालू व्यापार को छोड़कर दूसरे सब व्यापार बंद कर देने चाहिए। इसके लिए दिशाओं के गमना-गमन को भी मर्यादित करता है, जिस तरफ मुझे जाने की आवश्यकता नहीं है वहां क्यों जाना? क्योंकि सूक्ष्म और बादर अनंत जीवों से पूर्ण इस संसार में जहां पैर रखोगे वहां पाप हैं, जहां दृष्टि जायेगी वहां पाप है यह सोचकर जिस दिशा में जाना जरुरी है, उसे छोड़कर अन्य दिशाओं में क्यों गमन आगमन करना? यानि कि जिन दिशा में न जाने से व्यवहार और शासन के कार्य में कुछ हरकत नहीं आती तो उस तरफ जाने का छोड़ देता है। अथवा अपने घर से दुकान पूर्व दिशा में हो तो दूसरी दिशा की ओर जाकर नाहक क्यों जीव हत्या करनी है? अथवा काम बिना उस तरफ जाने से कुछ फायदा नहीं है, इससे सांसारिक कलह से भी बच पायेंगे। यह समझकर अगत्य के काम सिवा जाना आना बंध कर देता है।

अनादिकाल से इस आत्मा को स्वैच्छिक हिरने फिरने की आदत लगी है। उसे मर्यादा में लाने के लिए यह पहला गुणव्रत जीवों के लिए आशीर्वाद समान है। क्योंकि संयमी जीवन बनाने में इससे दूसरा मार्ग क्या ? दूसरी बात यह है कि संसार और उसकी माया के साथ का संबंध जानबूझकर छोड़ने में और धीरे धीरे उन संबंधों को कम करने से रागद्वेष कम होगे, उसके सिवा राग-द्वेष मोह-माया आदि संबंध कम नहीं होंगे।

जीवात्मा को सम्यक्त्व का राग ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह अपने आप ही कल्याण का मार्ग नक्की करता है और जो छोड़ना है उसे छोड़ने की और स्वीकार करना है उसे स्वीकारने की शिक्षा लेता है।

ज्ञान मार्ग कितना भी ऊंचा और अच्छा होगा पर उससे बढ़कर चारित्र मार्ग है। क्योंकी जो वस्तु हम जीवन में न उतार पाय तो वह ज्ञान भी किस काम का ? इसलिए सम्यग्ज्ञान से तत्व जानना, सम्यगदर्शन से उस तत्व को श्रद्धा में उतारना और चारित्र से जीवन में उतारना, उसका नाम मोक्ष मार्ग है।

(२) भोगोपभोग विरमण गुणव्रत :

भवभवांतर में किये हुए शुभाशुभ कर्मो को भुगतने के लिए शरीर की रचना त्रिकालाबाधित है। और उसकी मौजूदगी में भोग तथा उपभोग बगैर चल नहीं सकता। शरीर मकान है और इन्द्रियें खिड़की है, इसलिए उन इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, गंध, रस, दर्शन और श्रवण के ज्ञान के लिए आत्मा को उनकी आवश्यकता हैं। क्योंकि प्रत्येक जीव में वैराग्य न होने के कारण आत्मा भी इन्द्रिय का गुलाम बना होनेसे इन्द्रिय के भोग में आशक्त बना रहे, यह स्वाभाविक है और जब तक आशक्ति है तब तक संसार है, माया है और उनके बंधन हैं।

(१) जिसका भोगवटा सिर्फ एक बार हो, जैसे कि खाई गई रोटी और पिया गया पानी फिर से खाने में या पीने में काम नहीं आता है, उसे भोग कहते हैं।

(२) एक ही वस्तु बार-बार काम आये उसे उपभोग कहते हैं। जैसे कि आज का पहना हुआ वस्त्र, ओढ़ी हुई रजाई, पुरुष के लिए स्त्री तथा स्त्री के लिए पुरुष का स्वेच्छा से भोगवटा कितनी भी बार कर सकता है, इसलिये वह उपभोग है।

आदमी के जीवन में जब गत भवों का पुण्य हो तब भोग और उप भोग की सामग्री विपुल, स्वच्छ, मनपसंद तथा शरीर और इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली होती है। जब पाप कर्मों का बोझ सिर पर हो तब नीच खानदान, कुरुप शरीर, मकान का अभाव, पीने के पानी की तंगी, फटे हुए वस्त्र, टूटे हुये बर्तन, ठंडे रुखे और बिना मसाले के भोजन, कौटुंबिक क्लेश, पैसों की तंगी के कारण भोगोपभोग का अभाव उनके जीवन में दुःखदायी होता है। यह सब बातें पुनर्जन्म को साक्षात करनेवाली है; अर्थात् पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये दूसरे तर्क वितंडावाद बेकार हैं–निरर्थक है।

मिथ्यात्व के गाढ़ अंधेरे में अटका हुआ आत्मारुप मालिक खुद ही दिग्मूढ होने से, उसका बेमर्याद मन अपने इन्द्रियों के घोड़ों को किस तरह काबू में रख सकता है? इस कारण से ऐसे जीव भोगोपभोग के कीटक बनकर उसमें ही बेहाल होकर मृत्यु पाते हैं।

जबकि सम्यगज्ञान की ज्योत में प्रकाशित हुई आत्मा भोगोपभोग के भोगवटे में रही होने पर भी प्रतिसमय जागृत होने के कारण उनके मन और इन्द्रियें भी आत्मा के स्वाधीन होने से वे विवेकपूर्ण विचार करते रहते हैं।

(१) भोगोपभोग मेरे पुण्य के आधीन होने से प्राप्त हुए सब भोग या उपभोग मुझे भोगने ही चाहिए। यह इष्ट नहीं, क्योंकि उनके भोगवटे में मस्त रहने से नये पापों का उपार्जन होगा, जिससे पीछले भव की पुण्य कमाई का दिवाला निकलेगा। इसलिये उनमें मस्त होकर जीवन खो देना अयोग्य है।

(२) पुण्यकर्म इस भव के लिये मेरा साथीदार क्यों न हो, पर सब भोग मैं एक ही साथ नहीं भुगतनेवाला हूं। जैसे कि दहि और दूध का भोजन साथ साथ करने से सर्दी होगी, और जरूरत से ज्यादा भोजन करने से अजीर्ण होगा। जो सब रोगों का घर है। एक पतलून पर दूसरी पतलून या एक साड़ी पर दूसरी साड़ी पहनने पर लोग दिवाना कहेंगे। एक चश्मे पर दूसरा चश्मा किस तरह पहनी जायेगी? इस तरह पुण्यकर्म के जोर से चाहे कितने भी भोगोपभोग मुझे मिले, पर उनके भोगवटे में मैं अशक्त होनेसे सब पदार्थों का भोग या उपभोग कर नहीं सकता, और करने से शरीर और व्यवहार बिगड़नेवाले है तो उन्हें छोड़ देने में ही सम्यग्ज्ञान की सार्थकता है।

(३) वनस्पतिओं को भी गुणदोष होने से कई खून में उष्णता बढ़ानेवाली है, कई शरीर को बिगाड़नेवाली, वायु पित्त तथा कफ को भड़काने वाली और कई वीर्य (शुक्र) को बिगाड़नेवाली है, तो फिर ऐसी अभक्ष्य या अनंतकाय वनस्पतिओं को खाकर मेरा जीवन मैं क्यों बिगाड़ूँ ?

(४) जिन विलासों को भोगने से मेरे जीवन में जातीय दूषण बढ़ेंगे, कामचेष्टा प्रज्वलित होगी और वृद्धावस्था को बिगाड़कर भयंकर असाध्य रोग के द्वार खटखटायेगी, और मृत्यु अवस्था भी बिगड़ेगी, तो यह विलास मुझे कभी न छोड़नेवाले हो तो में खुद ही उन्हें विदा करता हूं या विदा करने का प्रयत्न करता हूं।

(५) और आखिर मेरे पुण्यकर्म समाप्त होकर मेरे अगले भव को बिगाड़े उसके पहले ही मैं सावधान होकर उनका त्याग कर दूं।

यह समझकर भाग्यशाली साधक खानेकी, पीने की, पहनने की तथा विलासों की सामग्री को मर्यादित और संयमित करेगा जिससे जाहोजलाली में भी अपने अगले भव को सुधारने के लिए, तथा इस भव की अपूर्ण आराधना को अगले भव में पूर्ण करके जन्म-जरा-मृत्यु के पंजे से छुटने के लिए आराधना में मग्न रहेगा। इस तरह की विचारणा करके सोमिल द्विज अपने भोगोपभोग का विरमण अर्थात् मर्यादित करता है।

(३) अनर्थदंड विरमण गुणव्रत :

'अनादिकाल के कुसंस्कार छोड़ने चाहिए' यह शब्द बोलने में जितने सरल हैं, पर आचरण में उतारने कठिन है और उसे उतारने के लिए कई साधक साधना मार्ग से भ्रष्ट होकर नीचे गिर गये हैं। फिर चाहे वे द्रव्य से या भाव से गिरे हों! क्योंकि ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थितिवाले मोहकर्म के सैनिकों से चारों ओर से घिरे हुए आत्मा को कौन से भव के संस्कार, विलास, पाप, पाप भावना, क्रोध-मान-माया और लोभ आदि कब? किस तरह? कौन से निमित्त से आयेंगे यह खबर नहीं होती है। इस भव के सरल और गुणवान मानव को कौन सा निमित्त कब सतायेगा? इसके हजारों कथानक शास्त्र में संग्रहित हैं।

प्रतिक्षण ज्ञान-वैराग्य-जप-तप और गुरुकुल वास में रहता हुआ जागृत आत्मा ही अपने को बचाने के लिए और स्वार्थवश माया वश या मोहादिवश खड़े किये हुए निमित्तों को ठोकर मारने के लिए जागृत रहता है। और सर्वथा निरर्थक, अनर्थदंड का विरमण करने के लिए कटिबद्ध होकर नीचे दिये हुए नियमों को ग्रहण करता है।

(१) मेरा वेष, फेशन, बोलने की चालाकी या चाल की सुंदरता के कारण दूसरे किसी भी जीव को शील, सत्य या सदाचार से भ्रष्ट होना पड़े, ऐसा व्यवहार आजसे नहीं करूंगा।

(२) जुगार, मांस भोजन, शराबपान, वेश्या या परस्त्रीगमन, चोरी और शिकार आदि सात व्यसन पापोत्पादक और वर्धक होने से उनका त्याग करूंगा।

(३) स्वैच्छिक विहार करनेवाले पशु-पक्षीओं को पालने के लिए पिंजड़े में डालना अच्छा कार्य नहीं है, तो आज से ऐसे व्यापार और व्यवहार बंद करूंगा।

(४) असंख्य तथा अनंत जीवों का हनन हो ऐसे उद्घाटन समारंभ तथा हदसे ज्यादा परिग्रह मेरे जीवन के लिए काम का नहीं इसलिए उसे छोड़ देना हितावह है यह समझ लेना चाहिए।

(५) बिभत्स और दुराचारोत्पादक और वर्धक साहित्य नवलकथा, नाटक, खेल तमासा या भांड चेष्टा आदि मेरे जीवन को बरबाद करनेवाले होनेसे उनका त्याग करता हूं।

(६) राजकथा, देशकथा, लोजनकथा और स्त्रीकथा प्रत्येक साधक के लिए नाशक तत्त्व होने से उनको काबू में रखने के लिए ऐसे आदमीयों का सहवास भी सदा के लिए छोड़ दूंगा।

(७) दूसरे जीवों को मेरी मोहिनी लगाने के लिए हाथ पैर, जीभ आंख या मुंह के नखरे, असभ्यता वगैरह दुराचारों को बढ़ानेवाले होनेसे उनका त्याग करूंगा।

(८) असंबद्ध, असभ्य, हिंसक व्यवहार तथा झूठ प्रलाप करने की आदत को काबू में रखूंगा।

(९) मेरे प्रमाद से किसी की ऊंगली आदि कट जाये इसलिए चाकू, कातर, कुल्हाड़ी आदि शस्त्रों को इधर उधर भी रखूंगा नहीं अथवा उपयोग में न आ सके उस तरह रखूंगा।

(१०) भोगवृत्ति भड़क उठे ऐसे प्रकार के आहार-विहार को छोड़ देने का प्रयत्न करुंगा।

सोमिल ने तीन गुणव्रतों का भी स्वीकार किया है, और उसके साथ सार्थक और निरर्थक पापों से अपने आत्मा को बचाया है।

शिक्षाव्रत :

अनादिकाल से जीवात्मा को काम, क्रोध, मान माया, लोभ, राग और द्वेष के संस्कारों का शिक्षण बिना मांगे अनिच्छा से या इच्छा से मिलता रहा है ; जिसके कारण युवावस्था के उन्माद ज्यों ज्यों बढ़ते गये, त्यों त्यों संसार के मंच पर बेफाम होकर वर्तन करना, बोलना, बैठना, खाना, पीना आदि सरल हो गया है। किन्तु सम्यगज्ञान या चारित्र के पवित्र यानि अहिंसक संस्कार उसे किसी भव में मिले होते नहीं हैं। जिससे भौतिक संस्कारों ने उसके मानसिक, वाचिक या कायिक जीवन को कलुषित बनाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानमय बना दिया है। लेकिन नदी के प्रवाह में ठोकर खाता हुआ पत्थर अपने आप ही गोल और मुलायम हो जाता है वैसे अनिच्छा से कर्मों की निर्जरा होनेसे जीव सरल परिणामी बनता है। उस वक्त उसे सद्गुरु (पंच महाव्रतधारी और समिति गुप्ति के मालिक) मिल जाय और उनके साहचार्य को अपना ले तो वह अपने आप ही समझने लगेगा कि आत्मा को अशिक्षित रखने से जीवन क्लेशमय बनता है। इसलिए अपनी आत्मा को अभूतपूर्व शिक्षा देगा, जिससे उनके दुर्गुण मर्यादा में आयेंगे।

भगवान महावीरस्वामी ने चार शिक्षाव्रतों की प्ररुपणा सब जीवों के हित के लिए की है वह क्रमशः इस तरह है :-

(९) सामायिक व्रत :

इससे आत्मा को शिक्षण मिलेगा कि 'कषाय ही मेरे परम शत्रु हैं।' जिससे कैसे भी करके मेरे कषायों को मैं उपशमित करूँ। क्योंकि संसार के भोग्य पदार्थ सबके लिए एक समान हैं, किन्तु मेरा अशिक्षित मन, पदार्थ की पसंदगी नापसंदगी में रत है ; इसलिए पसंदगी पाये पदार्थ की ओर राग और नापसंद की ओर द्वेष जताता है।

वस्तुतः यह मेरी कमजोरी है। क्योंकि मेरे नापसंद पदार्थों को भी खाने-पीने और पहनने-ओढनेवाले लाखों लोग विद्यमान हैं, तो उन्हें पदार्थों के भोग से कुछ नहीं होता, तो मुझे क्या होनेवाला था ? जिससे मैं उनके प्रति रति और अरति जाहिर करुं यह समझकर इन्द्रियों के भोगवटे से; पसंद, नापसंद के जो अनादिकाल के कुसंस्कार हैं वे नाबूद होंगे और उससे राग द्वेष कम होकर जीव को समताभाव की प्राप्ति होगी जो किसी भी काल में नहीं हुई है। क्योंकि मिथ्यात्व से क्रोधादि कषाय भड़कते हैं और सम्यक्त्व से क्रोध कषाय का उपशमन होता है। इसका ही नाम सामायिक है।

संसार का कोई भी जड़ पदार्थ किसे भी राग द्वेष कराने की क्षमता नहीं रखता है। परंतु उनके प्रति बिगड़ा हुआ मन ही आदमी को क्रोधी बनाता है, मानी और मायावी बनाता है और आखिर लोभ नाम के राक्षस के मुंह में धकेल देता है। इसलिए अरिहंतों के धर्म को प्राप्त करके मुझे अब इस मार्ग पर जाना नहीं है। और कोई भी पदार्थ मुझे क्रोधी करे उससे पहले सोचसमझकर मैं उस प्रसंग को टाल देने का प्रयत्न करुंगा। आखिर सर्वांशे नहीं तो दो घड़ी (४८ मिनट) के लिए संसार के प्रत्येक भाव को छोड़ने का शिक्षण में आज से शुरू करता हूं। वह इस तरह।

(१) दो घड़ी के लिए मैं किसीका पति नहीं हूं, शेठ नहीं और मालिक नहीं हूं। पर शुद्ध, निरंजन, निराकार परमात्मस्वरूप हूं। इसलिए दश मन के, दश वचन के और बारह काया के दोष में से एक भी दोष लगने न पाय इसके लिए मैं जागृत बनता हूं।

(२) स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्शे हुए, रसनेन्द्रिय से चखे हुए या खाये हुए, नाक से सूँघे हुए, आंख से देखे हुए और कान से सुने हुए तमाम भोगों के भोगवटे को मैं ४८ मिनट तक स्मृति में आने नहीं दूंगा। क्योंकि मानव के जीवन को बिगाड़नेवाली और बहुत मुसीबत से अवर्तनीय बन सके ऐसी स्मृति है, जो आत्मीय रोग है।

(३) सबसे पहले चंचल आंख, कान और जीभ का मैं ४८ मिनट तक मौन रखता हूं। यानि कि कैसी भी स्थिति खड़ी हो जाय तो भी स्थापनाजी के सिवा अन्य कहीं नजर नहीं डालूंगा, किसीकी बात नहीं सुनूंगा और बोलूंगा नहीं। और ऊपर की तरह वह सोमिल सामायिक व्रत द्वारा अपनी आत्मा को शिक्षित करने का प्रयत्न करता है।

(२) देशावगासिक शिक्षाव्रत :

संसार का मोहरूपी जहर चढ़ाने से चढ़ता है, और उतारने से उतरता है, यह जानकर जब भी सोमिल दुकान व्यापार और व्यवहार से अलग होता है तब सामायिक की संख्या बढ़ाने का शिक्षण लेता है, और "सामाइअ जतिआ वारा" दिन में ज्यादा से ज्यादा सामायिक करता है, क्योंकि संसार के चोटे चौरे, गप्पी मित्र, गंदे विचार के मानव, जूठे बोले आदमी मोह माया की स्मृति दिलानेवाले, अपनी आत्मा के दुश्मन समझना। और पंचमहाव्रतधारी गुरूदेव, जिनमंदिर, धर्मी पुरूषों का सहवास परम मित्र हैं।

(३) पौषधव्रत :

सोमिल समझने चला कि मुनिधर्म का आचरण करने के लिए पौषधव्रत अनिवार्य है । क्योंकि आहार भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा को काबू में लाते लाते शेष बची संज्ञाएं भी निर्मूल बन जाती है ! शरीर शृंगार मोहराजा को भड़कानेवाला होने से पौषध में उनका त्याग जरूरी है । उसी तरह २४ घंटे में मैथुन कर्म के संस्कारों को काबू में लाने के लिए पौषध के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं । क्योंकि घर की हरएक वस्तु हमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान में ले जाने के लिए समर्थ है, तथा मन वचन और काया के व्यापार भी पौषध से मर्यादित होते हैं । इस कारण से पर्व दिनों में पौषध लेकर अपनी आत्मा को धर्म के रंग से भावित करता हुआ वह सोमिल आध्यात्मिकता में आगे ही आगे बढ़ता गया ।

(४) अतिथि संविभाग - शिक्षाव्रत :

जैन धर्म त्याग प्रधान होनेसे इस व्रत को अंतिम स्थान दिया गया है क्योंकी त्याग धर्म सब के भाग्य में नहीं होता है और सोमिल द्विज ने सुन्दर परिणामों से इस व्रत का भी स्वीकार किया ।

मानव को जब तक अपने परिग्रह का त्याग करने का भाव उत्पन्न न हो तब तक धर्म का गहरा रंग नहीं चढ़ता है ।

संसार के बहुत से आदमी को हम जानते हैं कि धर्म की चर्चा करने में, दूसरों को सलाह देने में, दान धर्म की व्याख्या समझाने में, समाज के उत्कर्ष की चर्चा करने में, शासनोन्नति की बाते करने में, कौन सुगुरु या कुगुरु ? किसके शिष्य अच्छे और किसके झूठे ? इत्यादिक चर्चाओं में इतने होशियार होते हैं कि बात न पूछो । लेकिन थोड़ी देर के बाद उनके आन्तर जीवन की परीक्षा करनी हो, तो किसी योजना के लिए पैसे मांग के देखो,

तो तुम्हे उनकी सरस्वती भी सुनने मिलेगी। तो उस वक्त तुम्हे पता चलेगा कि ऐसे नररत्नों को जन्म देनेवाली माताएँ दुनिया में विद्यमान है।

अब हम मूल बात पर चलें। जैन धर्म की मूल बात त्याग की है। उसके बिना बाह्य या आभ्यंतर आराधना नाम की कोई वस्तु नहीं है। चाहे अंतकृत केवली हो, कि २०-२५ भवों के बाद केवलज्ञान पानेवाला हो, उन सबों को सर्वस्व त्याग किये बिना छूटकारा नहीं है। चारित्र, संयम या तप का सत्यार्थ ही त्याग है, क्योंकि बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह के त्याग बिना जैसे भावचारित्र की प्राप्ति सर्वथा अशक्य है, वैसे मन तथा इन्द्रियों को संयमित किये बिना आभ्यंतर तप की भी अशक्यता है। इससे कहा गया है कि त्याग ही जैनधर्म का मूल है। योगशास्त्र में भी कहा गया है कि जो मानव अपने पास रहे पैसों का त्याग नहीं कर सकता। है वो बेचारा संयम का रास्ता भी कैसे पा सकेगा? इसलिए सर्वस्व त्याग बिना चारित्र नहीं है।

दृष्टिराग में आकर, व्यापार को लक्ष्य में रखकर, चाहे लाखों करोड़ों रुपये का दान करो तो भी उससे संयम पुष्ट नहीं हो सकेगा, इसलिए मुनि या श्रावक दोनों के लिए अतिथि संविभाव व्रत आदरणीय है। क्योंकि इसका अर्थ है कि "अपने पास जो है वह अन्य व्रतधारी को देना"। इसलिए गुरुपद को सजानेवाले आचार्य का धर्म है कि अपने शिष्यों को पढ़ाए - वाचना पृच्छना दे, हेतु और उदाहरण से उन्हें संयम में स्थिर बनावे, आदि प्रसंगों में संविभाग का अर्थ रहा है। जिसके पास जो हो उनका सम्यक प्रकार से त्याग करना, यह इस व्रत का सरलार्थ है। इससे मुनि, गृहस्थों को सदुपदेश देकर अपना व्रत पालते है और श्रावक अपनी मर्यादा में रहकर परिग्रह का यथाशक्य, यथास्थान या यथापात्र वितरण करे यानि दान दे, जिनके दो भेद हैं।

(१) आदरणीय मुनिराजों को कल्पनीय वस्त्र, पात्र, अन्न, पान,

औषध, उपाश्रय और उनके दर्शन तथा चारित्र को पुष्ट करे ऐसे साधन प्रदान करें।

(२) अपने स्वामीभाईयों को जैन धर्म प्राप्त कराने के लिए, तथा स्थिर करने के लिए, अपनी श्रीमंताई का सदुपयोग करके उत्तमोत्तम लाभ लें।

उपर के दोनों अर्थ में ज्यादा रख के थोड़ा दान देकर भी चल सकता है। किन्तु अरिहंत देवों के उपासकों को कई बार ऐसे भी प्रसंग आये हैं, जिनमें सर्वस्व का दान अनिवार्य होता है। क्योंकि दान शब्द तीन धातु से बना हुआ है। "दा" दाने "देग" पालने और "दो" छेदने, और तीनों के रुप "दीयतां दीयतां दीयतां" भी एक समान है। इसलिए देने अर्थ के धातु से बने गये शब्द से दान देना और पालन करने में यानि कि आपके जातभाईयों को या स्वामीभाइयों को स्थिर करने में या उनका पालन पोषण करने में रोज देते हो, उससे ज्यादा देने की फरज पड़े और अरिहंत के धर्म का रंग यदि जोरदार होगा तो परिग्रह को पाप समझ कर भी आपको देने का उत्साह रहेगा और तीसरा अर्थ छेदन में है यानि कि आपकी मालमता में से आपका खानापीना कम करके अर्थात् आपकी स्थावर मिलकत में से बड़े भाग का छेद करके भी जातभाइयों को यावत् अरिहंतों के धर्म प्रचार में सर्वस्थ देना पड़े तो भी भाग्यशाली कहलाओगे। भामाशाह, झगडूशाह और शाह बीरूद रखनेवाले खेमा के अमर नाम तुम्हें याद होगे? उनका जीवन सुनते हुए यदि आपका मस्तक हिलता हो तो आपकों भी यह किये बिना छूटकारा नहीं है। इस तरह सर्वस्व का त्याग करने पर आप के जीवन में जो आनंद आयेगा वह अवर्णनीय होगा। पालीताणा (शत्रुंजय) तीर्थ के उद्धार करने की रकम में लाखों रुपये लगाने-वाले थे। पर सबसे पहला नाम किसका था? जानते हैं ना? इसलिए सर्वस्व दान उत्तम दान है।

जीवन में जब उत्तमोत्तम सात्विकता, परोपकारिता आदि गुणों का विकास होता है तब उत्तम दान देने के मनोरथ जागते हैं।

उपर दिये गये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह व्रतों को भगवंत के समक्ष उच्चारे, पालन किये और महाविदेह में जन्म लेकर, दीक्षित होकर निर्वाणपद को पायेगा।

॥ शतक १८ वाँ : उद्देशक १० पूर्ण ॥

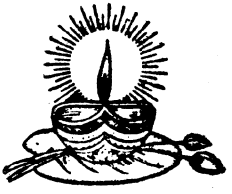

समाप्ति वचन

बाल्यवय से संयमी बनकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना करके तथा कई भाग्यशालीओं को कराके, तथा तीर्थोद्धारक, पालीताणा गुरुकुल के स्थापक, नवयुग प्रवर्तक, शास्त्र विशारद जैनाचार्य १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज साहब के अंतेवासी, लेखन-वक्तृत्व, संगीत और चर्चा आदि में सिद्धहस्त, अहिंसा धर्म के सफल प्रचारक, सिंध जैसे हिंसक देश में प्राण के जोखम से दिये जानेवाले बलि-दान में से सैकड़ों हजारों मूक प्राणीओं को अभयदान दिलानेवाले, शासन दीपक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज साहब के शिष्य, न्याय काव्य और व्याकरण तीर्थ, पंन्यास पद विभूषित, गणिवर्य श्री पूर्णानंद-विजयजी (कुमार श्रमण) महाराज ने अपने स्वाध्यायार्थे, भव भवांतर में श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए भगवतीसूत्र सार संग्रह के तीसरे भाग के १८ वें शतक को पूर्ण किया है।

"शुभं भूयात् सर्वेषां जीवनाम्
सर्वे जीवा जैनत्वं प्राप्नुयुः"

॥ शतक १८ वां पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ : उद्देशक १

दस उद्देशकों से पूर्ण इस शतक में निम्नलिखित विषयों की चर्चा की गई है। लेश्या, गर्भ, पृथ्वी, महाश्रव, चरम, निवृत्ति, करण और वनचरसुर नाम के दश उद्देशक हैं।

राजगृहीनगरी में श्रेणिक नाम का राजा था, अभयकुमार मंत्री था। चेल्लणा राणी थी, जो जैनधर्म की परम उपासिका थी। उस समय में भगवान महावीरस्वामी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए राजगृहीनगरी में पधारे. समवसरण की रचना हुई, धर्मोपदेश हुआ और जीवमात्र अनादिकाल के मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व को पा सके उस आशय से गौतमस्वामी ने पूछा और भगवंत ने उत्तर दिया।

हे प्रभो ! लेश्याएँ कितनी संख्या में कही गई हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा—गौतम लेश्यायें छः की संख्या में हैं। प्रज्ञापनासूत्र के चतुर्थ उद्देशक के लेखा प्रकरण में देख लेने को सिफारिश की गई है।

"लेश्या यानि क्या ?"

इस विषय की प्रथम भाग में अच्छी तरह से चर्चा की गई है। कर्म आठ हैं। उनमें लेश्याओं का समावेश नहीं होता है। क्योंकि घातिकर्म के नाश होने के बाद केवली को भी लेश्या का अभाव नहीं है और संपूर्ण कर्म के नाश में उन लेश्या का अभाव है इसलिए मन, वचन और काया से संबंधित लेश्यायें हैं। यह शास्त्रीय वचन जान लेने के बाद भूलना नहीं चाहिए कि योग शब्द से संज्ञित मन, वचन और काया में वीर्यान्तराय

कर्म के क्षयोपशम के कारण ही परिस्पंदन की शक्यता रही हुई है, इससे परंपरा से भी कर्म कारणभूत बनते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से किसी पंडित और विद्वान आदमी को देखकर भी व्यक्ति की लेश्या बिगड़ती है, जिससे मानसिक अध्यवसायों में 'मैं भी पढ़ा होता तो ? किसी ने मुझे पढ़ाया होता तो ? मुझे अनुकूलता से अच्छा अवसर मिला होता तो ?' इस तरह अध्यवसायों में फेरफार होने से आदमी की लेश्या बदल जाती है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से 'मैं अंध हूँ ? मेरी दूसरी इंद्रिये भी ठीक नहीं, मुझे इतनी सारी निंद क्यों आती है ? ऐसे विचार आने से भी लेश्या में परिवर्तन होता है। असाता वेदनीय कर्म के उदय से गरीब या अशक्त आदमी को क्रोध या चिड़चिड़ापन आता है और उसकी अच्छी लेश्यायें भी बदलती है। जब कि शातावेदनीय के उदय से लेश्याओं में गर्व आदि का प्रवेश होने से लेश्यायें किस तरह अच्छी रहेंगी ? अंतराय-कर्म के उदय से मनुष्य अपनी हीनावस्था में शोक, संताप और उद्वेग आदि के कारण शुभ लेश्याओं को किस तरह टिका पायेगा ? मोहकर्म के तीव्र-तीव्रतर या तीव्रतम के उदय में आदमी की लेश्यायें कब बदलेगी, या कब स्थिर होगी यह अनुभव ज्ञान बिना नहीं जाना जाता। आखिर तीव्रतम पापों के उदय से नीच जाति की प्राप्ति, आय का अभाव, शारीरिक कुरूपता, लाभ में अंतराय आदि प्रसंगों में मानव की लेश्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती है।

इस तरह लेश्याओं की उत्पत्ति में या हेराफेरी में पूर्वभव के कर्म ही कारणभूत हैं, जिनका इन्कार कोई भी नहीं कर सकता, फिर भी योग प्रत्यक्ष कारण होने से उसके सद्भाव से लेश्याओं की विद्यमानता स्वीकारी गई है।

कर्मों के उदयकाल में मानवमात्र को मिलनेवाले निमित्त कभी भी एक समान नहीं होते, और निमित्त ही लेश्याओं की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। 'मरणांत उपसर्ग होंगे' ऐसा तीर्थंकर के श्रीमुख से सुना होने

पर भी खंधक मुनि अपने ४९९ शिष्यों के साथ तेल निकालनेवाली घानी में पिल चुके हैं फिर भी अपनी समाधी से एक तसु भी नहीं हिलते हैं और स्थिरभाव से सब को सदुपदेश देकर केवलज्ञान की प्राप्ति के कारण बनते हैं, किन्तु आखिर के बालमुनि के प्रति रागाधिक्य होने की खबर पापमंत्री पालक को होती है तब वह कहता है कि आचार्य ! आप को यदि बालमुनि के प्रति प्यार है तो आपके समक्ष ही उसे पहले पील दूं, और पालक मंत्री के आदमीयों ने उस बालमुनि को घानी में डाल दिया और खंधकाचार्य अपनी लेश्या से नीचे गिरते हैं, शोक संताप के मालिक बनते हैं घानी में गये मुनि की हड्डियां 'कडकड' चूर हो जाती हैं। उसके बाद सबसे आखरी क्रमांक आचार्य का आता है। पांच सौ मुनिओं को केवलज्ञान की प्राप्ति करानेवाले उन आचार्य को आदमी घानी में उठाकर डालते हैं। समाधि में रह न सकने के कारण आचार्य ने निदानग्रस्त होकर देवयोनि प्राप्त की और सारी नगरी को भस्मीभूत कर दी, जो आज दंडकारण्य से प्रसिद्ध है।

पाप के त्यागपूर्वक धर्मध्यान क्यों ?

केवली भगवंत का शासन कहता हैं कि भवभवांतर में दुर्गतिदायक प्रथमकी तीन लेश्याओं का स्वामी न बनना हो तो प्रथम तेरे व्यापार और व्यवहार को शुद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना। जिनसे कर्मो के बंधन से तेरा छुटकारा होते ही तू पुण्यानुबंधी पुण्य की उपार्जना कर सकेगा। जिनके प्रताप से आनेवाले मनुष्य भव में तुझे खराब स्वभाव के पिता, माता, स्त्री, पुत्र, दामाद और मित्र मंडली आदि मिलने न पाय और अंतराय बिना का तेरा मनुष्यावतार धर्मध्यान की आराधना करने

के लिए पवित्र लेश्याओं का मालीक बनकर केवलज्ञान का मार्ग प्राप्त करने के लिए भाग्यशाली बनेगा।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक १ पूर्ण ॥

शतक – १९ वाँ : उद्देशक – २

कृष्णलेश्या का मालिक कृष्णलेश्या के गर्भ को उत्पन्न करता है ?

गौतमस्वामीजी पूछते हैं कि हे प्रभो ! लेश्यायें कितनी हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के १७ वे पद में जो गर्भ का उद्देशा कहा है वह संपूर्ण यहां समझ लेना है, वह इस तरह :—

हे प्रभो ! जो मनुष्य अब कृष्ण लेश्या का मालिक है वह क्या कृष्ण लेश्यावाला गर्भ उत्पन्न कर सकता है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! कृष्ण लेश्यावाला जीव कृष्ण लेश्यावाले गर्भ को यावत् नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल-लेश्यावाला गर्भ उत्पन्न कर सकता है। तथा पुरुष कृष्णलेश्यावाला हो तो

गर्भ भी कृष्णलेश्यावाला बनेगा। यह सब बातें अकर्मभूमि और कर्मभूमि के लिए जाननी हैं। अकर्मभूमि में सिर्फ पहले की चार लेश्या ही होती है।

नोंध :-इस प्रश्न का आशय कुछ यह होगा, कि जन्म से लेकर आदमी कृष्ण लेश्यावाला हो, किन्तु यह तो नक्की है कि मानव की लेश्या प्रतिसमय बदलती रहती है; इसके कारण स्त्री सहवास के दरमियान उनकी लेश्या यदि कृष्ण होगी तो गर्भ में बालक भी कृष्ण लेश्यावाला ही होगा और उस वक्त यदि नील लेश्या होगी तो गर्भ में नीललेश्यावाली संतान आयेगी और ऋणानुबंध के कारण उसके घर किसी भाग्यशाली पुण्यवान जीव का जन्म होनेवाला हो तो स्वाभाविक है कि रात दिन कृष्णलेश्या में रहनेवाले को भी स्त्री सहवास के समय पवित्र भाव, दयाभाव उदय होने से उसके गर्भ में शुक्ल लेश्यावाला जीव आयेगा और जन्म लेगा। भूत-काल का इतिहास और आज के संसार को भी प्रत्यक्ष करे तो ख्याल आयेगा कि, अत्यंत क्रूर, निर्दयी, गणिका आदि के घर भी महापुरुष जन्म लेता है और यावत् केवलज्ञान पाकर मोक्ष तक जा सकता है।

भंगी के कुल में जन्मा मेतारज, चांडालके घर हरिकेशी और गणिका के वहां जन्मी हुई कोशा वेश्या के उदाहरण सब की समक्ष हैं।

उस तरह आजन्म शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या या तेजोलेश्या का स्वामी अच्छे विचार, आचार, धर्मानुष्ठान आदि में श्रद्धावाला होनेपर भी स्त्री सहवास के समय यदि असभ्य, निर्दयी, बीभत्स और गंदी भावना रखके संभोग क्रिया करेगा तो उसके यहां भी कृष्ण लेश्यावाला जीव उत्पन्न हो सकता है। जो समाज, देश, संप्रदाय और कुटुम्ब के लिए क्लेश वैर और विरोध का कारण बन सकता है।

अत्यंत निकाचित मैथुन कर्म की गठरी बांधकर लिए जन्मवाले मानव की बात चाहे न करे तो भी इस सूत्र से हम इतना तो सार निकाल सकते हैं कि जो अनिकाचित कर्मी हैं वे नीचे दी गई बातों की ध्यान

रखें और अपने गृहस्थाश्रम को चलावें तो सुन्दर सरल पुण्यकर्मी संतानों को जन्म देने का पुण्य पा सकते हैं... वह इस तरह:—

(१) गृहस्थाश्रम में कदम रखने के पूर्व मेरे संस्कार. भाषा, चेष्टा बहुत बुरे हो सकते हैं पर लग्न संस्था का स्वीकार करने के बाद सबसे पहले उन संस्कारों को, भाषाओं को या चेष्टाओं को सुधारना अत्यावश्यक है।

(२) हजारों रुपयों का खर्च करने के बाद बसाये हुए बगीचे के पेड़ यदि वन्ध्य रहे, निरस रहे या खट्टे—तीखे तथा कड़वे फलवाले रहे तो आखिर उस बाग को या पेड़ को जला देने के सिवा और कोई मार्ग नहीं है। उसी तरह सजे - संवरे गृहस्थाश्रम के फल संतान हैं वे यदि अविवेकी, भ्रष्टाचारी; हिंसक, झूठबोला, चोर, या रास्ते जाती स्त्री की छेड़ करनेवाला हो तो ऐसे संतानों से पूर्ण गृहस्थाश्रमी गांव को, देश को तथा समाज को कलंकित करनेवाली है और मरने के बाद ऐसे गृहस्थों को कोई याद करनेवाला भी नहीं मिलता। इसलिए मेरे संतान पुण्यकर्मी बने तदर्थ लग्न के पहले झूठी चेष्टा तथा असभ्यता के संस्कार तथा मैथुनातिरेकता की भावना को छोड़ना ही है।

(३) बाल्यावस्था, लग्नावस्था और वृद्धावस्था, इन तीनों के धर्म, कर्म सर्वथा भिन्न भिन्न होनेसे बाल्यकाल में चाहे कैसे भी कुसंस्कार घर कर गये हो तो भी लग्नावस्था स्वीकारने के बाद उन कनिष्ठ, असभ्य, पापवर्धक संस्कारों को छोड़ना ही पड़ेगा और जवानी के जो दोष हैं वह वृद्धावस्था तक आये मानवों को छोड़ने ही पड़ेंगे। अन्यथा उनकी वृद्धावस्था बेकार, अविवेकी, गंदे विचारों से पूर्ण रहेगी तथा मस्तिष्क शक्ति के अभाव से उनका जीवन निंदनीय, नापाक और दयाजनक बनेगा। आज भी हम प्रत्यक्ष जान सकते हैं कि जिनकी जवानी सर्वथा नापाक रीत से व्यतीत हुई होगी, वे वृद्ध चाहे ग्रेज्युष्ट, डबल ग्रेज्युएट,

केन्द्र या प्रान्त सरकार के सत्ताधीश प्रोफेसर या मिनिस्टर होंगे फिर भी वे देश के लिए, समाज के लिए, अपनी जात के लिए सर्वथा निष्फल, घातक और निंदनीय बने हैं। इसलिए उपर की तीन अवस्था को पवित्रतम बनाने के लिए जीवन में सुंदर विचार, आचार और रहनसहन को सभ्य बनाने में हित है।

(४) सुंदर, पवित्र, दानेश्वरी, दयालु, शूरवीर या भक्त मानव को उत्पन्न करने के लिए गृहस्थाश्रमीओं को बदामपाक, सालमपाक, खोपरापाक, केशर के दूध, मलाई मावा या दूसरे पौष्टिक पदार्थ उपरांत चन्द्रोदय, अभ्रक भस्म तथा नाईट पील्स खाने मात्र से सफलता नहीं मिलती है। यानि ऐसे पदार्थ खाने की लालसा में किसी भी गृहस्थाश्रमीने अपने घर में रामचंद्रजी, महावीरस्वामी, वस्तुपाल तेजपाल, भामाशा, जगडुशा अनुपमादेवी, चंदनबाला या राजमती जैसे संतान नहीं पाये हैं।

इसलिए पति और पत्नी की पवित्र भावना, मर्यादापूर्वक की गृहस्थाश्रमी, व्रतमय जीवन तथा नीतिन्याय संपन्न व्यवहार होगा तो अच्छी संतान मागे बिना या माल मलीदा खाये बिना भी मिलेंगी।

प्रद्युम्नकुमार की प्राप्ति में कृष्ण और रुक्मणी के बारह साल तक वियोगावस्था में रहना पड़ा था।

सिद्धार्थ राजा तथा त्रिशला रानी, अश्वसेन राजा और वामा रानी के पवित्र, शीलसंपन्न और सत्यपूर्ण जीवन काव्यों में अमर बने है। इत्यादिक बातों को अपनी मस्तिष्क की डायरी में लिखकर जो भाग्यशाली स्वप्न-सृष्टि में रहने के बजाय सत्यसृष्टि में विचरेंगे तो गृहस्थाश्रम के सुन्दरतम फल मिलकर ही रहेंगे।

रावण और शूर्पणखा चाहे कितने भी सत्ताधीश, रुपवान या विश्व को डरानेवाले होंगे, फिर भी संसार में बिना मौत मरके दुर्गती भाजन हुए हैं।

नेमिनाथ भगवान के कुटुंब में जन्मे हुए दुर्योधन, दुःशासन आदि की राज्य-सत्ता कम न थी, पर उनके जातीय दूषण मर्यादातीत होनेसे अपने वडीलों के समक्ष भरीसभा में बड़े भाई पांडवों की धर्मपत्नी द्रौपदी को बदहवादे से जांघ बताकर इशारे करनेवाले कौरवों का प्रातःकाल में नाम लेनेवाला कोई नहीं है।

इन सब बातों का ध्यान रखके मेरा पुत्र लक्षाधिपति, करोड़ाधिपति या मिनिस्टर बने उससे शीलसंपन्न, पवित्र और सदाचारी बनने पाय ऐसी भावनावाले माता - पिता ही अपनी वृद्धावस्था को सुखमय बना सकेंगे।

इत्यादिक विचारों के साथ स्वीकारी हुई लग्नावस्था के प्रति ध्यान रखनेवाला ही सच्चा मानव है। बहादुरों में बहादुर है और पंडितों का भी महापंडित है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक १९ वां : उद्देशक-३

इस उद्देशक में पृथ्वीकायिक, अपकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की विशेष वक्तव्यता है। उनमें भी सबसे पहले पृथ्वीकायिक के लिए सविस्तर विचारणा है।

बारह द्वार से पृथ्वीकायिकों की विशेष वक्तव्यता :

बे द्वार—'स्यात्, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, किमाहार, प्राणातिपात, उत्पात, स्थिति, समुद्घात और उद्वर्तना वगैरह कहे गये हैं।

स्यात्-हे प्रभो! क्या किसी वक्त पृथ्वीकायिक जीव, दो-तीन-चार या पांच इकट्ठे होकर साधारण शरीर का बंध करते हैं? उस शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करके बंध करते हैं? बंध करने के बाद वे आहार ग्रहण करते हैं? ग्रहण किये गये आहार को परिणाम में लाते हैं? और उसके बाद वे विशिष्ट शरीर को बांधते हैं? यद्यपि संसारवर्ती जीवों को प्रतिसमय निरंतर आहार रहता है, उस कारण से पहले सामान्य शरीर के बंध के वक्त भी आहार क्रिया चालू होती है, फिर भी प्रश्न में पहले शरीर को बांधते हैं फिर आहार लेते हैं, यह कहने का तात्पर्य यह है कि विशिष्ट शरीर की रचना की अपेक्षा से जीव उत्पत्ति के समय ओज आहार ग्रहण करता है। उसके बाद शरीर स्पर्श द्वारा लोमाहार करता है। उसे परिणाम में लाकर विशेषरुप से शरीर का बंध करता है। यह प्रश्न है और उसका आशय है।

यथार्थज्ञान के सागर भगवंत ने जवाब में कहा कि हे गौतम! तेरा प्रश्न ठीक नहीं। क्योंकि पृथ्वीकायिक सब पृथक पृथक आहार करनेवाले

और उनका परिणमन करनेवाले होते हैं। इससे वे साथ मिलकर नहीं, पर अपना शरीर अलग अलग बांधते हैं।

लेश्यायें उन्हे कृष्ण-नील-कापोत और तेज नाम से चार की संख्या में हैं।

दृष्टि से वे मिथ्यादृष्टिवाले ही होते हैं। सम्यक या मिश्रदृष्टि उन्हे नहीं होती। क्योंकि यह दोनों पंचेन्द्रियों को होती हैं।

ज्ञानद्वार में पृथ्वीकायिक, मिथ्यादृष्टि होने से मतिज्ञान या श्रुतज्ञान वाले नहीं होते पर मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी होते हैं।

योगद्वार में वे सिर्फ काययोग के ही मालिक होते हैं क्योंकि मनोयोग सिर्फ संज्ञी पंचेन्द्रियों को तथा वचनयोग बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में होते हैं, उसके लिये निकृष्ट पापकर्मी पृथ्वीकायिकों को (एकेन्द्रियों को) सिर्फ काययोग ही होता है।

उपयोग द्वार-साकारोपयोग (ज्ञान) और निराकारोपयोग (दर्शन) यह दोनों उपयोग पृथ्वीकायिकों को हैं। क्योंकि जीवमात्र का लक्षण ही ज्ञानदर्शन है, जो अपने लक्ष्य को किसी भी काल में नहीं छोड़ता है। यद्यपि एकेन्द्रिय का ज्ञान सर्वथा अस्पष्ट है। परन्तु अभाव नहीं है। यदि जीव में ज्ञान का अभाव माना जाय तो जीव और अजीव में फर्क नहीं रहता है, इसलिये उन्हे भी उपयोग मान्य है।

आहार को प्रज्ञापनासूत्र के आहार उद्देशक से जानने की सिफारिश करते हुए कहा गया है कि अपने सर्वात्मक प्रदेशों से द्रव्यापेक्षया अनंत प्रदेशात्मक, क्षेत्र से असंख्यात प्रदेशावगाढ़, काल में तथा भाव से वर्ण-गंध-रस और स्पर्शवंत पुद्गल आहार में लेते हैं।

आहारित पुद्गलों को शरीर और इन्द्रिय रुप से परिणमित करने में

समर्थ हैं ? भगवंत ने कहा कि, वे ग्रहण किये गये आहार को शरीर और इंद्रिय रुप से परिणमित कर सकते हैं, और जिन पुद्गलों का आहार नहीं करते हैं उनका परिणाम नहीं होता है तथा आहार किये गये का असार भाव मल की तरह नाश होता है।

पृथ्वीकायिकों को क्या ऐसे प्रकार की संज्ञा, प्रज्ञा, मन और वाणी होती है ! जिनके द्वारा हम आहार करते हैं यह विचार आता है ? दूसरों को भी क्या कह सकते हैं कि 'हमने' आहार किया ?

मति यानि अर्थावग्रह ठीक होने में कारणभूत प्रज्ञा जो सूक्ष्मार्थ ग्रहण करनेवाली है। मन मतलब मनोद्रव्य ही मन कहलाता है और वाणी यानि द्रव्यश्रुतरुप शब्दों का व्यवहार।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, पृथ्वीकायिकों को, "मैं आहार करता हूं" ऐसा ख्याल नहीं रहता है पर अनाभोग रुप-आहार तो वे करते ही हैं, उस तरह इष्ट या अनिष्ट स्पर्श का वेदन अनाभोगपूर्वक होता है लेकिन उन्हें खुद उसका संवेदन नहीं होता है।

अविरति के कारण पृथ्वीकायिकों को प्राणातिपात (हिंसा) मृषावाद यावत् मिथ्यात्वदर्शन नाम के १८ पापस्थान होते हैं, तथा एक स्थानीय पृथ्वीकायिक दूसरे स्थान में रहे हुए पृथ्वीकायिकों का हनन करते हैं; फिर भी उन्हे यह ख्याल नहीं होता है कि 'हम किसे मार रहे हैं या सामनेवाले जीव मर रहे हैं' इन जीवों को उत्पन्न होने के सात लाख स्थान हैं उस कारण से काली मिट्टी के पृथ्वीकायिक और लाल मिट्टी के पृथ्वीकायिक जीव सर्वथा अलग है। इसलिए दोनों का मिश्रण घातक बनता है, अत: जैन मुनिओं के लिए नियत विधान है कि एक खेत से दूसरे में जाते हुए या गांव में प्रवेश करते हुए पहले अपने पैर को पूंजते हैं।

पृथ्वीकायिकजीव सिर्फ नरक गति को छोड़कर शेष मनुष्य, तिर्यंच या

देवगति से निकलकर पृथ्वीकायत्व प्राप्त करते हैं, नरक भूमि से सीधे पृथ्वीकाय में आया नहीं जाता। देवभूमि में रही सुगंधी पानी की बावड़ी वहां के भोगसाधन आदि में रही आसक्ति के कारण देव भी पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो सकते हैं।

जघन्य से अंतर्मुहुर्त और उत्कृष्ट से बाईस हजार साल तक पृथ्वीकायिकों की स्थिति है।

वेदना, कषाय, और मारणांतिक समुद्घात तीन होती हैं। कई जीव मारणांतिक समुद्घात करके और कई ऐसे ही मरते हैं।

पृथ्वीकाय के जीव मरकर नरक और देवलोक में नहीं जाते पर मनुष्य या तिर्यंच में जाते हैं।

इस तरह अपकायिक के लिए भी जानना। विशेष उनकी उत्कृष्ट स्थिति सात हजार साल की जाननी। तेजसकायिकों की तीन अहोरात्र है। मरकर तिर्यंचगति में तथा लेश्याएँ तीन जाननी। वायुकायिकों को वैक्रिय, वेदना, कषाय और मारणांतिक समुद्घात चार है। बादर निगोद वनस्पतिकायिक जो लोक के मध्य में है, उनका आहार छः दिशा का है।

पृथ्वीकायादि की अवगाहना का अल्प बहुत्व :

उपयुक्त पाँच स्थावर, सूक्ष्म - बादर पर्याप्त और अपर्याप्त रुप से चार प्रकार के हैं। उनकी जघन्य से और उत्कृष्ट से अवगाहना किसकी किससे ज्यादा है?

जवाब में कहा गया है कि पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की अवगाहना सबसे कम है।

अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकायिकों की अवगाहना उससे असंख्यात गुनी ज्यादा है।

अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकायिकों की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुनी ज्यादा। अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिकों की उससे असंख्यात गुनी ज्यादा। अपर्याप्त बादर वायुकायिकों की पर्याप्त बादर अग्निकाय की, अपर्याप्त बादर अपकाय की, अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिकी पर्याप्त तथा अपर्याप्त प्रत्येक शरीरवाले वनस्पतिकाय तथा बादर निगोद की क्रमे क्रमे असंख्यात गुनी ज्यादा है, और परस्पर में समान है। इससे पर्याप्त सूक्ष्म निगोद असंख्यात गुने हैं। जिससे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना विशेषाधिक है। इस क्रम से पर्याप्त सूक्ष्म निगोद; पर्याप्त सूक्ष्म वायुकायिक की जघन्य उससे अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकायिक उत्कृष्ट पहले से विशेषाधिक हैं। सूक्ष्म तेजस्कायिक जघन्य और उत्कृष्ट उपर की तरह जानना है। शेष वक्तव्य सूत्र से समझना।

पांच स्थावर में कौन किससे सूक्ष्म हैं :

हे प्रभो ! पांच स्थावर में कौन किससे सूक्ष्म है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! पांच में वनस्पतिकायिक जीव सबसे सूक्ष्म हैं, सूक्ष्मतर हैं।

वनस्पति को छोड़कर शेष चार स्थावर में वायुकायिक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं।

वायुकाय को छोड़कर शेष तीन यानि पृथ्वी, अप और तेजस्काय में सबसे सूक्ष्म तेजस्कायिक हैं।

पृथ्वी और अपकाय में अपकायिक सूक्ष्म और सूक्ष्मतर हैं।

बादर की अपेक्षा से पांच निकायों में वनस्पतिकाय ही बादर है, बादरतर है।

वनस्पति को त्याग कर चार स्थावर में पृथ्वीकायिक बादर और बादरकाय हैं।

अप, तेजस और वायुकाय में अपकायिक बादर हैं।

तेजस और वायु में तेजस्कायिक बादर हैं।

पृथ्वीकायादि में शरीर की विशालता :

हे प्रभो ! पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर कितना विशाल है ? जवाब में भगवंत ने कहा कि अनंतसूक्ष्म वनस्पतिकाय के शरीर प्रमाण में सिर्फ एकसूक्ष्म वायुकायिक होते हैं। सारांश कि सूक्ष्म वनस्पति काय के अनंत जीवों का जो शरीर प्रमाण होता है, उतने प्रमाण में सूक्ष्म वायुकाय के एक जीव का शरीर प्रमाण है, आगे भी यह जानना है।

असंख्यात सूक्ष्म वायुकायिकों के शरीर प्रमाण में सूक्ष्म तेजस्काय का शरीर प्रमाण है।

असंख्यात सूक्ष्म तेजस्काय जीवों के प्रमाण में एक सूक्ष्म अप्काय जीव का शरीर है, तथा सूक्ष्म पृथ्वीकाय का शरीर भी जानना है।

असंख्यात सूक्ष्म पृथ्वीकाय के शरीर प्रमाण में एक बादर वायुकाय के जीव का शरीर प्रमाण है।

असंख्यात बादर वायुकाय जीवों के शरीर प्रमाण में एक बादर तेजस्काय का शरीर प्रमाण है।

असंख्यात बादर तेजस्काय के प्रमाण में एक बादर अपकाय का प्रमाण है।

असंख्यात बादर अपकाय के प्रमाण में एक बादर पृथ्वीकाय का शरीर जानना।

असंख्यात सूक्ष्म पृथ्वीकाय के शरीर प्रमाण में एक बादर वायुका के जीव का शरीर प्रमाण है।

असंख्यात बादर तेजस्काय के प्रमाण में एक बादर अप्काय का प्रमाण है।

असंख्यात बादर अपकाय के प्रमाण में एक बादर पृथ्वीकाय का का शरीर जानना है।

हे गौतम! पृथ्वीकाय का शरीर उपर की तरह जानना।

पृथ्वीकायिक जीवों की अवगाहना कितनी है?

जवाब में भगवंत ने दृष्टांत की कल्पना करते हुए फरमाया कि जवान, सशक्त, सुषमकाल में जन्मी हुई, लाटने की क्रिया में निपुण, थाक न लगे ऐसी, आदि विशेषणों से युक्त चक्रवर्ती राजा की दासी पत्थर पर लाख के गोले के प्रमाण पृथ्वीकाय को रखे और वज्रमय गोल पत्थर से चटनी की तरह लाटे, फिरसे इकट्ठा करके लाटे, इस तरह इकवीस बार लाटने की क्रिया करे तो भी हे गौतम! उन पृथ्वीकायिक जीवों को लाट नहीं सकते हैं, लाख के गोले के प्रमाण पृथ्वीकायिकों में से भी कई शिला पर लगे ही नहीं होते, कई लाटने के पत्थर पर नहीं लगे होते, कई घिसने पर भी वैसे के वैसे ही रह जाते हैं, आदि कारण से हे गौतम! आप जान सकते हैं कि पृथ्वीकायिकों की अवगाहना कितनी सूक्ष्म होती है।

पृथ्वीकायिक पत्थर पर घिसाने पर, रेगड़ाने पर कसी वेदना भुगतते हैं? जवाब में कहा गया कि सब तरह से अत्यंत सशक्त आदमी, गुस्से में आकर सर्वथा निर्बल, वृद्ध, भूख से पीड़ित, रोगीष्ट आदमी के सिर पर जोर से मारे गये मुक्के से जो वेदना का अनुभव होता है,

उससे भी बहुत ज्यादा वेदना पृथ्वीकायिक को होती है। इस तरह अपकायिक और वायुकायिक के लिए जानना है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ : उद्देशक ४

नारक क्या महावेदनादिवाला है ?

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! नरकगति में रहनेवाले नारक क्या महाश्रव, महाक्रिया, महावेदना और महानिर्जरा के मालिक हैं ? यहां इन चार पदों की अल्प और महा से कल्पना की है। वह इस तरह :

१	महाआश्रव	महाक्रिया	महावेदना	महानिर्जरा
२	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
३	,,	,,	अल्प वेदना	महावेदना
४	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
५	,,	अल्प क्रिया	महा वेदना	महा निर्जरा
६	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा

७	,,	,,	अल्प वेदना	महा निर्जरा
८	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
९	अल्प आश्रव	महा क्रिया	महा वेदना	महा निर्जरा
१०	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
११	,,	,,	अल्प वेदना	महा निर्जरा
१२	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
१३	,,	अल्प क्रिया	महा वेदना	महा निर्जरा
१४	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा
१५	,,	,,	अल्प वेदना	महा निर्जरा
१६	,,	,,	,,	अल्प निर्जरा

उपर दिये गये १६ प्रकारों में हमें नारक के लिये ही कल्पना करनी है।

(१) प्रथम प्रकार में नारक इसलिये नहीं है, क्योंकि वे महाभयंकर आश्रव कर्म की सेवना करके पांच क्रियाओं में पूर्ण रूप से डूबे रहते हैं, जिससे नरकगति में असह्य वेदना भुगतने पर भी कर्म की निर्जरा बढ़ा नहीं सकते, क्योंकि मानव अवतार में खून की बूंद बूंद जब कृष्णलेश्या में ओतप्रोत होती है, तब उन जीवात्माओं की सर्वसाधारण क्रिया भी महा-चिकने कर्मों को बांधनेवाली होती हैं। इस अति निकाचित कर्मों के बंध किये हुए वे, नरक में क्षेत्र वेदना, परमाधामी वेदना परस्पर वेदनाओं को भुगतने पर भी कर्मों की निर्जरा बढ़ा नहीं सकते। क्योंकि नियाणाबद्ध वे नारक मार खाने में और दूसरों को मारने में ही मस्तान बने होने से कर्मों की निर्जरा का लक्ष्य उन्हें प्रायः नहीं होता है, इसलिये प्रथम प्रकार में नारक का निषेध है।

(२) द्वितीय प्रकार जो महाश्रव, महाक्रिया, महावेदना और अल्प निर्जरा का है, इनमें नारक समाविष्ट होंगे, क्योंकि वे कर्मों की अल्प निर्जरा करनेवाले हैं।

(३) तीसरे भांगे का निषेध फरमाते हुए प्रभु ने कहा कि नारकों की निर्जरा अल्प होने से यह भांगा उनके लिये नहीं है। नारक महावेदनावाले होने से उन्हे अल्प वेदना नहीं होती है। इस कारण से उन्हे तीसरा भांगा नहीं है। कदाचित अमुक समय तक ही परमाधामियों की वेदना का अभाव रहता हो, फिर भी उन्हे क्षेत्रजन्य और परस्परोदीरित वेदना को भुगतनेवाले होने से, ये चाहे कितने भी जोर से बोले, रोये, सिर पटके, फिर भी हे गौतम ! उन्हे कोई बचानेवाला नहीं। मानवतार में जिनके निमित्त से महाभयंकर कर्म किये वे भी नरक में अपने पति को, पिता को, पुत्रों को बचाने के लिये या उनकी वेदना में शरीक होने के लिये जा नहीं सकते, क्योंकि सब के हाथ में आयुष्य कर्म की बेड़ी पड़ी हुई है, इसलिये सिर कूटता हुआ, आंखों से सावन-भादों बरसाता हुआ तथा चौथी नरक में तीन प्रकार की महाभयंकर वेदनाओं को भुगतता हुआ अयोध्या का राजा लक्ष्मण कहता है कि—

"मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फल भोगिनः॥"

सारांश कि जिन सीताजी की रक्षा के लिये भयंकर रणमैदान खेलकर लाखों करोड़ों आदमियों को मौत के घाट उतारे, वह सीताजी अब इन्द्र-पद भुगत रहे हैं। जिन बड़े भाई रामचन्द्रजी को पिता समान समझकर उनके चरणों का भक्त बना, उन्हे प्रसन्न रखने के लिये मैंने क्या नहीं किया ? पर हाय रे ! मेरे कर्म-अज्ञान-मोह-माया। आज रामचन्द्रजी केवलज्ञान की भूमिका में पहुँच गये हैं, पर नरक में झूरते अपने लक्ष्मण भैया के सिर पर हाथ रखने के लिए भी तैयार नहीं। वनमाला आदि मेरी पट्टराणी और अन्य सब राणीओं को सजाने में, खिलाने में, पिलाने में मैं मोहांध बना था, पर वाह रे संसार ! आज एक भी स्त्री मुझे आश्वासन देने को तैयार नहीं। इत्यादिक कारणों से नारक जीव महावेदनावाले होने तीसरा भांगा उनके लिये नही है।

(४) अल्प निर्जरावाले होने पर भी नारक अल्प वेदनावाले नहीं होने से चौथे भांगे में भी वे नहीं आ सकते।

(५) महा निर्जरा के मालिक नारक नहीं होते, इसलिए यह पांचवा भांगा भी उनके लिए नहीं है।

(६) नारक अल्पक्रियावाले नहीं होते पर महाक्रिया को करानेवाले होने से वे भी इन भांगे में समाविष्ट नहीं है।

(७) यह भांगा भी उनके लिए नहीं है, क्योंकि वेदना और क्रिया उन्हें अल्प नहीं होती महामिथ्यात्वपूर्वक वैरानुबंध में क्रोधित रहने से प्रतिसमय दूसरे नारकों को मारने में, काटने में, छेदने में, उनके शरीर के टुकड़े टुकड़े करने में रत होनेसे महाक्रियावाले ही होते हैं और दूसरों द्वारा होती मारकाट की पीड़ा को सहन करने से महावेदनावाले होते हैं। यद्यपि जीवात्मा की शक्ति अनंत है और कर्मसत्ता भी अनंत शक्ति सम्पन्न है, इसलिए कई बार जीवात्मा की शक्ति इस तरह दबी हुई होती है, कि जिसके कारण उन्हे कर्मराजा का मार खाने के सिवा और कोई मार्ग नहीं है।

(८) इस भांगे में महाश्रव और अल्प निर्जरा होने पर भी वे अल्पक्रिया और वेदनावाले नहीं हैं।

(९) अल्पाश्रव और महानिर्जरा वाले होनेसे यह भांगा नारकों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(१०) अल्पाश्रव के कारण यह भांगा भी नहीं है। ११ से १६ यह भांगे भी उनके लिए नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह पता चलता है कि नारक के लिए दूसरा भांगा ही उपयुक्त है।

असुरकुमारों के लिए चतुर्थभंग यानि कि वे अल्पवेदना और महाक्रियावाले होते हैं। कारण में कहा गया है कि विशिष्ट प्रकार की विरति के अभाव में वे महाआश्रववाले और महाक्रियावाले होते हैं और प्रायः करके अशाता वेदनीय कर्म उदय के अभाव से अल्पवेदनावाले और अशुभ परिणामवाले होनेसे उन्हें निर्जरा भी अल्प होती है। शेष १५ भांगे असुरकुमारों के लिए नहीं है, यावत् स्तनितकुमार तक समझना।

एकेन्द्रिय जीवों के लिए जानना है कि उनके परिणामों की विचित्रता के कारण उन्हे सब भांगे होते हैं, क्योंकि अध्यवसाय की तरतमता उन्हें होती है। इस तरह दोइन्द्रिय से मनुष्यों के लिए भी सब भांगे जानने हैं।

व्यंतर से वैमानिक देव के लिए चौथा भांगा जानना है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक – १९ वाँ : उद्देशक – ५

नारक क्या चरम है ? या परम है ?

गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो ! नारक चरम हैं कि परम हैं ? यहां चरम मतलब अल्प आयुष्यवाले नारक और परम यानि दीर्घ आयुष्यवाले नारक समझना है । जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! नारक चरम और परम भी हैं ।

फिरसे गौतमस्वामी ने पूछा कि अल्प आयुष्यवाले नारक से दीघ आयुष्यवाले (परम) नारक क्या महाकर्मवाले महाक्रियावाले, महाआश्रव-वाले और महावेदनावाले हैं ? और दीर्घ उम्रवाले नारकों से अल्प आयुष्यवाले नारक क्या अल्प कर्मवाले, अल्प क्रियावाले अल्प आश्रववाले और अल्प वेदनावाले होते हैं ?

जवाब में भगवंत ने 'हा' कही है। अर्थात् प्रश्न से ही अर्थ समझना।

कारण में कहा गया है कि कर्मों की स्थिति की अपेक्षा से यह बात है, अर्थात् अल्प आयुष्यवाले नारकों की नरक स्थिति अब बहुत कम है और उसके पहले बहुत कर्म वेदना भुगत चुके होने से वे अल्पकर्मवाले, अल्प क्रियावाले, अल्प आश्रववाले और अल्प वेदनावाले कहलाते हैं। जबकि दीर्घ आयुष्यवाले परम नारकों की कर्मस्थिति बहुत दीर्घ होनेसे उन्हें कर्म भी बहुत शेष भुगतने होते हैं। इसलिए वे महाकर्मी, महाक्रियावंत, महाश्रवी और महावेदनावाले होते हैं।

असुरकुमार देवों की वक्तव्यता :

हे गौतम ! असुरकुमार देव भी चरम और परम हैं, किन्तु नारक से उन्हें विपरीत समझना। क्योंकि परम यानि स्थिति दीर्घ होने से अल्पकर्मी

है, अशाता वेदनीय उन्हें अल्प है, अल्पक्रियावंत है क्योंकि कायिकी वगैरह अशुभ क्रिया से होनेवाले आश्रव उन्हें अल्प हैं। इस तरह उन्हें वेदना भी अल्प है, तथा परम असुरकुमार महाकर्मी, महाक्रियावाले तथा, महाआश्रववाले होते हैं। यावत स्तनितकुमार तक जानना है।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच, मनुष्य परम की अपेक्षा से महाकर्मवाले और चरम की अपेक्षा से अल्प जानने हैं।

शेष देवों को असुरकुमार की तरह समझना।

वेदना के कितने प्रकार ? और किसकी वेदना कितनी है ?

भगवंत ने वेदना दो प्रकार की कही है; वह 'निदा और अनिदा' निदा शब्द में 'नि' उपसर्ग है और पहले गण का "दैव शोधने" धातु है उनसे बने 'निदा" शब्द का अर्थ वेदना विशेष, मतलब ज्ञानयुक्त वेदना इसका भी सरलार्थ है, जिसमें जीवन की शुद्धि नियत हो वह निदा कही जाती है। इससे निदा, ज्ञान, आभोग आदि एकार्थ शब्द हैं; इसलिए निदापूर्वक - समझदारीपूर्वक यानि कि 'मेरे किये हुए कर्म मुझे ही भुगतने हैं' यह समझकर जो वेदना भुगती जाय उसे निदा कहते हैं। अथवा सम्यग - विवेकपूर्वक जो वेदना भुगती जाय वह निदा है।

नरक निगोद में रहे जीवों से यावत् तीर्थंकर पद को भुगतनेवालों को भी किये हुए कर्म निमित्त मिलने पर उदय में आकर ही रहते हैं। उस वक्त कर्मों का वेदन कैसे करना ? यह, इस प्रश्न का आशय है। क्योंकि "कर्मेरितं सर्वं जगत्प्रपञ्चम्" सुख - दुःख, संयोग - वियोग, हर्ष - ग्लानि, जीवन - मरण, हानि - लाभ, हसना - रोना, आदि द्वन्द्व के अनुभव में जीवमात्र के अपने ही किये हुए कर्म कारणभूत हैं। जो समय पर प्राप्त होकर उदय में आनेवाले हैं अथवा जीवमात्र को प्रति समय जो

नये कर्म का बंधन होता है वैसे बँधे हुए कर्मों का उदय भी नियत है। उस वक्त उदय में रहे हुए कर्मों को किस तरह भुगतना है ? जिससे पुराने कर्म मिट जाय और नये कर्मों का बंधन अटके, ऐसा विचार रखना, उसे 'निदा' कहते हैं। "नियतं दायति आत्मानं शोधयतीति निदा" नये पाप कर्मों से आत्मा को बचाना और शुद्ध करना वह 'निदा' है।

निकाचित पापकर्मों का बोझा सिर पर उठाकर नरक में रहे कई नारकों की ज्ञानसंज्ञा समाप्त नहीं होती। जो संज्ञी जीव के पर्याय से मृत्यु होकर नरक में गये हैं वे सम्यग् विवेकपूर्वक अपने किये हुए कर्मों को तथा कर्मों के मार को सहन करते हैं। तथा असंज्ञी मूढ अवस्था में मृत्यु होकर जो नरक में गये हैं वे सोच भी नहीं सकते हैं कि 'हम से भुगता गया यह दुःखों का बोझ किन कर्मों का आभारी है ?' इसलिए हे गौतम ! मैंने यह कहा कि कई नारक ज्ञानपूर्वक और कई अज्ञानपूर्वक वेदते हैं।

असुरकुमारादि देव भी उपर की तरह समझना।

स्थावर और विकलेन्द्रिय जीव असंज्ञी होने से अनिदा वेदना को भुगतनेवाले हैं।

मनुष्यों को दोनों प्रकार की वेदना जाननी है। देवों में भी जो मिथ्यादृष्टि है, वे सम्यग्विवेकरहित होने से अनिदा वेदना भुगतते हैं। विशेष कथन प्रज्ञापना सूत्र से जानना।

भगवंत की यथार्थ वाणी सुनकर गौतमस्वामी खुश हुए तथा द्रव्य और भाव से भगवंत को वंदन करके ध्यान में स्थिर हुए।

॥ शतक १९ वाँ उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ : उद्देशक ६

द्वीप समुद्र की वक्तव्यता:

इस विषय में सूत्रकार सुधर्मास्वामी खुद जीवाभिगम सूत्र में समुद्रउद्देशक नामका उद्देशक है वह सारा प्रकरण वहां से जान लेने की सिफारिश करते हैं। उनमें ज्योतिषिक पंडित प्रकरण को छोड़ने का कहा है। जिसमें सूर्य और चंद्र की हकीकत आती है। आखिर भगवंत ने कहा कि असंख्य द्वीप समुद्र में अपना जीव अनंतबार घूम आया है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ उद्देशक – ७

देवों के विमान आदि की वक्तव्यता

गौतमस्वामी के पूछने पर भगवंत ने कहा कि असुरकुमारों के आवास ६४ लाख हैं, जो स्फटिक जैसे निर्मल, चमकीले, चिकने, सुंदर आकारवाले होते हैं, वहां अनेक प्रकार के जीव और पुद्गल उत्पन्न होते हैं, मरते हैं और पुनः वहां उत्पन्न होते हैं। यह आवास शाश्वता हैं, जिन्हें द्रव्यार्थिक

नय से जानना और वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत यानि अनित्य है। यावत् स्तनित देव तक यह बात जाननी है।

भूमि की अंदर भौमेय नगरावास वानव्यंतर कितने हैं? भगवंत ने असंख्य कहे हैं। ज्योतिष देवों के विमानावास असंख्यात प्रमाण है। सौधर्म देवलोक के ३२ लाख विमानावास हैं यावत् अच्युत देवलोक तक जानना है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ : उद्देशक ८

निर्वृति कायनिष्पति कितने प्रकार की है?

गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभो! जीवनिर्वृति के कितने भेद हैं?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम जीवनिर्वृति पांच प्रकार की है, वह इस तरह :- एकेन्द्रिय जीव निर्वृति, द्वीन्द्रिय जीव निर्वृति, त्रीइन्द्रिय जीव निर्वृति चतुरिन्द्रिय जीव निर्वृति और पंचेन्द्रिय जीव निर्वृति। सारांश कि गत भवों के उपार्जन किये हुए एकेन्द्रिय जाति

नामकर्म के वशीभूत होकर जीव अपना एकेन्द्रिय शरीर बांधे, उसे एकेन्द्रिय जीव निर्वृति कहते हैं। इस तरह दूसरे जीव भी अपनेअपने जाति नाम कर्म से शरीर की निवृति करते हैं। द्विइन्द्रिय जीवों को द्वीन्द्रिय जातिनाम कर्म, तीन इन्द्रिय जीवों को त्रीरिन्द्रिय जाति नामकर्म इस तरह चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के लिए समझना।

कर्म की सत्ता में किसी की भी दरमियानगीरी काम नहीं आती है। स्वतंत्र आत्मा को भी अपने किये हुए कर्म के कारण से परिस्थिति निभानी पड़ती है। जिससे अनिच्छा से भी उन्हें शरीर बनाना पड़ता है।

भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि, इस तरह एकेन्द्रिय जीव निर्वृति भी पांच प्रकार से है। पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव निर्वृति यावत् वनस्पतिकाय जीव निर्वृति समझनी। एकेन्द्रिय जाति नामकर्म अंतर्गत, पृथ्वीकाय, अप्कायादि जाति नामकर्म के वश बने हुए जीव पृथ्वी, अप् तेज, वायु और वनस्पति के शरीर की रचना करते हैं।

पृथ्वीकायिक जीव निर्वृति भी सूक्ष्म और बादर रुप से दो प्रकार की हैः (१) सूक्ष्म पृथ्वीकाय एकेन्द्रियजीव निर्वृति और (२) बादर पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव निर्वृति। यहां आपेक्षिक सूक्ष्म नहीं लेना है पर सूक्ष्म नामकर्म के आधीन होकर जीव सूक्ष्म शरीर को धारण करता है वह सूक्ष्म है। जो असंख्याता जीव इकट्ठे हो फिर भी केवली के सिवा दूसरों के लिए चक्षुगोचर नहीं होते हैं।

एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर लेने के लिए जैन शासन में आयुष्यकर्म, नामकर्म और आनुपूर्वी नामकर्म की व्यवस्था है। जैसे कि राग द्वेष और मोह माया में अंध होकर आरंभ-समारंभ, परिग्रह, वैरानुबंध तथा विषयानुबंध आदि के कारण अथवा अरिहंत के पूजन, दान, शील तप और शुद्ध तथा शुभ भावों के कारण जीव मात्र उन उन गति के योग्य आयुष्य कर्म का बंधन करता है। फिर उन गति में जाने के लिए

उन शुभ या अशुभ नामकर्म का उपार्जन किये बिना और कोई चारा नहीं है। किन्तु कोई भी जीव अपने चालू भव की माया छोड़ने तैयार नहीं है। फिर भी कर्मसत्ता जबरदस्त होने के कारण चालू भव के आयुष्य कर्म की जंजीर टूटते ही अगले भव की जंजीर उसके हाथ में गिर जाती है। लेकिन प्रत्येक जीवात्मा को अपने चालू भव के किये हुए शुभाशुभ कर्मों का ख्याल होता है इसलिए वह जानता है कि मैं यहां से मरकर हलकी जाति में जन्म लेनेवाला हूं और जाने का भाव नहीं होनेसे आयुष्य कर्म का आखिरी प्रदेश भुगतकर शरीर से अलग हुआ आत्मा ऊपर जाता है। उस वक्त ही आनुपूर्वी कर्म उन्हें पकड़ लेते हैं। और जीवात्मा को उस गति की ओर ले जाकर, जहां जन्म लेना है, वहां पटक देते हैं। इस विषय में जीव सर्वथा पराधीन है, शक्तिहीन है और कर्म की सत्ता खूब शक्त होनेसे जीव का कुछ नहीं चल सकता।

जीव निर्वृति का प्रकरण वैमानिक देव तक समझना है। विशेष में उनके भी दो भेद हैं पर्याप्त सर्वार्थ सिद्ध वैमानिक और अपर्याप्त सिद्ध वैमानिक।

हे प्रभो! कर्म निर्वृति कितने प्रकार से है?

जवाब में भगवंत ने ज्ञानावरणीय कर्म निर्वृति यावत् अंतराय कर्म निर्वृति, इस प्रकार से आठ के भेद बताये हैं।

भूतकाल के संख्यात, असंख्यात भवों के किये हुए कर्म आत्मा के एक एक प्रदेश में अनंत वर्गणा रुप से हैं। जिससे चालू भव में भी उस प्रकार के संस्कार, परिस्थिति, खानपान, मित्रवर्ग, पड़ोसी वर्ग आदि की प्राप्ति होती है और इस तरह अशुभ चेष्टा, संस्कार, दुराचारी मातापिता, मित्र और पड़ोसियों के कारण जीव को रागद्वेष की माया में अनिच्छा से जुड़ना पड़ता है।

शहद की कटोरी में गिरी हुई मक्खी को मरने के सिवा और कोई चारा नहीं, ऐसे किसी वक्त संस्कारित आत्मा को भी रागद्वेष के मायाजाल में फंसकर फिर से नये कर्म बांधने पड़ते हैं। इस प्रकरण में भी चालू भव के कर्मों की निर्वृत्ति-निष्पत्ति लेनी है। मोहकर्म के तीव्रतम रस में लीन होकर जो कर्म होते हैं वे प्रायः घातिकर्म हैं, जिनके कारण जीव की सब शक्तियां आवृत्त होती है, और दूसरे अघाति कर्म हैं, जो आत्मा की आंशिक शक्ति के अवरोधरुप हैं। जिसका विस्तृत वर्णन प्रथम तथा द्वितीय भाग में दिया गया है।

मतिज्ञानावरणीय यावत् अंतराय कर्म निर्वृत्ति की उत्तर प्रकृतियां कर्म ग्रंथादि से जाननी है। आज के उपार्जन किये हुए कर्म अपने जघन्य या उत्कृष्ट अबाधा काल की मर्यादा तक, सोये हुए अजगर की तरह अपना असर बता नहीं पाते। उसके बाद वे कर्म चलायमान होने की तैयारी करके उदयावलिका में प्रवेश करते हैं, और जीवमात्र को सुख-दुःख भुगतने में कारणरूप बनते हैं।

नारकों को भी आठ कर्मों की निर्वृत्ति और पुनः बंधन कहा है, जो वैमानिक तक के सभी दंडकों के लिए जाननी है।

शरीर निर्वृति के कितने प्रकार हैं ?

भगवंत ने कहा कि, जिन कर्मों के कारण जीव अपने सुख दुःख भुगतने के लिए शरीर की रचना करता है, वह शरीर निर्वृति कही जाती है। क्योंकि शरीर के माध्यम बिना कोई भी जीवात्मा पुण्य पाप के फलों को भुगत नहीं सकता है, इसलिए शरीर का ग्रहण करना अत्यावश्यक है। विग्रह गति में स्थूल शरीर बिना का जीव चाहे कितना भी छूटने का प्रयत्न करे फिर भी सिपाहीओं के हाथ में रहे चोर की तरह कर्मों की जंजीर में फंसे जीव को आखिर स्थूल शरीर धारण करना

पड़ता है। घाति कर्मों का कातिल असर जब तक जीव को है तब तक कार्मण शरीर ही अन्य शरीर का मुख्य कारण बनता है, किन्तु उनका नाश होने पर कार्मण शरीर क्षीण होता है। और शैलेशी अवस्था के बाद सिद्धशिला की ओर प्रस्थान करते हुए आत्मा के प्रदेश से सूक्ष्म शरीर सर्वथा अलग होता है और 'कारणं विना कार्यं नोत्पद्यते' इस उक्ति से सिद्ध भगवान को किसी भी काल में शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता है।

भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! औदारिक शरीरनिर्वृत्ति आदि शरीर निर्वृत्ति पांच प्रकार से है। नारकों को तैजस कार्मण और वैक्रिय शरीर निर्वृत्ति होती है। देवों के लिए भी यह जानना है; जबकि मनुष्य और तिर्यंचों को तैजस कार्मण औदारिक निर्वृत्ति है। शेष जीवों को यथायोग्य निर्वृत्ति है।

अच्छे कारीगरों द्वारा बनाया गया सुंदर मकान हो, और खिड़की दरवाजे की कमी हो तो वह मकान क्या काम का? इस तरह 'शरीरं भोगायतनं' हो, पर इन्द्रिय रहित शरीर किसी भी काल में भुगता नहीं जाता। जिससे आत्मा को स्पर्श, रस, गंध, दृष्टि और श्रवण की मालूमात हो, उससे विषयों का ज्ञान और अनुभव प्राप्त हो वे इन्द्रियें कहलाती हैं। जो ज्ञानेन्द्रिय से प्रसिद्ध है। हाथ-पैर-उपस्थ गुदा आदि, मृत शरीर को भी होते हैं, किन्तु भाव इंद्रिय के अभाव में उन अवयवों को लेकर मुर्दे को कुछ भी ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रिय का तादात्म्य या साहचर्य जीव के साथ होता है, पर जड़ इंद्रियों के साथ नहीं होता है। इस कारण से ही जैन शासन ने मान्य की हुई द्रव्य या भाव स्पर्शेंद्रिय इतनी तो व्यापक है कि जिससे हाथ में, पैर में, उपस्थ में या गुदा आदि में भी कार्यान्वित होकर उन स्पर्शों का अनुभव जीवात्मा को अबाध रुपसे से हो जाता है। जिससे कर्मेन्द्रियों की सत्ता को मानने पर इन्द्रियों की संख्या अमर्यादित रहेगी। इस कारण से अतीन्द्रिय ज्ञानी भगवंत ने कहा

कि हे गौतम ! अपने अपने आकार को प्राप्त इन्द्रिय निर्वृत्ति पांच प्रकार से है —स्पर्शेन्द्रिय, निर्वृत्ति यावत् श्रवणेन्द्रिय निर्वृत्ति ।

गौतम ! पौद्गलिक होने से इन्द्रिये जड़ हैं, लेकिन चैतन्य आत्मा के सहवास से उनमें अपने विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है । इसलिए "भोक्ता प्रेरकश्च आत्मा इन्द्रियाणि भोग्यानि प्रेर्याणिवा ओदनवत् कन्दुकवत् वा" । "जीवे विद्यमाने सति इन्द्रियाणि सक्रियाणि शरीरवत्" ।

इस तर्क से भी हम जान सकते हैं कि चावल की तरह इन्द्रिय भोग्य होती हैं । और जो भोग्य, भोग्य के साधन या प्रेर्य होते हैं उसका भोक्ता या प्रेरक अलग होता है । जिस तरह चावल भिन्न है और उसे खानेवाला अलग है । उसी तरह आत्मा भोक्ता है और इन्द्रियों के माध्यम से अपने पुण्य पाप के फलों को भुगतता है । यानि कि सुख दुःख भुगतने के लिए इन्द्रियें सशक्त कारण है । हाथ में रहे हुए काच के गोले को फिराने, घूमाने के लिए एक आदमी होता है, क्योंकि गोला अपने आप फिर नहीं सकता । इस तरह इन्द्रियां प्रेर्य होनेसे उनका प्रेरक आत्मा है । इसलिए आत्मा से प्रेर्य होकर ही स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है यावत् कर्णेन्द्रिय से सुना जाता है ।

शेष विषय प्रथम भाग से जानना है ।

भाषा निर्वृति के कितने प्रकार हैं ?

गौतम ! सत्याभाषा, मृषाभाषा, सत्यामृषाभाषा और असत्या मृषाभाषा यह भाषा निर्वृति के चार प्रकार हैं, जिनकी विस्तृत चर्चा प्रथम और द्वितीय भाग से समझ लेनी है ।

मनोनिर्वृति भी चार प्रकार की है । विशेष में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवो में मनोनिर्वृति नहीं होती

कषाय निर्वृति कितने प्रकार से है ?

गौतम ! क्रोध, मान, माया और लोभ रुप से कषाय निर्वृति के चार प्रकार कहे गये हैं। जीव प्रतिसमय कर्मों की निर्जरा करता है, और प्रति समय सात कर्मों का बंधन भी करता है। जिससे चौरासी लाख बजारवाली संसार की चार गति में आत्मा को भटकना पड़ता है। 'अतति सतत गच्छतीति आत्मा' बिना अटके प्रतिसमय भिन्न भिन्न पर्यायों में फिरनेवाली एक आत्मा ही है।

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव को कार्मण शरीर लगा हुआ है। "कर्मणां समूह इति कार्मणम्" कर्म शब्द को समूह अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगाने से कार्मण शब्द बना है, इसलिए सब कर्मों में मोहनीय कर्म विद्यमान होनेसे जीवात्मा को क्रोधमोह, मानमोह मायामोह और लोभमोह का उदय होकर रहता है। और जिस वक्त कषाय मोहकर्म का उदय होगा तब जीव को वैसे ही निमित्त की प्राप्ति हो जानेसे पुनः क्रोध-निर्वृति हो जाती है इस कारण से भगवंत ने कषाय निर्वृति के चार प्रकार कहे हैं :

क्रोध, मान, माया और लोभ करने की इच्छा नहीं होने पर भी जीवों के साथ कर्मों का बंधन हुआ है, उनकी ओर से भी यह परिस्थिति खड़ी होकर रहेगी। जिससे मानव क्रोधादि करता है। कई बार परिस्थिति तो इतनी जबरदस्त होती है कि आदमी की शक्ति कुछ काम नहीं आती है और मजबूर होकर परिस्थिति के वश होकर कषाय करने पड़ते हैं।

क्रोधादि कषाय केवलज्ञान के बाधक, संसार की जड़ों को दृढ़ करानेवाले हैं, यदि इस बात पर हमें श्रद्धा हो तो, जिनके कारण हमें कषाय हो वह चेतन और अचेतन निमित्त भी अपने शत्रु बन जायेंगे। इतना समझने पर भी, जीव को लगी हुई संसार की माया इतनी तो चंचल होती

है कि, जिससे आदमी क्रोध कषाय को मान्य रखेगा पर केवलज्ञान का रास्ता उसे मंजूर नहीं होता है और उस वक्त के लिए अपना उपशम का रास्ता भी छोड़ देता है। इस तरह क्रोधाग्नि में सुलगता हुआ वह फिर से मोहकर्म का रास्ता अख्त्यार करता है।

इसलिये अरिहंतों ने कहा है कि जीवात्मन्! तेरे कट्टर शत्रु, क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, उसे तू क्यों नहीं पिछानता? मिथ्याज्ञान के कारण बाह्यनिमित्त को शत्रु मानकर जीवन क्यों बरबाद कर रहा है? अतः मिथ्याज्ञान को छोड़ दे और सच्चा ज्ञान पाने की कोशिश कर, जिससे तेरे आत्मा के शत्रुओं को परास्त करने के लिए समर्थ बन सके। याद रखना कि केवलज्ञान का बाधक-कषाय के सिवा और कोई नहीं है।

यह बात २४ दंडकों के लिए भी समझनी है।

वर्णनिर्वृति के कितने प्रकार हैं?

उपचार से रस, गंध और स्पर्श भी समझ लेने हैं। शरीर पौद्गलिक होने के कारण उसमें वर्ण-गंध-रस और स्पर्श की विद्यमानता अवश्यमेव रही है। माता की कुक्षि में बंधनेवाले शरीर में वर्ण-गंध-रस और स्पर्श कहाँ से आये? जवाब में कहा गया है कि गत भव में नामकर्म की उपार्जना करते वक्त शुभ वर्ण-गंध-रस और स्पर्श अथवा जीव में पापबुद्धि ज्यादा हो, गुरुओं का अपमान हो, ईंगे हांकने की आदत हो, मायाजाल में लिपटा हुआ हो तब जीवात्मा अशुभ नामकर्म के कारण अशुभ वर्ण, अशुभ रस, अशुभ गंध, और अशुभ स्पर्श को प्राप्त करता है। इस तरह अपने किये हुए शुभ या अशुभ नामकर्म के कारण वर्णादि में शुभाशुभत्व आता है माता पिता चाहे कितने भी अच्छे हो, गोरे हो, पर संतान में श्याम वर्ण, दुर्गंधित पसीना, कर्कश या रुक्ष शरीर होता है। इन बातों में दूसरों को दोष देने के बजाय जातक के कर्म जवाबदार हैं।

भगवंत ने कहा कि :–

वर्ण :- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद इन पाँच प्रकार से हैं।

गंध :- सुगंध और दुर्गंध यह दो प्रकार से हैं।

इस तरह रस पांच हैं और स्पर्श आठ हैं।

संस्थान निर्वृति कितने प्रकार से हैं ?

हे गौतम ! उनके छः प्रकार हैं। जिन्हे प्रथम भाग से जानने हैं। शरीर के आकार विशेष को संस्थान कहते हैं। जैसे कि समचतुरस्त्र संस्थान निर्वृति, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान निर्वृति, सादिक संस्थान निर्वृति, वामन संस्थान निवृति, कुब्ज संस्थान निवृति और हुंडक संस्थान निर्वृति।

नारक जीवों को हुंडक संस्थान निर्वृति होती है। असुरकुमार यावत् स्तनित देवों को समचतुरस्त्र संस्थान।

पृथ्वीकायिकों का संस्थान मसूर की दाल अथवा चन्द्र के आकार जैसा होता है।

अपकायिक - पानी के बुलबुले जैसे संस्थान के हैं।

तेजस्कायिक जीव ध्वजा या पताका के आकार जैसे संस्थानवाले हैं।

वनस्पतिकायिकों का संस्थान अनियत है।

पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंचों को छः संस्थान हैं।

संज्ञा निर्वृति की वक्तव्यता :

जीव मात्र को आहार संज्ञा निर्वृति, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा; परिग्रह संज्ञा निर्वृति यह चार प्रकार की संज्ञा निर्वृति हैं। जो मोहजन्य और मोहजनक है। परंतु जो भाग्यशाली मोह को जीतने का प्रयत्न करेगा

उनकी चार संज्ञाएँ क्षीण होनेसे एक दिन सत्ता में से संज्ञा लुप्त हो जायेगी और ज्ञान की चरम सीमा की प्राप्ति होगी।

लेश्या निर्वृति छः प्रकार की है। सिर्फ सिद्धात्मा लेश्या रहित हैं।

दृष्टि निर्वृति के तीन प्रकार हैं। अनादिकाल से या पतन पाकर एकेन्द्रियावतार में रहे हुए अनंतानंत जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं और जब तक उन अवतार में रहेगा तब तक सम्यगदृष्टि की प्राप्ति नहीं होगी जब अन्य जीवों को तारतम्य भाव से तीन दृष्टि होती है।

ज्ञान निर्वृति के कितने प्रकार हैं ?

आभिनिबोधिक, (मति) श्रुत, अवधि, मनः पर्यव, और केवलज्ञान से ज्ञान निर्वृति पांच प्रकार की है। यहाँ जो ज्ञान निर्वृति कही है वह सम्यग्ज्ञान के संबंधित है। जिनकी सम्यग्दर्शन की हयाती में ही संभावना होती है। यानि कि क्षायोपशमिक दर्शन में क्षायोपशमिक ज्ञान होता है। जिनके कारण जीवात्मा में एकदूसरे के विरुद्ध कर्म प्रकृतिओं का उदय निश्चित है। इसलिए मतिज्ञान और मतिज्ञानावरणीय कर्म के उदयकाल में यदि मतिज्ञान में स्थिरता आयेगी अथवा स्वाध्याय बल से संसार की माया को गौण करेगा तो उसका मतिज्ञानावरणीय अशक्त बनेगा, जिससे जीव का उत्थान हो सकता है। अन्यथा मतिज्ञानावरणीय कर्म के सपाटे में मतिज्ञान फँस गया हो तो जीवात्मा का पतनमार्ग निश्चित है। इस तरह अन्य ज्ञान के लिए भी समझना है।

एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर शेष जीवों को ज्ञान निर्वृति कही है।
अज्ञान निर्वृति भी सब जीवों में समझनी।
योग निर्वृति भी उपर मुजब है।
उपयोग निर्वृति २४ दंडकों से जाननी है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक १९ वाँ : उद्देशक ९

करण की विशेष वक्तव्यता :

गौतमस्वामी ने परमात्मा से पूछा कि हे प्रभो ! जैन शासन में करण के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में परमात्मा श्री महावीरस्वामी ने कहा कि हे गौतम ! अनादिकाल से शाश्वता जैन शासन में करण के पांच प्रकार हैं द्रव्यकरण, क्षेत्रकरण, कालकरण, भवकरण और भावकरण।

"क्रियते निष्पाद्यते कार्य येन तत् करणम्" जिनसे कार्य किया जाय, यानि कि कार्य की निष्पति में जो असाधारण कारण हो वह करण कहलाता है। आगे के प्रकरण में निर्वृति का वर्णन किया गया है और उनमें तथा करण में क्रियापन रहा होनेसे दोनों में फर्क क्या ? जवाब में कहा गया है कि जो क्रिया अब चालु है वह करण है और निर्वृति में कार्य की पूर्णाहुति है। इस तरह दोनों में फर्क होनेसे इस सूत्र में करण की वक्तव्यता कही गई है।

(१) द्रव्यकरण – द्रव्य रुप से जो करण है, उसे द्रव्यकरण समझना जैसे कि कुल्हाड़ी से लकड़ी कटेगी या कट रही है, इसलिए कुल्हाड़ी को द्रव्यकरण जानना है। मिट्टी के पिंड का घड़ा बनेगा, तो वह द्रव्यकरण कहा जाता है।

(२) क्षेत्रकरण – जो क्रिया करने से क्षेत्र करण बने वह क्षेत्रकरण है। शालि, डांगर आदि से क्षेत्र करना वह नाम क्षेत्र करण है। अथवा जिस क्षेत्र में स्वाध्याय आदि करना वह क्षेत्रकरण है।

(३) कालकरण – जिनमें काल कारण रूप हो वह कालकरण है अथवा अमुक समय में अमुक काम करना वह कालकरण है।

(४) भवकरण – नारक वगैरह पर्याय को भव कहते हैं अथवा नरकादि भव का करना, वह भवकरण है।

(५) भावकरण – और भाव ही करण है अथवा भाव का करना, भावकरण कहलाता है।

उपर्युक्त पांच करण २४ दंडकों में समझने हैं

औदारिकादि रूप से शरीर करण पांच प्रकार से हैं। माता की कुक्षि में औदारिक शरीर की रचना के वक्त औदारिक करण जानना है। इस तरह दूसरे शरीर के लिए भी कल्पना करनी है। नारक और देवों को तैजस, कार्मण, तथा वैक्रिय शरीर होनेसे उनके शरीर करण सिर्फ तीन हैं। मतलब कि नारक और देव औदारिक शरीर की कितनी भी इच्छा रखे तो भी संसार का संचालन ईश्वर या जीवात्मा की स्वेच्छा आधीन नहीं होनेसे किसी की भी ईच्छा कहीं भी काम में नहीं आती है, क्योंकि उनके प्रारब्ध कर्म औदारिक करण के योग्य न होनेसे, चाहे कितनी भी कोशिश करे, तो भी औदारिक या आहारक शरीर की रचना के लिए वे समर्थ नहीं होते।

किये हुए पापकर्मो को भुगतने के लिए नारकों को और पुण्य कर्मो को भुगतने के लिये देवों को वैक्रियकरण होने से उनके लिए वह शरीर ही शेष रहता है। पाप कर्मो की चरम सीमा भुगतने के लिए औदारिक शरीर पर्याप्त नहीं होता। इसलिये उन्हे वैक्रिय शरीर की रचना करनी पड़ती है। जिसे काटने के बाद, तोड़ने के बाद, छिलने के बाद भी पारे की तरह जुड़ जाता है वह वैक्रिय शरीर। जबकि पुण्यकर्मो की विपुलता देवों को भुगतनी है, इसलिये औदारिक शरीर में हानि-वृद्धि-शक्ति-अशक्ति जो निश्चित रुप से रही हुई है वह पुण्यकर्म के भोगवटे में बाधक बनती है।

जैसे कि सागरोपम के आयुष्यवाले देवेन्द्र को पल्योपम की अथवा दो पल्योपम की आयुष्य मर्यादावाली देवीओं की संख्या आप गिन सकते हैं ? कभी गिनती की है ? १० कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। इस हिसाब से एक इन्द्र को जिसकी संख्या नहीं, इतनी देवीओं को अपना भोग्य बनाये बिना छुटकारा नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि उन्हे औदारिक शरीर हो तो इन्द्र महाराज की क्या दशा हो सकती है ? सारांश यह कि मनुष्य के एक बार के वीर्य क्षय में ग्लानि-ग्लानि और सिर पर हाथ रखकर बैठने की दशा होती है जो औदारिक शरीर की आभारी है इसलिए देवों को वैक्रिय शरीर होता है, और लाखों-करोड़ों तथा अब्जों देवीओं को भुगतने पर भी उन्हें श्रम नहीं लगता ग्लानि तथा ग्लानि नहीं होती है।

तिर्यंच और मनुष्यों को तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर होता है, इसलिए उन्हें तीन करण कहे हैं। छट्टे गुणस्थानक में चतुर्दश पूर्वधारी को आहारक शरीर भी होता है, इससे यह करण उनके लिए कुछ ज्यादा समझना है।

इन्द्रियकरण कितने प्रकार से है ?

भगवंत ने पांच प्रकार कहे हैं। इन्द्रिय पर्याप्ति से इन्द्रियों की रचना करनी अथवा सत्ता में रही पर्याप्ति से करनी पड़े वह इन्द्रियकरण है, वह पांच प्रकार से है, जो स्पष्ट है।

भाषाकरण के कितने प्रकार हैं ?

पुण्य कर्मोदय से भाषा पर्याप्ति उपार्जन हुई है, और जीव को भाषाकरण द्वारा उपार्जित भाषा बोलने की और अपने भाव दूसरों को बताने के लिए भाषा कीआवश्यकता होती है।

एकेन्द्रियावतार में अनंतानंत जीवात्माओं को छोड़कर शेष सब जीवों को भाषा की प्राप्ति हुई होती है। प्रति समय किये जाते कर्म में जब पुण्य और पापकर्म का मिश्रण होता है।

यानि कि मानव, ज्ञान की विचित्रता के कारण पुण्य और पाप का बंधन एक साथ करता है। जैसे कि हाथ से दान देता है और लेनेवाले को सरस्वती भी सुनाता है। जबरन ब्रह्मचर्य का पालन करता है, पर हृदय में जलता रहता है। आयंबील एकासन करता है, उपाश्रय में जाकर शरम से हाथ जोड़े उसका अफसोस करता है। आठ नवकार का कायोत्सर्ग करता है और 'शान्तीनाथ शाता करना घी कपासिये के भाव बढ़ाना' जिससे जल्दी घर पहुँच जाऊं। इस तरह अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संस्कार में जीवात्मा लिपटा होने से मानव के चार भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं।

(१) मेरा चाहे कुछ भी हो पर धर्म और व्यवहार के लिए सत्यभाषा ही बोलनी।

(२) सच बोलने पर तो भूखों मरने के दिन आयेंगे इसलिए माया मृषावाद में झूठ बोलने में मजा है।

(३) कुछ सच और कुछ झूठ यानि द्विअर्थी भाषा बोलना कि जिसमें सत्य और झूठ दोनों का समावेश होता है।

(४) लौकिक व्यवहार में किया जानेवाला भाषा व्यवहार करना।

उपर के चार प्रकार के कारण भाषा भी चार प्रकार की है और कारण भी उतने ही समझने हैं।

मनः करण, कषायकरण, संज्ञाकरण चार प्रकार से हैं। समुद्घात करण के सात प्रकार हैं। लेश्याकरण के छः प्रकार, वेदकरण के तीन प्रकार और प्राणातिपात करण के पांच प्रकार हैं। जो एगिंदिया बेइंदिया, तेइंदिया

चउरिंदिया, पंचिंदिया' इन पांच प्रकार के जीवों को अभिहया, वत्तिआ, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, उद्दविया, परियाविया, किलामिया, ठाणाओ ठाणं संकामिया और जीवियाओ ववरोविआ इन दस प्रकार से प्राणातिपात (हत्या) होता है।

पुद्गलकरण के कितने प्रकार हैं ?

भगवंत ने वर्ण-गंध-रस-स्पर्श और संस्थान भेद द्वारा पुद्गलकरण के पांच प्रकार बताये हैं। अजीव होने के कारण पुद्गल जड़ होने पर भी वर्णादि में फेरफार हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। परमाणु में एक वर्ण-गंध-रस और दो स्पर्श होने से वह किसी भी जीव के भोग में उपयुक्त नहीं होता, उस कारण से जीवों के पुण्य पाप के आधीन होकर परमाणुओं के स्कंध बनते हैं। जिनमें पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श होते हैं। इसलिए वह स्कंध जीवमात्र के भोग में उपयुक्त बनते हैं।

जीव के संख्यात, असंख्यात और अनंत पुण्य में तारतम्य भाव रहा होने से एक समय में एक जीव का पुण्योदय १०० पैसे जितना होता है, दूसरे समय में ९९ पैसे जितना यावत् एक समय ऐसा भी आता है कि आदमी के शरीर में फर्क नहीं पड़ता पर पुण्योदय में फर्क होनेसे एक पैसे जितना भी पुण्य शेष रहता है, जिसके कारण संपत्ति के रहने पर भी इच्छित पदार्थ पाने में कहीं से भी विघ्न आते हैं, और कम समय का आर्तध्यान, मन की बैचेनी और चित्त की चंचलता प्राप्त होनेमें देर नहीं लगती है। उसी तरह एक जीव को पापोदय १०० पैसे जितना होता है यावत् उस जीव को ही दूसरे वक्त १ पैसे जितना पापोदय और ९९ पैसे जितना पुण्योदय होनेसे उनके भोगवटे में आनेवाले पुद्गलों के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श और संस्थान भी बदल जाते हैं।

नरकभूमि की और देवभूमि की पृथ्वी, पानी, वायु आदि एक

समान होने पर भी नरकभूमि के जीवों के पापोदय से वहां की पृथ्वी दुर्गंधमय, पानी तेजाब जैसा और वायु उष्ण बनता है, जब कि देवलोक के जीवों के पुण्यकर्म ज्यादा होनेसे वहां की पृथ्वी सुगंधित, पानी शीतल, स्वादिष्ट और वायु भी सुखद होता है।

तीर्थंकर परमात्मा जिन भूमि पर चरण स्पर्श करते हैं, उस वक्त, उस स्थान के हवामान सब के लिए अनुकूल होते हैं और पापकर्मी जीवात्मा के कारण भूमि का हवामान सबके लिए प्रतिकूल बनता है। आप भी पुण्यशाली हैं। समझो कि दोपहर के वक्त आपके पुण्य में विघ्न आवे और खिड़की के समीप बैठने पर भी हवा न मिले और मिले तो वह दुर्गंधित हो और आपके उठने के बाद खिड़की के समीप दूसरा आदमी बैठता हैं, और हवा भी शीतल और सुगंधी बन जाती है, इसमें कारण क्या ? हवा में रहे हुए वर्ण-गंध-रस और स्पर्श किस तरह बदल गये ? किसने बदले कब बदले ? इस प्रश्न का उत्तर अनुभव ज्ञान के मालिक ही समझ सकते हैं। और पुस्तक के ज्ञानी गाथाएं पढ़ पढ़कर भी इस का उत्तर नहीं ला सकते इस कारण से संडास साफ करनेवाली भंगन को कई गालियां देकर कहेगे कि भंगन समय पर क्यों नहीं आती ? पैसे देते हैं ! इस तरह एक साधक दुर्गंध के कारण अपने संयमयोग को आर्तध्यान में लाकर अशातावेदनीय के खजाने को बढ़ायेगा। और अनुभवज्ञानी उस वक्त सोचेगा कि मेरे हजारों प्रकार के पुण्यकर्म के बीच २-४ घंटे के लिए पापकर्म के मिश्रण का उदय है, जिससे भंगन नहीं आती है। अपने आत्मा को समझाते हुए कहेगा कि इससे भी ज्यादा दुर्गंध का अनुभव मैंने नरक में किया है तो मनुष्यभव में मेरे पाप के कारण थोड़े वक्त की दुर्गंध से मेरे संयम योग को क्यों बिगाड़े ? इस तरह स्पर्श - रस और वर्ण संबंधी विचारणा में अनुभवी आत्मा अपने संयम में बाधा नहीं लाता है। जबकि पुस्तक पंडित बात बात में संयम गुणठाणे को

दूषित करेगा। इसलिए श्रीपाल राजा के रास में महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजने कहा कि :-

संशय नवि भांजे श्रुतज्ञाने, अनुभव निश्चय जेठो रे !
वादविवाद अनिश्चित करतो, अनुभव विण जाय हेठो रे।
जिम जिम बहुश्रुत बहुजन संमत, बहु शिष्य नो शेठो रे।
तिम तिम जिन शासन नो वैरी, जो नवि अनुभव नेठो रे।
मारे तो गुरुचरण पसाये, अनुभव दिलमांही पेठो रे।
ऋद्धि वुद्धि प्रगटी घटमांहे, आतम रति हुइ बेठो रे।

वर्णकरण पांच प्रकार से, गंधकरण दो प्रकार से, रसकरण पांच प्रकार से, स्पर्शकरण आठ प्रकार से और संस्थानकरण पांच प्रकार से जानना है।

॥ शतक १९ वाँ : उद्देशक ९ पूर्ण ॥

शतक १९ वां : उद्देशक– १०

वानव्यंतर देव क्या समाहार हैं ?

इस शतक का अंतिम उद्देशक है। जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! वानव्यंतर देव समान आहारवाले, समान शरीरवाले और समान उच्छवास तथा निश्वासवाले नहीं होते हैं। शेष बात प्रथम तथा द्वितीय भाग से जानमी है।

॥ शतक १९ वां : उद्देशक १० पूर्ण ॥

❀ समाप्ति वचन ❀

जगत्पूज्य, नवयुगप्रवर्तक शास्त्रविशारद, जैनाचार्य स्व. १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य, शासन दीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजय जी महाराज के शिष्य, न्याय - व्याकरण - काव्यतीर्थ, पंन्यास-पद विभूषित श्री पूर्णानंदविजय (कुमारश्रमण) गणिवर्य ने अपने मतिज्ञान के विकास के लिए श्रुतज्ञान के संस्कार्थे, द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवती सूत्र का १९ वां शतक दस उद्देशकों के साथ विवेचित किया है।

"सर्वे जिवाः जैनत्वं प्राप्नुयु :
सर्वेषां भद्रं भयात् इत्याशास्ते"

॥ शतक-१९ वाँ पूर्ण ॥

शतक- २० वाँ : उद्देशक- १

इस शतक में निम्नलिखित १० उद्देशक हैं।

दोइन्द्रिय जीव की वक्तव्यता, आकाश, प्राणातिपातादि, इन्द्रियों के उपचय की वक्तव्यता, अनंत प्रदेशी स्कंध, रत्नप्रभादि में अंतराल, प्रयोगादिबंध, कर्मभूमि आदि की वक्तव्यता, विद्याचारणादि, सोपक्रम और निरुपक्रम आयुष्य की वक्तव्यता, इस तरह क्रमश दश उद्देशक हैं।

दोइन्द्रिय जीव प्रथम क्या साधारण शरीर बांधते हैं?

राजगृही नगरी में समवसरणस्थ भगवान महावीर स्वामी को वंदन नमन करने के लिए पर्षदा आयी, धर्मोपदेश हुआ। उसके बाद गौतम-स्वामीजी ने पूछा कि, हे प्रभो! चार पांच या छः आदि दोइन्द्रिय जीव इकट्ठे होकर प्रथम साधारण शरीर बांधते हैं? बाद में आहार करते हैं। उसको परिणाम में लाये? उसके बाद विशेष शरीर का बंधन कर सकते हैं।

जवाब में परमात्मा ने कहा कि हे गौतम! तेरी यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि दोइन्द्रिय जीव इकट्ठे होकर आहार नहीं करते हैं, किन्तु अलग-अलग रहकर यानि कि एक एक रुप में रहकर आहार करते हैं, भिन्न भिन्न परिणमन करते हैं; इसलिये वे एक साथ रहकर शरीर का बंधन नहीं करते हैं पर अलग-अलग रहकर अपने शरीर को बांधते हैं।

कृष्ण-नील और कापोत नाम की उन्हे तीन लेश्यायें होती हैं। कोई सम्यगदृष्टि और कोई मिथ्यादृष्टि संपन्न होता है, किन्तु मिश्रदृष्टित्व उन्हे नहीं है। क्योंकि सास्वादन सम्यकत्व से पतित को दोइन्द्रिय में उत्पन्न

होने के समय में, अपर्याप्ति अवस्था में सम्यग् तथा मिथ्यादृष्टि की संभावना नहीं है। मति, श्रुतज्ञान, शरीर, वचन योगी और छः दिशा के आहार करनेवाले हैं। उन्हे इष्ट या अनिष्ट रस तथा स्पर्श का विषय करनेवाले प्रति संवेदन का ज्ञान नहीं होता है, फिर भी वे आहार करते हैं, स्पर्श करते हैं परन्तु उस विषय का ज्ञान नहीं होता है। यह रस मुझे भाता है, यह नहीं भाता, ऐसा उसे नहीं होता है। यह सब तीन और चार इन्द्रियों के लिए भी समझना है, विशेष में दोइन्द्रिय जीवों को स्पर्श तथा रस, तीन इन्द्रिय जीवों को स्पर्श-रस और घ्राण, जब कि चार इन्द्रिय जीव को स्पर्श, रस घ्राण और चक्षु होते हैं। दोइन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट से बारह साल की है। त्रीरिन्द्रिय से उत्कृष्ट स्थिति ४९ दिन की तथा चतुरिन्द्रिय की छः माह की है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की जाननी है।

पंचेन्द्रिय जीवों को छः लेश्या, तीन दृष्टि, मतिश्रुत अवधिज्ञान, और मनःपर्यवज्ञान नाम के चार ज्ञान, जब कि अतीन्द्रिय को केवलज्ञान भी होता है! पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकार से हैं। संज्ञी को मन होनेसे इष्ट अनिष्ट का ख्याल रहता है और मन बिना के असंज्ञीओं को 'मैं आहार करता हूं' यह विचारणा नहीं होती है।

पंचेन्द्रिय जीव क्या प्राणातिपात में विद्यमान हैं?

गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो! पंचेन्द्रियजीव क्या प्राणातिपातादि अठारह पापस्थानकों में विद्यमान होते हैं? सूत्र में प्रथम और अंतिम पापस्थानक ग्रहण किया गया है, फिर भी उपचार से बीच में रहे हुए सोलह पापस्थानक भी ग्रहण हो जाते हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम! कई पंचेन्द्रिय प्राणातिपातादि में होते हैं और कई नहीं होते हैं कारण में कहा गया है कि संयत

और असंयत रूप से पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं, औरत असंय जो हैं, वे प्रतिसमय पापस्थानकों में होते हैं सारांश यह है कि संसारी जीव को जब तक मनवचन और काया के योग हैं तब तक उसे क्रिया किये बिना नहीं चलता है और जहां क्रिया है, वहां प्राणातिपातादि का सेवन मानना ही पड़ता है। किन्तु अनंतानुबंधी कषाय का प्राबल्य दब गया होता है तब जीवात्मा को राग तथा द्वेष की चिकनाई न होने से सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में वे भाग्यशाली समझदारी पूर्वक पापों को पाप समझकर उनका त्याग करते हैं जिस से उनका मिथ्यादर्शन यानि (सर्वेषां पापस्थानकानां जनक) सर्वथा कमजोर होता है।

अथवा टूट चुका होता है। इसलिए "नष्टे कारणे कार्योत्पत्तिर्न भवति" अथवा कारण नाश होनेके बाद कार्योत्पति भी कैसे हो सकती है? इससे उन जीवों को सम्यग्ज्ञान का प्रकाश ज्यों ज्यों मिलता है और बढ़ता है त्यों त्यों अनिवार्यरूप से क्रिया करने पर भी वे किसी भी जीव को तथा प्राणों को मारने की इच्छावाले नहीं होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, हास्य से झूठ भी नहीं बोलते हैं, नहीं दिया हुआ तृण भी नहीं लेते हैं। ब्रह्मस्थान से मन वा चांचल्य बढ़े वैसे मैथुन कर्म को सर्वथा त्याग देते हैं। मूर्च्छाजनक परिग्रह का अभाव है। कारण हो या न हो फिर भी क्रोध नहीं करते हैं। आठ मद के त्यागी होनेसे उन्हें मान कषाय नहीं है। सरल स्वभाव होनेसे किसीके प्रति राग नहीं है। द्वेष कलह तथा पैशून्य नहीं है। परपरिवाद, मायामृषावाद तथा मिथ्यात्व को कभी का समाप्त कर दिया है।

बेशक। सभी जीव इतनी उच्च कक्षा के संयत नहीं होते हैं फिर भी जिनका मिथ्यात्व मर चुका है अतः कोई पदार्थ में विरतिवाले और दूसरे पदार्थों के सेवन में उपयोगवाले होते हैं, इसलिए वे भी संयत होनेसे प्राणातिपात में नहीं होते हैं। कदाचित् अनिवार्यरूप से कुछ करना पड़े

तो सूखे वस्त्र पर लगी हुई धूल को गिर जाने में देर नहीं लगती, उस तरह वह साधक

एवं अट्ठविहं कम्म रागदोससमज्जिअं।
आलोअंतो अ निंदतो खिप्पं हणई सुसावओ॥
कयपावो वि मणुस्सो आलोइअ निंदिअ गुरूसगासे।
होइ अइरेगलहुओ ओहरिअ भरूव्व भारवहो॥

इस तरह आलोचना-निंदा और गर्हा करता हुआ कर्म मुक्त बनता है। इस आशय से कहा गया है कि संयत जीव पापस्थानक में नहीं हैं, यानि कि उनमें वे तत्पर नहीं हैं और यदि हो तो भी अकिञ्चित्कर हैं। और असंयत उनसे विपरित समझने हैं।

जो असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, उन्हें यह ज्ञान नहीं होता है कि हमारा दूसरों द्वारा हनन हो रहा है, वे हमारे घातक हैं और जो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं उन्हें मन से पता चलता है कि अमुक जीव हमारे घातक हैं और हमारा हनन हो रहा है।

जंक्शन स्टेशन पर जिस तरह चारों ओर से गाड़ी आकर खड़ी रह जाती हैं उस तरह सर्वार्थसिद्धिजीवों से लेकर चारों गति के जीव, पंचेन्द्रिय मनुष्यावतार को प्राप्त कर सकते हैं। वे जघन्य से आन्तर्मुहूर्तिक आयुष्यवाले हैं जो सर्वार्थसिद्ध की तथा सातवी नरक की अपेक्षा से जानना और मनुष्य का जीव चारों गतिओं में जाता है।

अल्प बहुत्व

सब जीवों में पंचेन्द्रिय जीव कम हैं।

चार इन्द्रिय जीव उनसे विशेषाधिक हैं।

तीन इन्द्रियवाले और दोइन्द्रिय जीव क्रमश विशेषाधिक हैं।

इस तरह भगवंत की वाणी सुनकर खुश हुए गौतमस्वामी ने द्रव्य और भाव से वंदन किये और अपने आसन पर जाकर ध्यानस्थ हुए।

॥ शतक २० वाँ प्रथम उद्देशक पूर्ण ॥

शतक २० वाँ : उद्देशक २

आकाशास्तिकाय के कितने प्रकार हैं ?

प्रश्न के जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! जैन शासन में आकाश के दो प्रकार हैं। यद्यपि वह एक और द्रव्य रुप होने पर भी आधेय (आकाश में रहनेवाले द्रव्य) की विद्यमानता के कारण और अविद्यमानता से उसके दो विभाग पड़ते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय जीवास्तिकाय और परमाणु से लेकर अनंतानंत स्कंधमय पुद्गलास्तिकाय जिनमें रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जिस स्थान में उनका अस्तित्व नहीं वह अलोकाकाश है।

द्रव्यमात्र में धर्म भी होते हैं, क्योंकि धर्म बिना का द्रव्य नहीं होता है, इसलिए इन धर्मादि चार द्रव्यों की विद्यमानता जहां समाप्त होती है, वहां तक ही लोकाकाश है। उससे आगे अलोकाकाश है, जिनमें एक भी द्रव्य का चलन-गमन उपवेशन या अस्तित्व नहीं है।

लोकाकाश क्या जीवादि रुप है ?

पूछने का आशय यह है कि यदि लोकाकाश सद्रूप है तो वह जीवरूप है ? कि जीवदेशरूप है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, जीव लोकाकाश में हैं, उनके देश तथा प्रदेश भी वहां हो सकते हैं, जिससे लोकाकाश जीवरूप है, जीव-देशरूप भी है और जोवपदेशरूप भी है । यह कथन एकदूसरे के साहचर्य से समझना है, जैसे कि लोकाकाश जीव बिना का भूतकाल में भी नहीं था और भाविकाल में भी नहीं होगा और जीवों को लोकाकाश के बिना और कोई रहने का स्थान नहीं है ।

निगोद, नरक और सिद्धशिला में बिराजमान जीव भी लोकाकाश में हैं ।

लोकाकाश जीव स्वरूप है, उसका अर्थ जीव और आकाश एक ही है, यह नहीं समझना है, क्योंकि जीव चेतन है और लोकाकाश अचेतन है । और किसी के प्रयत्न विशेष से भी दोनों के देश व प्रदेशों में मिश्रण होनेवाला नहीं है और यदि माना जाय तो प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला संसार के संचालन में गड़बड़ होकर रहेगी, किन्तु स्याद्वादपूर्ण जैन शासन की मान्यता में ऐसी गड़बड़ कभी नहीं होती है, क्योंकि यह दोनों तत्त्व अनादिकाल से शाश्वता हैं, जिसके उत्पादन में या स्थिरता में किसीकी विशेष शक्ति काम आनेवाली नहीं है, और संचालन लाखों-करोड़ों साल पहले भी था और भविष्य में भी रहेगा ।

नदी-नाले, पर्वत, पेड़, मनुष्य, गाय-भैंस, कीटक आदि अनंतानंत जीवों का या पुद्गलों का द्रव्यरूप से किसी भी काल में नाश नहीं हुआ है और होगा भी नहीं । बेशक पर्यायों के फेरफार के कारण नदी के स्थान पर मकानों की परंपरा और मकानों के स्थान पर समुद्र की हाजरी हो सकती है । सिर्फ इतनी बात से संसार के सर्वथा नाश की कल्पना करनी, उसका नाम ही अज्ञानता है ।

धर्मास्तिकाय की विशालता का वर्णन करते हुए भगवंत ने कहा कि लोक विशाल है उस तरह धर्मास्तिकायादि पदार्थ भी उतने ही प्रमाण में विशाल हैं। लोकाकाश के एक भाग में धर्मास्तिकाय का प्रदेश और दूसरे भाग में अधर्मास्तिकाय का प्रदेश रहता हो, ऐसा भी कभी हुआ नहीं है।

हे गौतम ! मेरे जैन शासन में कपोल कल्पित या मनघडंत ठंडे पानी के गप्पे तथा गधे के सिंग उघाड़ने जैसी कल्पना नहीं हैं।

क्योंकि केवलज्ञान के मालिक अरिहंतो को संसार जिस स्वरुप से है उस प्रकार ही "करामलकवद्विश्व" स्पष्ट दिखाई देता है, इसलिए मैं कहता हूं कि जिस प्रदेश में लोकाकाश है, उस प्रदेश में ही धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय के प्रदेश विद्यमान हैं। फिर भी सबका मिश्रण नहीं हुआ है। उस तरह किसी को भी अपना धर्म नहीं छोड़ना है। १४ रज्जुलोक में धर्मास्तिकायादि व्याप्त होकर रहे हैं इस तरह पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश भी व्याप्त हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान में, सिद्धशिला में या नरक आदि में पुद्गलास्तिकाय की सत्ता रही हुई है। उदाहरणरूप से मनुष्य, हाथी, चींटी या वनस्पति आदि चेतन पदार्थों में जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का अनुभव स्पष्ट होता है। क्योंकि शरीर के अंग तथा उपांग पौद्गलिक हैं, उस तरह पौद्गलिक पदार्थ आकाशास्तिकाय बिना के नहीं होते हैं। अन्यथा पैर में कांटा, खील्ला, टांचनी आदि पदार्थ कैसे घुस जाते हैं ? लोहे के गोले में अग्नि का प्रवेश आकाश के आभारी है। यह सब बाते केवलज्ञानी के कथनानुसार सद्विवेक और सद्बुद्धि से भी निर्णीत हो सकती हैं।

यह लोकाकाश तीन भाग में विभक्त है। अधोलोक तिर्यंचलोक और उर्ध्वलोक। यह चालू प्रश्न अधोलोक तक होने से गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! अधोलोक, धर्मास्तिकाय के कितने भाग को व्याप्त

कर सकता है ? भगवंत ने कहा कि धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ ज्यादा भाग में अधोलोक रहा हुआ है ।

सिद्धशिला, लोकाकाश के असंख्यात वे भाग को व्याप्त करके रही हुई है, यानि कि लोकाकाश के संख्यातवे भाग को या सर्वलोकाकाश को व्याप्त करके सिद्धशिला नहीं रही है ।

पांच द्रव्यों के पर्यापनाम कितने हैं ?

एक ही वस्तु के अर्थ को अलग अलग शब्दों से जानने की इच्छा प्रत्येक मानव को होती है, क्योंकि अलग अलग पर्यायों से अर्थ को जाना हो तो ज्ञान की वृद्धि का कारण बनता है । जैन शासन का 'निक्षेपा' प्रकरण इस बात की साक्षी देता है कि एक व्यक्ति को यथार्थरूप से जानने के लिए नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव की भिन्न अपेक्षाएं हैं, जो सार्थक हैं । जिसके माध्यम से जिज्ञासु को चारों ओर का ज्ञान प्राप्त होता है । इस प्रश्न में भी गौतमस्वामीजी के दयापूर्ण मानस की प्रतीति होती है । खुद तो कृतकृत्य हैं, फिर भी जनमानस को ज्ञान की अत्युत्तम प्रभावना करने की उत्कट भावना से प्रेरित होकर पूछते हैं कि हे प्रभो !

धर्मतत्त्व के पर्यायवाचक शब्द कितने हैं ?

उत्तर में दया के सागर, भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि हे गौतम ! धर्मतत्त्व को स्पष्ट करनेवाले अनेक शब्द हैं । जिससे धर्म की वाच्यता स्पष्ट रूप से जानी जाती है ।

धर्म का वास्तविक मर्म समझ में न आया हो, तब तक मानव के जीवन में अविद्या, अस्मिता, अभिनिवेश, राग और द्वेष नाम के कर्मक्लेश भड़कते होनेसे शांति, सुख और समाधि सर्वथा खो जाते हैं ।

फलस्वरूप देश, समाज और संप्रदायों के अभिनेताओं के हृदय छोटे बनते हैं और धर्म को बाजू में रखके पशुहत्या, शराबपान भांग, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, झूठ, प्रपंच आदि गंदे तत्त्वों की उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है और मानव, मानव के साथ पशुतुल्य बनकर सब के साथ वैर-विरोधवाला और संसार को जहर बनाने में भागीदार बनता है।

जिसकी आँख पर पट्टी बाँधी हुई है, उस मानव को अपनी बाजू के उपर नीचे के यावत् शरीर पर रहे हुए अलग अलग वस्त्रों के रंग का निर्णय करना अशक्य है, उसी तरह अज्ञान (ज्ञानावरणीय) के वश हुई आत्मा को भी सम्यग्ज्ञान की ओर दुर्लक्ष होनेसे किसी भी वस्तु का दूसरे प्रकार से निर्णय करने में वह अशक्तिमान होता है, जिससे विपरीत, सांशयिक, भ्रमित ज्ञान, के पूर्वग्रह से अंध बने हुए मानव का मतिज्ञान अविकसित ही रह जाता है परन्तु सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त करने के बाद ज्ञानावरणीय कर्म के पुद्गलों में शैथिल्य आता है, और वे एक ही पदार्थ को भिन्न पर्यायों से जानकर ज्ञान का विकास करते हैं।

जिस धर्म की आराधना करके मानव अपना कल्याण चाहता है, उस धर्म को सर्वांगी जानने के बाद कषायों की ताकत कम हो जाती है। परिणाम रूप वह साधक, शब्दों के जाल में से बाहर आकर अर्थ की विचारणा करने के लिये उत्साहित बनता है।

अब हम भगवतीसूत्र के आधार से 'धर्म' के वाचक शब्द कितने हैं? और किन किन अर्थ में रहे हुए हैं, यह जान लें। जिससे सम्यगज्ञान की वृद्धि होने से सम्यगदर्शन और चारित्र में वृद्धि आयेगी।

(१) धम्मेइ वा :—यहां और आगे कहे गये पर्यायों में 'वा' का अर्थ विकल्प अर्थ में जानना है। गतिशील जीव और पुद्गल को सहाय करनेवाला धर्म है, यानि कि धर्मास्तिकाय द्रव्य को लेकर गतिशील पदार्थ

गति करते हैं। अलोकाकाश में यह द्रव्य न होने से वहां किसी को भी जाने का प्रश्न नहीं होता है।

(२) धम्मत्थिकाएइ वा :—द्रव्यमात्र प्रदेशात्मक होने से यहां अस्ति का अर्थ प्रदेश और काय का अर्थ समूह करना है। इसलिये धर्मास्तिकाय के अनेक प्रदेश हैं। लोकाकाश को भी असंख्येय प्रदेश होने से अलोकाकाश में आधार का अभाव होने से आधेय (जीव तथा पुद्गल) वहां कोई भी हालत में नहीं जा सकते।

(३) पाणाइवाय वेरमणेइ वा :-यानि प्राणातिपात का विरमण (त्याग) ही धर्म है, संसार का प्रत्येक आदमी धर्म शब्द का उच्चारण करता है, और जीवन में यथाशक्य धर्म की आराधना करता है। प्रश्न यह है कि यहां धर्म कौन सा लेना है ? जवाब में कहा गया है कि जिन क्रिया में, अनुष्ठान में, देवपूजा में प्राणातिपात का विरमण होता है वह धर्म है और ऐसे धर्म की आराधना मानवमात्र का कल्याण करने के लिये समर्थ है। चारित्रधर्म का स्वीकार किये बिना प्राणातिपात का सर्वथा विरमण होना सर्वथा अशक्य है।

इसलिये चारित्र ही धर्म है। चारित्र किसे कहते हैं ? उसकी व्याख्यायें हम भिन्न-भिन्न तरीके से यहां समझ लें।

चारित्रमेव धर्मः अथवा धर्मः चारित्ररूपः	(जीवा-२५६)
धर्मः श्रुतचारित्र लक्षणः	(भगः ९०, उत्तरा, १७७)
जीवस्य स्वभावो धर्मः	(दश १२६)
दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः	(आ. १३४)
धर्मो जिनाज्ञारूपः चारित्रलक्षणः	(ठाणा २४१)
धर्मः वस्तु स्वभावः आचारो वा	(उत्तरा १२८)

इत्यादि व्याख्याओं से हम जान सकते हैं कि जीव का स्वभाव धर्म है, दुर्गती में पड़े हुए जीव को जो धारण करे वह धर्म है, जिनेश्वरदेवकी आज्ञारुप चारित्र की आराधना धर्म है। शुद्ध पवित्र आचार ही धर्म है और अजर तथा अमर आत्मा को स्वभाव में रखना धर्म है।

चारित्र का मतलब क्या ?

चरन्ति गच्छन्ति अनेन मुक्तिमिति चारित्रम् (उतरा. ५५६)

चारित्रं चारित्र मोहनीय क्षय क्षयोपशमजो जीव परिणामः (भग. ३५०)
चारित्रं सावद्य योग निवृत्ति लक्षणम् (प्रश्न. १३२)
अन्य जन्मोपात्ताष्टविधकर्म सञ्चयापचयाय चरणं चारित्रम् (आव. ७८)
कर्मणां चयस्य रिक्तीकरणात् चारित्रं, आत्मनो विरतिरुप
परिणामो वा (ठाणा २४)
बाह्य सदनुष्ठानम् चारित्रं (ज्ञाना. ७)

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न व्याख्यायें हमें समझाती हैं कि 'अपुनरावृतिवाली मुक्ति जिससे मिले वह चारित्र है।

चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय तथा क्षयोपशम से जीव के शुद्ध या शुभ परिणाम विशेष को चारित्र कहते हैं।

संपूर्ण प्रकार से पांच इन्द्रियों का, चार कषायों का, तीन योग के आश्रव मार्ग का, अवरोध तथा विराम कराये, वह सम्यक्चारित्र है। गत भवों के उपार्जित आठों कर्मों की गठरी को जो मर्यादित व नाश करावे वह चारित्र है।

आत्मा में जिससे पापों की विरति हो वह चारित्र है। अथवा बाह्य दृष्टि से अहिंसक अनुष्ठान को चारित्र कहते हैं। उपर्युक्त व्याख्याओं से चारित्र का स्पष्टीकरण हो जाता है।

आज का सारा संसार चारित्र-सदाचार-पवित्राचार आदि शब्दों का उच्चारण करता है, पर चारित्र का तात्पर्य नहीं जानने के कारण दूसरी तरफ उनके जीवन में से मांस भोजन, शराबपान, परस्त्री या वेश्यागमन, जुगार, कंदमूल भक्षण, अनंतकाय, भांग-अफीम या तंबाकू सेवन आदि दुर्गुणों का अंत नहीं आता है। तब जैन शासन को श्रद्धान्वित करनेवाले भाग्यशाली के कर्मो का उपद्रव शक्तिहीन होने के कारण पापों का संपूर्ण त्यागपूर्वक का सर्वविरति चारित्रधर्म स्वीकार करना पड़ता है। और गुरु-आज्ञा, स्वाध्याय, तप, जप में मस्त बनकर, उसका पालन आदि करके सारे संसार का मित्र बनता है।

यह चारित्रधर्म जीवन में कैसे आ सकता है।

जवाब में भगवंत ने कहा कि 'पाणाइवाय वेरमणेई वा' यानि कि– प्राणातिपात का विरमण ही चारित्र है।

प्राणातिपात का मतलब क्या ?

प्राणानां प्राणस्य वा अतिपातः हननं मारणं –
छेदनं भेदनं आदिः यत्र वर्तते स प्राणातिपातः ॥

प्राणों की संख्या दस है, जिसकी विद्यमानता से ही वे 'प्राणी' कहलाते हैं। पत्थर, रेलगाड़ी, प्लेन आदि को प्राणी के नाम से कोई भी नहीं जानते; ऐसा संबोधन भी नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हे प्राण नहीं है। जबकि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों को प्राण होते हैं, इसलिये हम उन्हे 'प्राणी' कहते हैं। श्वासोश्वास लेने, निकालने की क्रिया करे वह जीव है, अन्यान्य पर्यायों में सतत गमन करनेवाली आत्मा है। प्राण दस प्रकार के हैं : ५ इन्द्रिय, ३ योग, श्वासोश्वास और आयुष्य। इन दस प्राणों में से किसी भी एक को या सब को हानि पहुंचाने का भाव रखना और उसके लिये कोई क्रिया करनी वह प्राणातिपात है। जिन्हे छोड़े बगैर कोई भी चारित्री (सर्वविरतिवंत) नहीं बन सकता।

स्व या पर शस्त्रों के घात बिना की पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति तथा वायु सचेतन होने से प्राणी है और स्पर्शेन्द्रिय शरीर, श्वासोच्छवास तथा आयुष्य नाम के चार प्राण हैं। अलसिये तथा बासी रोटी, खिचड़ी आदि में होनेवाले दोइन्द्रिय जीवों को रसनेन्द्रिय और वाग्योग मिलकर छः प्राण हैं, तेइन्द्रिय जीवों को ७ प्राण हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों को ८ प्राण हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों को ९ प्राण हैं तथा संज्ञी मनुष्य को पांच इन्द्रिय, तीन योग, श्वासोश्वास और आयुष्य नाम के दस प्राण हैं।

सारांश यह है कि, फल, पानी, वायु, बिजली, गुलाब-मोगरे के फूल, भूंड, खरगोश, हरीण, गाय, बैल, बंदर, मोर, कछुआ, छोटी बड़ी मच्छी, सर्प, बिच्छु, चींटी, कीड़े, जू, लीख आदि सब प्राणी हैं। इसलिए किसी भी प्राणी का उसके प्राण से वियोग करना, किसी से करवाना तथा अनुमोदित करना व किसीकी आंख, किसीके कान, किसीकी चमड़ी जीभ या किसीके मन का, प्रवृति का, श्वासोश्वास का घात करना, छेद करना अथवा किसे भूखों मारना, दुःखी बनाना आदि प्राणातिपात है।

प्राणातिपात स्वधर्म नहीं है :

यह प्राणातिपात जीव का स्वभाव (स्वधर्म) नहीं होता है। क्योंकि जिसके लिए जीवात्मा को कुछ करना पड़े, वह स्वधर्म नहीं पर परधर्म है। प्राणातिपातादि क्रिया में जीवमात्र को विशेष प्रवृत्ति करने की फर्ज पड़ती है। उसके बिना किसी भी जीव का घात, हनन, दुःखोत्पादन, पीड़न, मारन, ताड़न, आक्रमण आदि नहीं होता है। इसलिए प्राणातिपात (जीवहिंसा) स्वधर्म नहीं है, लेकिन परधर्म है, और परधर्मोभयावहः यानि कि प्राणातिपातादि में मरना अत्यंत भयावह है। क्योंकि दूसरे प्राणीओं को मारनेवाला अगले भव में यमदूतों की मार खाना है, भूखों मारनेवाला खुद भूखों मरता है, रुलानेवाला रोता है, दूसरों के हाथ पैर

आंख कान या चमड़ी काटनेवाले की भी कुछ हद तक यही हालत हो सकती है। इसलिये फलादेशों से निश्चित होता है कि प्राणातिपात धर्म नहीं, चारित्र नहीं किन्तु महाभयंकर पाप है, इसलिए उसका विरमण करना, तथा उसका प्रशिक्षण लेना ही धर्म है, चारित्र-सदाचार कहा जाता है।

और जिसके लिए आत्मा को कुछ भी प्रयत्न नहीं करना है, इसलिए प्राणातिपात विरमण स्वधर्म है "स्वधर्मे निधनं श्रेय" मतलब अहिंसा धर्म की आराधना करते हुए मौत भी आये तो श्रेयस्कर है

(४) मुसावाय वेरमणेइं वा – मृषावाद का विरमण करना धर्म है, चारित्र है। क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह-हास्य और भय में आकर स्वार्थवश या अज्ञानवश में झूठ बोलना दूसरे नंबर का महाभयंकर पाप है।

"सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपणं मृषावादः" (प्रज्ञा. ४३८)

"आत्मपरोभयार्थं अलीकवचनम् मृषावादः" (सम. २५)

इस विषय की चर्चा प्रथम भाग में हो गई है।

(५) अदत्तादान वेरमणेइं वा – नहीं दी हुई वस्तु का ग्रहण करना अदत्तादन पाप है और उसका विरमण करना धर्म है।

(६) मेहुण वेरमणेइं वा – मैथुनकर्म पाप है और उसका विरमण करना धर्म है – चारित्र है।

(७) परिग्गह वेरमणेइं वा – बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का विरमण धर्म है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के पापस्थानकों का धर्मसाधना, मंत्रोपासना, क्रियाकांड, यज्ञयाग, देव-देवी की उपासना आदि में त्याग करना चाहिए। मैला कपड़ा जिस तरह गंदे पानी में साफ नहीं किया जाता, उस तरह

जो स्वयं पाप है, उससे धर्म की उत्पत्ति, साधना की सिद्धि, मंत्रोपासना का फल, क्रियाकांड की फलश्रुति यज्ञयाग की सत्यार्थता या देव-देवी की प्रसन्नता कैसे प्राप्त होगी ? इससे उनका विरमण ही धर्म है। अहिंसा धर्म के परमोपासक, दयामूर्ति भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि प्राणातिपातादि पाप है, और उसका त्याग तथा त्याग की भावना ही धर्म है।

(८) कोह विवेगेइ वा जाव मिच्छादसण सल्ल विवेगेईवा-क्रोध का विवेक करना यावत् मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, परपरिवाद, रति, अरति, माया मृषावाद और मिथ्यात्वशल्य इन भाव पापों का विवेक मतलब त्याग करना वह धर्मास्तिकाय अर्थात् धर्म का पर्याय है इसलिए भावपापों का त्याग धर्म है।

क्रोध का त्याग किस तरह करना ?

विवेक (त्याग) का दूसरा अर्थ पृथक्करण है, इसलिये क्रोध करते वक्त विचार करना चाहिये कि क्रोध करने से लाभ होगा कि हानि ? यदि लाभ होगा तो वह चिरस्थायी है कि क्षणस्थायी ? चिरस्थायी लाभ आत्मा के लिये हो तो सद्गतिदायक है कि दुर्गतिदायक ? यदि सद्गतिदायक हो तो वह एक भव के लिये है कि पारम्परिक भवों के लिये ? यदि इस भव के लिये लाभ होगा तो लाख के बारह हजार करने जैसा होगा, क्योंकि संसार में हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि रोगीष्ट, महारोगीष्ट आदमी जितने दुःखी नहीं हैं उससे तो हजारों लाखों गुने दुःखी क्रोधान्ध आदमी है और जिसका एक भव बिगड़ेगा, उसके परंपरा के भव कैसे सुधरेंगे ? इस लिये क्रोध पाप है, महापाप है और उसका विवेकपूर्वक विचार करके त्याग करना धर्म है।

मानव के जीवन में अहंकार की मात्रा का जोर ज्यादा होता है तब

क्रोध तथा अहंकार दोनों मित्र समान बन जाते है। क्योंकि क्रोध की उत्पत्ति प्रायः गर्व, अहंकार, मान तथा मद के आधीन है।

मनुष्य के जीवन में धर्मभाव हो, केवलज्ञान पाने की तीव्र इच्छा हो, तो यहां दिये हुए उपायों का ख्याल रख के सबसे पहले क्रोध को छोड़ देने का प्रशिक्षण लेना चाहिये। यदि तेरे मन में यह हो कि सामनेवाला आदमी मुझे गालियां देता है, मेरी निंदा करता है, और अपमान करता है, तो यह सब मैं क्यों सहन कर लूं? इस स्थिति में प्रथम विचार करना जरूरी है कि सामनेवाला आदमी मुझे गालियां देता है तो, मुझमें जरुर कोई गुप्त या अगुप्त दोष होगा, तो फिर उस पर रोष करके क्या फायदा? और यदि वह झूठ होगा तो समझ लेना कि वह बेचारा अपनी आत्मा को, मन को, बुद्धि को मलिन करके मेरे विरुद्ध लड़ रहा है, तो ऐसी दयापात्र व्यक्ति पर क्यों रोष करना?

क्रोध का त्याग करने के लिए साधक, जब तक क्रोध में रहे हुए गुणदोषों का निर्णय सत्यस्वरूप से न कर ले तब तक वह अपने क्रोध को छोड़ नहीं सकता। काले नाग के मुंह में अमृत, सूर्य में शीतलता, बर्फ में उष्णता कभी नहीं होती, उस तरह क्रोध में एक भी गुण नजर नहीं आता है। इसलिए क्रोध दोषों का सागर है। जैसे कि क्रोध का उदय होते आदमी के रोमरोम में द्वेषभाव की प्रादुर्भूति होती है, मित्र भी शत्रु बनते हैं, हर कदम पर अपमान होता है, अपनी ही बोली हुई भाषा और प्रतिज्ञा की स्मृति नहीं रहती, मतिभ्रंश होता है, यानि कि क्रोधी आदमी को अपनी सत्ता का ख्याल नहीं रहता है, तो फिर उसे दूसरों को दिये हुए वचन कैसे याद रहेंगे? तथा क्रोध और व्रतों के पालन इन दोनों में दुश्मनावट होनेसे क्रोधी आदमी को अपने नियम, व्रत और प्रत्याख्यान याद नहीं रहते। इन सब बातों से इतना तो हम जान सकते हैं कि क्रोध में दोषों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए यह त्याज्य है।

मेरे किये हुए कर्म मुझे ही भुगतने हैं, इसलिए दूसरों पर क्रोध करना बेकार है। इस तरह से क्रोध का निग्रह होता है, जो धर्म है।

(९) मानविवेगेइ वा – मान कषाय का त्याग करना, मानविवेक है; यदि मान का त्याग धर्म हो तो मान-अभिमान-गर्व-अहंकार और आठ प्रकार का मद पाप है अधर्म है।

अनादिकाल से हमारी आत्मा मिथ्यात्व के कारण सूखे हुए चमड़े की तरह कड़क हो गई है, जिसका मूल कारण मान कषाय है। क्योंकि गर्विष्ठ आदमी, वड़िल, पूज्य, गुरू, माता पिता का भक्त कभी बन नहीं सकता। इसलिए उनके सच्चे उपदेश को सुनने के लिए तैयार नहीं होता। अपनी आत्मा को नरम करने के लिए उसके पास कोई मार्ग नहीं होता। फलस्वरूप संसार भर के सब मानवों से घमंडी आदमी खाने-पीने में चलने-बोलने में तथा प्रत्युत्तर देने में सर्वथा अलग दिखाई देता है।

भांग का प्याला पीने के बाद शरीर में प्रथम मादकता आती है, हाथ-पैर-आंख में गर्मी बढ़ती है, और उसके बाद पीनेवाले को नशा चढ़ता है। इस तरह पूर्वभव के किये हुए, आचरे हुए तथा बढ़ाये हुए चारित्र्य मोहनीय कर्म के कारण जातक को जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत का मद ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अहंकाररूपी कषाय अपने असली स्वरूप में आकर जातक को सर्वथा झूठे रास्ते पर लाकर बेहाल बना देता है। उस वक्त घमंड के नशे में चूर उसे यह भी ख्याल नहीं रहता है कि किसी भव की पुण्य सामग्री लेकर मैं यहां आया हूं। इसलिए उन पुण्य को समाप्त करनेवाले मदस्थथानों का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

(१) अनंत भव में हलकी जाति पाने के बाद इस भव में राधावेध की समान उच्च जाति पाने के लिए मैं भाग्यशाली बना हूं। (२) उसी

तरह अनंतानंत हलके, गंदे और असभ्य आचारवाले खानदानों में बेहाल अवस्था भुगतने के बाद उच्च कुल पाया है। (३) अजब गजब के दान पुण्य करने के बाद बहुत से लाभ मुझे हुए हैं। (४) ऐश्वर्य यानि धन-धान्य सुंदर वस्त्र आदि की प्राप्ति कम पुण्यशालीओं को नहीं होती। (५) कई जीवों को अभयदान, रोटीदान, वस्त्रदान देने से सुंदर शरीर और रूपसंपत्ति मिली है। (६) बुद्धिबल पाने के लिए कई भवों की तपश्चर्या कारणभूत है। (७) उत्साह, वीर्य, पराक्रम आदि हर किसी को प्राप्त नहीं होती है। (८) गुरू के चरणों में रहकर संयम और तपोधर्म की आराधना के फलस्वरूप ज्ञानशक्ति पायी जाती है।

मुझे जब ये सारी बाते थोड़ी-बहुत मिल गई हैं, तो जातिमद, कुलमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, बलमद, रूपमद, तपोमद और श्रुतमद करके आनेवाले अनंत भवों को क्यों बिगाड़ना ? यह सोचकर वह जातक पाप स्वरूप अभिमान त्याग करने प्रयत्नशील रहेगा।

(१०) मायाविवेगेई वा – समझदारी से माया का त्याग करना धर्म है और माया का सेवन अधर्म है। क्योंकि माया के सेवन से आत्म-परिणामों में शुद्धि नहीं आती। परिणामरूप सबके साथ, खास करके अपने जातभाई, साधर्मिक भाई के साथ विसंवाद यानि कषायक्लेश, बैर-विरोध करवाकर जीवन बरबाद करानेवाला यह पाप है। आत्मा के अध्यवसाय में छल, प्रपंच, मृषावादादि को पैदा करानेवाली निकृति अर्थात् अपने सहवास में रहनेवाले माता, पिता, भाई, भाभी, बहन जातिबंधु तथा विद्यागुरू, धर्मगुरू आदि के साथ माया का सेवन करानेवाली यह 'माया' महापाप है। जिससे सब पुण्यकर्मों की समाप्ति होती है और इस लोक में तथा आनेवाले लोक में अशुभतम पापकर्मों का बंधन होता है। इस तरह के मायाचरण से सात्विक अनुष्ठान तप स्वाध्याय, जाप तथा पवित्र कार्य सारे निष्फल जाते हैं। इस कारण से त्रिशलापुत्र महावीरस्वामीजी ने कहा कि माया का त्याग ही धर्म है

(११) लोभ विवेगेई वा :—लोभ का त्याग ही धर्म है और परिग्रह संज्ञा में मस्तान बनकर लोभांध हुआ मानव अधर्मी है, लोभ अधर्म है।

राक्षस के सहवास में जिस तरह कोई सुखी नहीं रह सकता। उसी तरह पुत्रलोभ, द्रव्यलोभ, स्त्रीलोभ, यश और कीर्तिलोभ, वस्त्रपरिधान लोभ, शरीर शणगार लोभ आदि किसी भी प्रकार के लोभ के सहवास में कोई भी आत्मा सुखी नहीं रहता। हजारों साबून से शरीर भी पवित्र नहीं होता है, इसलिये शरीर की शुद्धि में आत्मा की शुद्धि की कल्पना भ्रांति और अज्ञान है। किन्तु आत्मा से शुद्ध, सदाचारी और पवित्र मानव का शरीर शुद्ध होता है। यह भी हमें समझना है कि शरीर को आत्मा के साथ कुछ संबंध [illegible] है। क्योंकि :

नीडु
तुं पु विनाशी तुं अविनाशी, अब है इनका विलासी।
पुद्गु संग जब दूर निकासी, तब तुम शिव का वासी।"

यानि कि शरीर विनाशी है और आत्मा अजर, अमर, शुद्ध और पवित्र है। परंतु मोहमाया के कारण शरीर की माया में फँसा हुआ है और जब इस शरीर का संबंध छूट जायेगा तब जीव खुद शिव बनेगा, आत्मा परमात्मा और नर-नारायण बनेगा।

कुत्ते को सोने की थाली में बढ़िया मिठाई खिलाई जाये, फिर भी उस नापाक की नजर चूहे की तलाश में रहती है। उस तरह लोभांध आदमी चाहे कैसे भी पवित्र स्थान में या गुरू चरणों में क्यों न हो, फिर भी वह भाग्यशाली अपने स्वार्थ में डूबा रहता है। इसलिये कहा गया है कि :

"सोनारा थालमांहे कुत्ता ने परोस्यो।
वो कोई जाने जमवा नजारामां।
वो जीम को णी जाने; खाय कोणी जाने,
पण भसवा लाग्यो सधलाने॥"

उसी तरह जीभ में कड़वापन हो, बोलने में गर्मी हो, चलने में वक्र नजर हो, स्नेही और हितेच्छु के साथ बोलने बैठने का वक्त नहीं हो, महाउपकारी गुरु के साथ गर्म होकर बोलता हो, यह सारे लक्षण लोभी स्वार्थी आदमी के हैं, इसलिये तीर्थंकर देवों ने कहा है कि लोभ पाप है, जिसके मूल में परिग्रह संज्ञा काम कर रही है।

(१२) राग विवेगेई वा :–राग का त्याग करना धर्म है, जब कि रागात्मक जीवन, रागवती भाषा पाप है, जो आत्मा का यह सबसे बड़ा शत्रु है, इससे उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओं से हमें पता चलेगा कि राग को पाप क्यों कहा है ?

(१) रागः रक्तता (जीवा. ९७३)

शुद्ध और निर्मल आत्मा को अलग अलग लेश्याओं का रंग लगानेवाला राग है, अन्यथा सामायिकस्थ और समाधिस्थ होने की भावनावाला साधक अपनी साधना अवस्था में आंखे यहां-वहां घूमाता क्यों है ? बोलने की चेष्टा, या दूसरों को सुनने की तथा सुनाने की चेष्टा, हाथ-पैर या आंख की चेष्टा तथा बिना कारण हाथ पैर को उपर नीचे करने के भाव क्यों रखता है ? सारांश यह कि ४८ मिनट के लिये अति उच्च अवस्था को अरिहंत तथा गुरु की साक्षी में स्वीकारने के बाद साधक को बोलने में, देखने में, सुनने में तथा अन्य औदयिक प्रवृत्ति करने में राग के सिवा और क्या कारण हो सकता है ? इसलिये अपनी आंख को, कान को, जीभ को, तथा मन को मौनावस्था में नहीं रख सकता। धर्मस्थान के गहरे तत्त्व जानता है, चर्चा करता है, उपदेश देता है, पर खुद अमल में नहीं ला सकता। चर्चा में दूसरों को हरा सकता है पर अपने दोषों को दूर नहीं कर सकता।

(२) रूपादि आकर्षजनितः प्रीतिविशेषः (आव. २७२)

मनपसंद रूप-रस गंध और आक्षेप से जीवात्मा को प्रीति, प्रेम-आसक्ति पुनः चाहना और उसके स्वाद की प्रशंशा आदि की प्रादुर्भूति में राग के सिवा और कुछ नहीं रहता; इसलिये बढ़ती हुई रुपादि की प्रीति, साधक को साधना में से भ्रष्ट करती है।

(३) रागः रागानुभूति रूपत्वात् अस्य अब्रह्मणो विंशतितम नाम (प्रश्न ६६)

यानि कि मैथुन, द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। द्रव्य मैथुन (संभोग मैथुन) करने की अनुकूलता हो न हो पर पांच इन्द्रियों के भोगवटे से उत्पन्न हुआ राग स्वयं भावमैथुन है। प्रश्न व्याकरण में मैथुन के जो पर्याय हैं उनमें वीसवां पर्याय राग है। इसलिए पक्खी सूत्र में "सद्दारूवारसागंधा फासाणं पवियारणे" मतलब पांच इन्द्रियों का भोगातिरेक प्रविचार (मैथुन) है।

(४) पित्रादिषु स्नेहरागः (प्रश्न १३७)

आत्मा के एकांत शत्रु राग के कारण साधक आत्मा को, पिता आदि पर स्नेह की अतिरेकता उत्पन्न होती है, और अवसर आते ही यह स्नेहराग अमुक व्यक्ति के साथ कामराग और अमुक के साथ दृष्टिराग उत्पन्न कराके ज्ञानात्मा को भी ज्ञानमार्ग से नीचे गिरा देता है।

"ज्ञानस्य फलं विरतिं" यह ज्ञान जब तक आत्मा में परिपक्व नहीं होता या परिपक्वता लाने नहीं देता, उसमें मूल कारण राग है, जिससे बोला तो जाता है कि.... "कोई किसीका नहीं रे, कोई किसीका नहीं.." लेकिन काजल की डबी में भरे काजल की तरह अमुक व्यक्ति के साथ स्नेहराग, कामराग और दृष्टिराग भरा रहता है, उसी तरह "तेरी मेरी प्रीत जैसे चांद और चकोर..." किन्तु उस वक्त जेब में रही हुई तिजोरी की चाबी पर हाथ हो तो ? मंदिर के भंडार में पांच पैसे से ज्यादा न पड़ जाय, यह ख्याल हो तो ?

(१३) दोसविवेगेई वा – विवेकपूर्वक द्वेष का त्याग करना धर्म है और द्वेष स्वयं पाप है जो राग का मित्र है। इसलिए आमंत्रण दिये बिना द्वेष की मौजूदगी प्रकारांतर से भी आत्मा में अवश्य होती है। अब हम इस पाप को भिन्न भिन्न तरीकेसे जान लें।

(१) द्वेषोऽप्रीति लक्षणः (आव. ८४८)

यहां अप्रीति का अर्थ 'अनभिलषणीयता' है जिससे नापसंद शब्द-रस गंध और रस के प्रति अनभिलषणीयता यानि जो शब्द सुननेसे, रसास्वाद करने से, गंध और स्पर्श से नाक की चोंच बार-बार चढ़ जाय, जीभ में कड़वाश भी जाय, आंख में घृणा आ जाय। ये सारे खेल तमाशे और नखरे द्वेष से समझना। अन्यथा अपने स्वार्थ तक की कुछ बात सुनकर सुननेवाले की आंख में चमक, प्रसन्नता और रागसंपन्नता प्रत्यक्ष दिखाई देती है और बाद में अपने विरुद्ध की बात अथवा गरज बगैर की बात सुनकर नाक क्यों सिकुड़ने लगता है? सुनानेवाला तो वो ही है, जब कि सुननेवाले के जीवन में द्वेष की मात्रा के सिवा दूसरी क्या कल्पना करनी? अमुक रसवती (भोजन) आरोगते हुए मन की प्रसन्नता खूब रही और नापसंद ऐसे दाल, सब्जी का नाम आया तो भाईसाब का सारा टेस्ट जय सियाराम हो जाता है। इसमें दाल, सब्जी तो जड़ होनेसे द्वेष रहित हैं लेकिन खानेवाला द्वेषपूर्ण है यह तो आप जरूर मान सकते हैं।

इत्यादि कारणों से यह जान लेना है कि 'द्वेष ही पाप है' इसलिए कहा गया है कि "उग्रविहारी तप जप क्रिया, करता द्वेष ते भवमांहे फरीया....."

(२) दोषः मालिन्य कारणम्। (औप. १६)

दोषः मालिन्यकारिणी चेष्टा (जीवा. २७७)

इन दोनों सूत्र का अर्थ एक ही है कि अच्छे निमित्तों में रहने पर

भी और पवित्रतम स्थान पर बैठे हो तब भी निमित्त मिलते हुए मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में जो मलिनता आती है, उसके पीछे द्वेषभाव काम कर रहा है।

सामनेवाली व्यक्ति जब अपनी बात न मानता हो, अपनी सत्ता को आह्वान देता हो, आज्ञाविरुद्ध कार्य करने की आदत हो, तब मानव का मन द्वेष संज्ञावाला होकर लेश्याओं में बिगाड़ लाता है। अपनी गरज की बात सुननी अच्छी लगती और नापसंद विषयों की बात आते ही मन कलुषित हो जाता है, तब आंखे लाल-पीली हो जाती है, इसके पीछे द्वेष छुपा हुआ है।

(३) अनभिव्यक्त क्रोधमान स्वरूपम प्रीतिमात्रं द्वेषः (भग. ८०)

चेतन व अचेतन पदार्थ के प्रति होनेवाले द्वेष के मूल में क्रोध तथा मान छुपे हुए हैं। जिस कारण से अपने समक्ष नापसंद बात आती है तब आंतरजीवन में छुपे हुए क्रोध अपने दांवपेच लड़ाने की शुरूआत करते है और अभिमान का सहारा मिलने पर जीवात्मा की अवस्था काफी बुरी हो जाती है, जिससे सामनेवाले का कांटा निकालने के लिये आर्तध्यानी बनता है और बेकाबू बना हुआ आर्तध्यान, रौद्रध्यान में प्रवेश करके किसी की, और किसी के गुणठाणे की शर्म नहीं रखता। छट्ठा गुणठाणा प्रमत संयमी का है। शुद्ध श्रद्धा और संवेगपूर्वक संयम की आराधना करने पर भी बाह्य पौद्गलिक पदार्थ के निमित्त मिलते हैं तब ओंठ हिले बगैर नहीं रहते। उस वक्त साधक की ज्ञानमात्रा पर पर्दा आ जाता है, और दीक्षा लेने के पहले मातापिता तथा बाहर के पौद्गलिक पदार्थों को छोड़ देने के बाद भी बारीक कपड़ा, पतली मलमल और दूसरे अच्छे पदार्थ, साधक को द्वेष में खींच ले जाते हैं और पवित्र समाधि से चलित कर देते हैं।

इस कारण से छट्ठे गुणस्थानक में कषायों की विद्यमानता का शास्त्र कारों ने निषेध नहीं किया हैं।

(४) अन्यथाऽवस्थिते हि वस्तुन्यन्यथा भाषणं दोषः (प्रज्ञा. २५५)

आत्मप्रदेशों में जब द्वेषपर्याय का परिणमन होता है, तब सामने-वाला बहुश्रुत हो, तपस्वी हो, संयम में स्थिर हो तो भी किसी दोष प्रमाद को आगे करके उनकी निंदा का अवसर जाने नहीं दिया जाता, यह द्वेष नाम के पाप का कारण है।

(५) दूषयति विशुद्धभव्यात्मनं विकृतिं नयतीति दोषः (उत्तरा. ३७३)

पवित्र आत्मा को वैकारिक और वैभाविक भावों में खिंचकर दूषित करनेवाला द्वेष है।

उपर्युक्त कारणों को लेकर अरिहंत देवों का जैन शासन कहता है कि द्वेष पाप है और उसका त्याग धर्म है।

(१४) कलह विवेगेइ वा :- मोक्षाभिलाषिणी पुरुषार्थ शक्ति से 'कलह' का त्याग करना धर्म है, जब कि कलह स्वयं पाप है, हम यहां उनकी खासियतें जान लें। क्योंकि जब तक हम शत्रुओं के पराक्रम जान न ले, तब तक उसके साथ की व्यूह रचना में भूल और मार खानी पड़ती है। इस तरह साधक मात्र जिन पापस्थानकों का आलोचन करता है और उससे मुक्ति चाहता है। लेकिन वह पापस्थानक कितने शक्तिशाली हैं उसका परिचय जब तक न हो, तब तक उससे मुक्ति संभवित नहीं है। इसलिये आचारांग सूत्र में कहा गया है कि सबसे पहले पापों को जानना और उसके बाद जब पाप सेवन का अवसर आये तब उसके सामने मोर्चा लाकर उसका पराजय करना, यानि कि उसका त्याग करना चाहिये। तब साधक को सफलता मिलने में देर नही लगती है। कलह पाप की भयंकरता शास्त्रकारों ने यहां दी गई बातों से बताई है।

(१) कलहः वचनराटिः (भग. १९८)
कलहः राटिः (प्रज्ञा. ४३८, जीवा. १३८)

तीन आगमों से कलह शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है कि – जोरों से बोलना, जल्दी में आकर बोलना ईर्ष्यायुक्त होकर बोलना इत्यादि में कलह नाम का पाप छिपा हुआ है।

अनादिकाल से अनंत जीवों के साथ सामान्य तथा विशेष रूप से, प्रकट तथा अप्रकटरूप से द्वेष के बंधन बंधे होनेसे किसी के साथ बात करने का अवसर आये अथवा कहीं पर उसकी बातों की चर्चा हो तब हम शब्दों से तड़फड़ कर लेते हैं कई आदमी अपने मुंह से कहते फिरते हैं कि "मैं तो तड़फड़ करनेवाला हूं, किसीकी शर्म नहीं रखता" इस स्थिति में जैन शासन हितबुद्धि से कहता है कि

भाई! यह संसार तेरा नहीं, इसका संचालन करने के लिए तू ने जन्म नहीं लिया है, और संसार के जीवों का अधिपतित्व तेरे हाथ में नहीं है, इसलिए तड़फड़ छोड़कर तू समाधिस्थ बन, क्योंकि संसार के जीव अपने कर्मों के आधीन रहकर अपनाअपना नाटय खेल रहे हैं, उसमें तू विष मत मिलाना, आग नहीं लगाना और तड़फड़ नहीं करना। और मान लो कि तेरे अज्ञान और मोह दोष से व्याप्त होकर तू तड़फड़ करेगा पर उसमें संसार का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं। आज तक बहुतों ने तड़फड़ की, लेकिन आखिर तो उनके नामोनिशान खाख में मिल गये, इसलिये तू ऐसा नहीं होना।"

(२) वाचिको विग्रहः (उत्तरा. ३४७)

जीवों के साथ शब्द का झगड़ा करानेवाला कलह पाप है। कर्मवश बनकर किसी के भी साथ कर्कश शब्द बोलकर मुफ्त का शाब्दिक युद्ध खेलने की आदत इस जीवात्मा को है। देवदुर्लभ मानव का अवतार पाकर

आत्मा में रही हुई इन बुरी आदतों को सुधारने के लिए, उसे प्रयत्न करना था, लेकिन अहंकार संज्ञा के पाप से क्रोध आये बिना नहीं रहता और आखिर में शाब्दिक कलह के व्यूह में फंसकर आदमी आर्तध्यान का मालिक बनता है तथा अंत में अपना अधःपतन अपने ही हाथों ले आता है।

इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी की वाणी का उत्तराध्यन सूत्र में संग्रह किया गया हैं। यह सूत्र कहता हैं कि 'शब्द कलह, वाक्युद्ध, दंतक्लेश महापाप हैं, इसलिये उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना क्योंकि "वचनविग्रहो लक्ष्मीनाशकः" शब्दों के झगड़े, दांतों के क्लेश लक्ष्मीनाशक हैं, जिससे चक्रवर्तीओं के घड़े का पानी भी सूख जाता हैं तो फिर कम पुण्यशाली हमारे तुम्हारे का क्या कहना?

(३) इह प्रेम हासादि प्रभव युद्ध कलहः (भग. ५७३)

प्रेम. हास्य मश्करी कुतूहल, आदि से उत्पन्न हुआ कलह भी जीवन में युद्ध का कारण बनता है। आदमी का जीवन स्वार्थांध होने से अपने प्रेमपात्र व्यक्ति से जब कोई स्वार्थलाभ नहीं होता तब प्रेम में से कलह उत्पन्न होती है, जो अपने व्यक्तित्व में जहर घोल देती है। हास्य मस्करी से उत्पन्न होनेवाली कलह अपनी नजर के समक्ष हो रही हैं। वृद्धों का भी कथन हैं कि "रोग का मूल खांसी और क्लेश का मूल हांसी"

(४) महता शब्देनान्योन्यमसमञ्जस भाषणं कलह : (भग : ५७२)

अपने व्यक्तिगत द्वेष स्वार्थ या अभिनिवेश (कदाग्रह) के वश होकर समाज में, समूह में, मंडल में, संघ की मीटींग में या अन्य किसी संस्थान की बैठक में आपसी बैर निकालने के लिए जोरों से बोलना, दंगल मचाना, समाज तथा शासन में अच्छे और पवित्र कार्य के ठराव पसार नहीं होने देना, असमंजस या असभ्यभाषी व्यवहार करना और

सारी मीटींग बिगाड़ देना। यह सब कलह करने के अपनी भवभवांतर की पापवासना मूलमें काम कर रही है, जो पाप है, महापाप है।

द्रव्यपाप से भावपाप महाभयंकर हैं क्योंकि उनके सारे समाज में फैल जाने से हजारों निर्दोष मानवों की जीभ और कान पाप से गंदे हो जाते, इसलिए कहा है कि 'पाप करनेवाले से, पाप को प्रकाशित करनेवाले और उनमें सहायभूत होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तेरह पापों के मालिक ज्यादा पापी बनते हैं। क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन या परिग्रह के पापसेवकों को अपने पाप का ख्याल आते ही उसके प्रतिकार (आलोचना) के लिए गुरु समक्ष तप आदि का दंड लेकर छुटकारा पा सकते हैं। परंतु क्रोधी को क्रोध का, अहंकारी को अपने मद का मायावी को, माया का लोभांध को लोभ का ख्याल आना बहुत मुश्किल है। परस्त्री के रागी को 'मैं यह सब बूरा काम कर रहा हूं' ऐसा ख्याल आया हो तथा द्वेषी आदमी को अपने हृदय में भड़कते हुए द्वेष का ख्याल आता हो उसका अनुमान लगाना मुश्किल है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं- भाव पापों का प्रतिकार लगभग अशक्य है, क्योंकि अमुक समय के लिए वह पाप चाहे सोये हुए सर्प की तरह शांत हो पर निमित्त मिलते ही फुंफकारने लगते हैं।

(१५) अब्भक्खाण विवेगेई वा :- अभ्याख्यान का त्याग करना धर्म है और अभ्याख्यान का सेवन करना, स्वयं पाप है, इसका अर्थ शास्त्र में इस तरह है।

(१) अभ्याख्यानमसदभि योगः (आचा. ४४)

(२) असदोषारोपणम् (ठाणा. २६)

व्यक्ति विशेष में जो वस्तु असद् हो उसे द्वेष तथा स्वार्थ में आकर उसका आरोपण उस व्यक्ति में करना, वह अभ्याख्यान है। व्यावहारिक भाषा में जिसे कलंक के नाम से जाना जाता है।

गुणसंपन्न मानव में अविद्यमान दोषों का आरोपण अभ्याख्यान पाप के कारण होता है ।

(१६) पिशुन विवेगेई वा – पिशुन कर्म यानि पैशुन्य का त्याग करना धर्म है। अपनी जात को पंडित, महापंडित, तपस्वी, त्यागी माननेवालों को ख्याल भी न आये ऐसा यह पाप है। जिसके कारण साधक जीवन में कई खराबी पैदा होती है। जिसका शास्त्रीय पद्धति से हम यहां विचार करें ।

(१) पिशुनं परदोषा विष्करणरुपम् (प्रश्न ३६)

कई जीवों की खास आदत होती है, जो जब जी चाहे दूसरों के लिए बुरा बोलते हैं। उस तरह अपने जीवन में अच्छे तत्व न होने पर भी दूसरों के समक्ष अपनी महत्ता जताते हैं और अन्य को नीचता देते हैं ।

(२) पिशुन दृष्टि मांसखादकः

किसी व्यक्ति की गैरमौजूदगी में उसकी बातों की तथा दुर्गुणों की चर्चा करना, कनिष्ठ पाप है । तथा अक्षम्य अपराध है। इससे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन कलुषित हो जाता हैं। बाघ-बरु आदमी का शिकार करते हैं, मांस खाते हैं, वह निंदनीय नहीं है; पर किसी की पीठ के पीछे बूरा बोलना, यह हिंसक जानवर से भी खतरनाक कर्म हैं। क्योंकि हिंसक जानवर से मानव समाज को जितनी हानि हुई होगी उससे पिशुन कर्म के दलालों से चुगलीखोरों से देश को, धार्मिक संप्रदाय को बहुत हानि हुई हैं। इसलिए महावीरस्वामी ने कहा है कि हे साधक ! तेरे धर्मकार्य यदि सुरक्षित रखने हैं तो पैशुन्य कर्म को सर्वथा छोड़ दे यदि तुझे बोलना न आये तो मौन धारना अथवा चद्दर ओढ़कर सो जाना, इसमें तेरा कल्याण है । पुण्योदय से मिली हुई जीभ को

पराये की चुगली में, निंदा में या अवहेलना में उपयुक्त करने से तो मौनधर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं।

(३) पिशुनः छेदभेद कर्ता (दशः २५४)

मानव समाज को एकीकरण में नहीं रहने देना इसमें पिशुन कर्म का बड़ा हिस्सा है, क्योंकि किसी के बीच विग्रह कराना, किसीकी पार्टी, मीटींग, मंडली और संघसत्ता को तोड़ने फोड़ने में तथा द्रष्टि बैर में कहीं प्रच्छन्न रुप से तो कहीं प्रकटरूप से पैशुन्य कर्म की बोलबाला है।

(४) पिशुनः खलाः (प्रश्न ४१)

पराये का खून पीनेवाले 'मच्छर' की चालाकी आप जानते हैं? वह सीधा आकर आदमी को काटता नहीं हैं पर पहले कान के पास मधुर गूंजन करता है और फिर काटके खून पीता है। उसी तरह पिशुन (चुगलीखोर) को भी खल कहते हैं। जो मिष्टभाषी, खुशामत करनेवाला, इधर की उधर करनेवाला होता है। जिसकी सुननेवाले भद्रिक को कुछ खबर नहीं हो पाती। इसलिए भारतवर्ष में आज कहीं भी एकीकरण नहीं है, समानाधिकरण नहीं है।

सत्युग में सिर्फ एक ही 'नारद' ने जन्म लिया था, लेकिन कलयुग में सब श्रीमंतों के, ट्रस्टीओं के, ज्ञातिओं के, नेताओं के, राजनैतिकों के, महिला मंडल के, छोटी बड़ी संस्था के तथा धर्मदेवों के नारद भिन्न-भिन्न होते हैं, जिससे किसीका किसीके साथ मेल नहीं है, सहकार, विश्वास और प्रेम नहीं है। इस कारण से संत शिरोमणि तुलसीदासजी ने भी कहा है कि...

'सतजुग में सातो वार थे, कलजुग में रहे जार।
तुलसी ये तीनों न रहे, रवि-मंगल बुधवार॥'

रविवार को इतवार भी कहते हैं और व तथा ब में फर्क न होने से

इतबार भी कहते हैं और इतबार का अर्थ विश्वास भी होता है जैसे कि... 'आप को मुझ पर इतबार नहीं रहा...' आज के स्वार्थी जगत में इतबार (विश्वास) शब्द सिर्फ शब्दकोश में रह गाया है। अतः किसी पर विश्वास नहीं है इसलिए मंगल भावना औपचारिक बन गई है। और सद्बुद्धि (बुधवार) न होनेसे मंगल भी कैसे रहे ? इन सारे प्रसंगों में पिशुन, खल तथा नारद भगवंतों की मेहरबानी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दिखाई देती है। आपको नहीं दिखाई देती ? कैसे दिखाई देती ? क्योंकि पापकर्मों की सूक्ष्मता जानने के लिए आपने कभी प्रयत्न नहीं किया है, परिणाम रूप पाप संख्या की गाथा की, पर उसे विचारने नहीं पाये।

(५) पिशुनः सूचकः (उत्तरा. ५४९)

सूचक यानि चुगलीखोर (कर्णेजप)। दूसरों के कान भरने में वे सदा सावधान रहते हैं, रोटी दो घंटे बाद खाने में कुछ हर्ज नहीं पर परायी पंचायत बगैर उन्हें चैन नहीं पड़ता यद्यपि उनके हाथ में कुछ भी आता नहीं है, किन्तु किसी की बात वे पेट में नहीं रख सकते ! नहीं पचा सकते।

(१७) परपरिवाय विवेगेई वा – परपरिवाद का त्याग धर्म है - धार्मिकता है जब कि परपरिवाद स्वयं पाप है। पाप, स्वार्थ, मोह, क्रोध ईर्ष्या या लोभ आदि के वश होकर पराये के लिए ऐर-गैर बोलना परपरिवाद है। व्यंग, मस्करी कुतूहलवश भी ये सारे पाप जीवन में आते हैं, बढ़ते हैं और एक दिन साधकों का भी अधःपतन कर सकते हैं।

यह पाप कितना भयंकर है उसे शास्त्र की साक्षी से जान लें।

(१) विप्रकीर्ण परेषां गुणदोष वचनम्। (भग. ८०)

राजीमति की एक सहेली ने दूसरी सखी से कहा 'क्या तुझे खबर हुई ? तो सुन ले ! वररा‌जा नेमिनाथ में यद्यपि सारे गुण है, लेकिन वररा‌जा कालियारा‌म है।' बस ! इसका नाम ही परपरिवाद है। जिसके कारण प्रारंभ में सुनेवाले की अच्छी बाते की और अंत में 'लेकिन

या परंतु' शब्द लगाकर गुल को गोबर करने की आदत परपरिवादको में रही होनेसे उन बेचारों को यह खबर नहीं है कि कुटुंब में, समाज में तथा संघ में बुराई हो रही है।

(२) परपरिवादः प्रभूतजन समक्षं परदोष विकत्थनम् (प्रज्ञा. ४३८)

पानी की बालटी में तेल की एक बूंद भी समग्र पानी को तैली बना देती है, उस तरह यह प्रस्तुत परपरिवाद नाम का दोष व्यक्ति मात्र को विक्षुब्ध करने के लिए समर्थ होता है। आखिर, अपनी मां के लिए भी दो बुरे शब्द बोलने के लिए के झिझकते नहीं। रामलाल ने छगनलाल से कहा, अबे ओ ! तेरी मां बहुत धार्मिक है, सामायिक, सामायिक और सामायिक करती है। तब छगनभाई कहते हैं जी हां तेरी बात सच है। मेरी मां जैसी मां किसे भी नहीं मिलेगी। इस तरह दूसरों के समक्ष मां के सारे गुण गाने के बाद कहेंगे कि मेरी मां में सब अच्छा है पर घर में कंकास करने की आदत नहीं मिटती। इस तरह परपरिवाद के दोष से दूधपाक में खटाश मिला देगा, इससे यह पाप है।

(१८) रइ-अरइ विवेगेई वा – रति-अरति के त्याग को धर्म कहा है, है, जब कि रति और अरति स्वयं पाप है। क्योंकि उनके मालिक की लेश्याओं को स्थिर रखने में यह दोष मुख्य है। इसलिए कहा गया है कि. रतिः विषयेषु मोहनीयोदयात् चित्ताभिरति : (भग. ८०)

मंच पर भिन्न भिन्न रूप, भेष और भाषा आदि को धारण करनेवाले नट की तरह मोहनीय कर्म के उदय में मानव का मन एक भी पदार्थ पर स्थिर नहीं रहता। इसलिए पांच मिनट पूर्व भानेवाला पदार्थ दूसरी क्षण में नहीं भाता। आज किसी के साथ आनन्दपूर्वक रहे, हंसे, बोले और उनके साथ खाया, पीया और दूसरे दिन उन्हीं के साथ लड़े-झगड़े। आज खाने में उड़द की दाल भायी और दूसरे दिन उस दाल के लिए

वाग्युद्ध करके घर में क्लेश उत्पन्न किया। इत्यादि प्रसंगों में कठपुतली की तरह हमारी बुद्धि को नचानेवाले मोहकर्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इन कर्मों से उत्पन्न हुई रति अरति नाम की जोगमाया के पाप से साधक की लेश्या कैसे स्थिर रहने पायेगी ? और उसके बगैर साधक के क्या हाल होंगे ? यह सब महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म. के ज्ञानसार की स्थैर्याष्टक का मनन करने के बाद कुछ ज्ञान संज्ञा की प्राप्ति सुलभ बनती है।

(१९) मायामोस विवेगेई वा – माया, मृषावाद, अठारह पापस्थानकों में सत्रहवां पाप है, जिनमें माया पाप और मृषावाद पाप इन दो पापों का मिश्रण होनेसे धुरंधर साधकों को भी माया मृषावाद का त्याग अत्यंत कष्टसाध्य होता है, क्योंकि —

(१) माया, मृषा वेषांतर करणतो लोक वि प्रतारणम् ज्ञाता. ७५)

(२) वेषान्तर भाषान्तर करणेन यत्परवञ्चनं तत् माया मृषा (भग.८०)

दूसरों को ठगने के लिए भेषपल्टा, भाषा पल्टी या पक्ष पल्टा कराने में हुशियार बनानेवाला यह पाप है। पूर्वभव के बैर के कारण नागराज, अवसर आने पर अपने शिकार को डंख मारे बिना नहीं रहता, उसी तरह माया मृषावाद के खिलाड़ी भी अपने शिकार को किस तरह स्वाधीन करना उसके दांवपेच लड़ाते रहते हैं। रावणराजा का पाप से भरा हुआ मन जब सीताजी को वश करने के चक्कर में था तब भाषा तथा भेष में परिवर्तन लाकर दंडकारण्य में साधु महाराज का भेष बनाकर सीताजी के पास आते हैं, वह इस तरह–

डिम् डिम् डिम् डिम् डिडिम् डिम्
डिमिति डमरू वादयन् सूक्ष्मनादं !
वम् वम् वम् वम् ववम् वम्
प्रबल बलबल तालमालम्ब्य तुल्यम् !

कर्पूरा क्लृप्त भस्मांचित सकलतनूरुद्रमुद्रासमुद्रो ।
मायायोगी दशास्यो रघुरमणपुरप्राङ्गणे प्रादुरासीत् ॥

और मायामृषावाद का परम भक्त बना हुआ रावण सीताजी को उठा ले गया। परिणाम रुप संसार में रामायण की रचना हुई और हजारों लाखों तथा करोड़ों मानव मर गये। विधवा बनी हुई स्त्री तथा पुत्ररहित माताओं के गर्म अश्रुबिंदु भारतभूमि के नसीब में रह गये।

(३) माया मृषावाद (औप. ७९)

माया-कपट-छल-धूर्तता-परवंचना-दांभिकता और शरारतपूर्वक झूठ बोलना, इसे माया मृषावाद कहते हैं। ये भाग्यशाली नरक में जाते है, किंतु उनकी जिह्वा पर मोक्ष की बातें होती हैं। इसलिए तो कहा गया है कि "मुझे कहना है कुछ, और करना कुछ है।
और यूँ कहते ही भवजल पार करना हैं।"

(२) मिच्छादंसण विवेगेई वा :- मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टी का त्याग करना धर्म है, क्योंकि भयंकर अंधेरे में आदमी टकराता है. उसी तरह आत्मा भी मिथ्यात्व के गहन अंधकार में टकराता रहता है। अन्य सब बातें आप द्वितीय भाग से जान सकते हैं।

धर्मास्तिकाय के पर्यायों के वर्णण में आये हुए अठारह पापस्थानकों को देखकर अब हम आगे बढ़े।

(२१) इरियासमिईइवा :- इर्यासमिति धर्म है। सम्यक प्रकार से यानी किसी भी जीव की विराधना किये बिना गमन-आगमन करना, इर्यासमिती है। प्रथम प्राणातिपात में कहा गया है कि बहुत जीवों की हत्या तथा उनके प्राणों की हत्या करानेवाला होनेसे प्रत्येक जीव हत्या के पाप से बचने की भावना रखता है, किन्तु गत भवों के किये हुए पापों के कारण और अन्यान्य जीवों के साथ किये हुए, कराये हुए और अनुमोदे हुए

बैर विरोध के कारण जो संस्कार पड़े हुए हैं उसके कारण चलने में, खाने में, पीने में, उठने-बैठने में ख्याल नहीं रहता। और जीवहत्या करने की भावना नहीं होने पर भी जीवहत्या होने की शक्यता का नकार नहीं किया जाता। इसके लिए अरिहंत देवों के शासन ने जीवमात्र को पाप से बचाने के लिए इर्यासमिती की योजना की है।

'इर्या' यानि गमन। जो हरएक जीव को करना पड़ता है, और 'समिती' मतलब चलना पड़े, बैठना पड़े, सोना और खाना-पिना पड़े यह सब आवश्यक क्रियाएँ उपयोगपूर्वक करे। मेरे चलने से किसी भी जीव की हत्या न हो उस तरह आंखों का उपयोग करके सावधानी से पैर रखे; तो जीवविराधना से बच सके हैं। इसलिए इर्यासमिति धर्म है।

धर्म की आवश्यकता मुनि तथा गृहस्थ को एकसमान रही है, और जिसमें एक भी पैसे की आवश्यकता नहीं होती, पसीना नहीं बहाया जाता ऐसा इर्यासमिती यानि उपयोगपूर्वक चलना आदि धर्म का आचरण क्यों न करना ? जिसमें चर्चा की कुछ आवश्यकता नहीं। वितंडावाद तथा तर्कवाद की भी जरुरत नहीं; क्योंकि सबसे निराला और पवित्रतम यह धर्म है। साधु मुनिराज तो दिवस या रात में इर्यासमितीपूर्वक ही चलते हैं और विवेकसंपन्न, अहिंसाप्रेमी गृहस्थ भी उपयोगपूर्वक चलने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि गृहस्थ को गृहस्थाश्रम चलाने के लिए आरंभ और परिग्रह करना पड़ेगा फिर भी निरर्थक जीवहत्या होने न पाये अथवा उपयोगपूर्वक चलने से यदि अमुक जीव बच सकते है तो गृहस्थ को भी इर्यासमितीपूर्वक चलने में हानी नहीं पर लाभ ही है।

(२२) भाषासमई इवा :- ऋणानुबंध के कारण बोलना पड़ता है, इसलिए भाषा का उपयोग निर्दोषता से करने के लिए भाषासमिती धर्म है। इस धर्म की आराधना से झूठ तथा ज्यादा बोलने की हास्य - मश्करी करने

की और क्रोध कषाय करने की आदत पर मर्यादा आयेगी। इससे साधु तथा गृहस्थ दोनों के लिए भाषा समिती उपादेय धर्म है।

(२३) एसणा समिई इवा – भोजनपान में शक्य इतनी निर्दोषता के लिए ऐषणा समिति है। जो धर्म है, और धार्मिकता उत्पन्न करने के लिए उपादेय शिक्षण है।

(२४) आयाण भंडमत निक्खेवण समिई इवा – से वस्त्र, पात्र, बर्तन या किसी पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर सम्यक् प्रकार से रखा जाय यानि सूक्ष्म जीव का हनन, मारण, आक्रमण तथा ताड़न होने न पाय इसलिए यह धर्म है।

(२५) उच्चार पासवणखेल्ल सिंधाण परिट्ठावणा समिई इवा – यानि शरीर में से निकलते हुए मल, मूत्र, कफ, गंदा पानी, खून, परू, नाक का मैल आदि पदार्थों को फेकने से एक भी जीवजंतु मरने न पाय।

उपर्युक्त पांच समितिओं की आराधना करना धर्म है, धर्म को उत्पन्न करानेवाली है, इसलिए हर किसी को ग्राह्य है।

(२६) मणगुती इवा मन को बंदर की उपमा होनेसे यदि आपका मन अनिगृहीत होगा तो देखते ही देखते आप को सातवीं नरक तक ले जायेगा। इसलिए उस पर काबू रखना श्रेयस्कर है। यद्यपि संसारभर के सब कार्यों से मन को संयमित रखने का कार्य ज्यादा कठिन है। फिर भी उसके लिये अभ्यास किया जाय तो आत्मा की जीत होगी और मनजीभाई को अपने सारे शस्त्र नीचे रख देने पड़ेंगे।

मन को गमन करने के लिए दो मार्ग है। एक है पाप का मार्ग और दूसरा पुण्य का। इन दोनों मार्ग में से आपको निर्णय करना होगा कि

मुझे मेरे मन को कौन से रास्ते पर ले जाना। जीवन के प्रारंभ में यदि निर्णय करने में भूल हो गई, तो मन के तूफान के आगे आप कहीं के नहीं रहेंगे। इसलिए छोटी-सी इस मानव जिन्दगी में निरर्थक पापों से बचने के लिये सदाचार मार्ग, सन्मार्ग तथा पुण्य के मार्ग पर प्रयाण करना कल्याणकारी है। अन्यथा मनजी भाई के लिए पापमार्ग है।

(२७) वयगुती इवा :—पांच इन्द्रियों में जीभ की इन्द्रिय खतरनाक होने से उस पर सख्त काबू रखना वचनगुप्ति धर्म है।

(२८) कायगुती इवा :–शरीर, जो सब पापों का मूल स्थान है, आधेय है उसे सर्वथा गुप्त रखना यह कायगुप्ति धर्म है। इस तरह पांच समिति और तीन गुप्ति मिलकर आठ को प्रवचन माता की आराधना और पालन किये बिना चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं है।

'धारणाद्धर्म उच्यते' इस व्युत्पत्ति को चरितार्थ करनेवाला धर्म अष्ट प्रवचनमाता की आराधना के सिवा और कोई नहीं है।

अधर्मास्तिकाय के पर्यायवाचक शब्द कितने हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि, 'अनेक शब्द हैं।' वह इस तरह : अधर्म–अधर्मास्तिकाय, प्राणातिपातादि यावत् मिथ्यात्वशल्य, अष्ट प्रवचन माता का अभाव आदि अधर्मास्तिकाय के वाचक हैं। उपर्युक्त सूत्र में प्राणातिपातादि के विरमण को धर्म बताया गया है, और इस सूत्र में अठारह पापों का त्याग न करना अधर्म है। अष्टप्रवचन माता का पालन धर्म है जबकि उसका विराधन पाप है। इस तरह क्रोधादि भी पाप है, जिस पापों का सेवन जीवमात्र को दुर्गति की ओर ले जानेवाला है तब उसका त्याग ही मनुष्य जात का उद्धार करता है। इसलिये सभी धर्मों की (धर्मसंबंधी) व्याख्यायें एक रही हुई है, वह जो दुर्गती से बचाये वो धर्म है।

किन्तु उसकी सार्थकता तभी होगी जब मानव मात्र पापों को त्याग करने की शिक्षा अपने जीवन में शुरू कर दे। ज्यों ज्यों पापों द्वार बंद होते जायेंगे त्यों त्यों उसकी आत्मा अहिंसक, सत्यवादी, सदाचारी और भौतिकवाद का त्यागी बन पायेगा। जो सद्गतिदायक और आखिर मोक्ष-मार्ग की ओर ले जायेगा।

आकाशास्तिकाय के पर्याय कितने ?

भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! अनेक पर्यायों का धारक आकाशास्ति-असंख्येय प्रदेशात्मक, सभी द्रव्यों का धारक है। अब उनके पर्यायों की व्युत्पति यथा निर्युक्तिपूर्वक की व्याख्या हम जान लें।

(१) आकाशः– जहां प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वभाव को प्राप्त करता है।

(२) गगनः– सूक्ष्म द्रव्यों के गमन के विषयभूत होनेसे गगन है।

(३) नभः– जिसे छद्मस्थ कभी भी दृष्टिगोचर नहीं करता।

(४) समः– नीच और उचपन रहित है।

(५) विषमः– छद्मस्थों के लिए दुगम होता है।

(६) खहः– प्रलयकाल में भी विद्यामान होता है

(७) विहः– जीवों के सब कार्य करने का स्थान है।

(८) वीचिः– भिन्न भिन्न स्वभाव के द्रव्य धारण करता है।

(९) विवरः– ढक्कन करनेवाला कोई नहीं होनेसे मतलब आकाश को आच्छादित करनेवाला कोई नहीं है।

(१०) अंबरः– माता जिस तरह अपने पुत्र को जल देती है, उस तरह आकाश भी जल धारण करता है।

(११) अंबरसः– इससे जलरूपी रस उत्पन्न होता है।

(१२) छिद्रः- फोफला है, क्योंकि स्वयं पोकल होनेसे सबको अवकाश मिलता है । लोहे के गोले में रहा हुआ आकाश पोकल होने से उसके हरएक अणु में अग्नि का प्रवेश सुलभ है ।

(१३) झुसिरः- चूसने की क्रिया में सहायक है ।

(१४) मार्गः- दूसरी गति में जानेवाले जीव को मार्ग देनेवाला है यानि कि दूसरे भव में जानेवाले जीव का गमन आकाश प्रदेश की पंक्ति से होता हैं। साराश यह है कि किसी जीव को समश्रेणि और किसी को विश्रेणी होती है ।

(१५) विमुख :—आदि रहित होने से विमुख है ।

(१६) अट्ट :—जीव की गमनागमन चेष्टा आकाश में होती है ।

(१७) व्योम :- आधेयभूत पदार्थो की विशेष प्रकार से रक्षा करता है, यानि कि द्रव्यमात्र उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव का है, इसलिये उसकी रक्षा आकाश करता है ।

(१८) भाजन :- आधारभूत है ।

(१९) अंतरिक्ष :—व्यापक होने से उसके मध्य में सबके दर्शन हो हैं । क्योंकि सारे द्रव्य आकाश के मध्य में हैं ।

(२०) श्याम :-अमूर्त होने से वर्णादिरहित है, तथापि देखनेव श्याम दिखता है ।

(२१) अवकाश :—अवकाशांतर दूसरा नाम है ।

(२२) अगम :- सर्वत्र व्यापक होने से खुद गमनरहित है ।

(२३) स्फटिक : स्वयं स्वच्छ है ।

(२४) अनंत :-समाप्ति रहित है ।

जीवास्तिकाय के पर्याय कितने ?

भगवंत ने कहा कि इसके अनेक पर्याय हैं, असंख्येय प्रदेशात्मक होने से जीव को जीवास्तिकाय कहते हैं।

"नाण च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो अ एअं जीवस्स लकखण॥"

जिनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग हो, वह जीव है। जीव लक्ष्य है और ज्ञानादि लक्षण हैं। क्योंकि जीव को छोड़कर ज्ञानादि को रहने का स्थान और कोई नहीं।

अब विशेष ज्ञान करवाने के इरादे से सूत्रकार ने खुद जीव के पर्यायों का कथन किया है।

(१) जीव – जो जीता है वह जीव है। पांच इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोश्वास और आयुष्य इन दस प्राणों से जिंदा रहे, श्वासोश्वास की क्रिया करे, शरीर की वृद्धि हानि होती रहे वह चैतन्यवंत जीव कहलाता है। मतलब उस भव के अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों को भुगतने के लिए दस प्राणों से चेतनामय बना रहे, वह जीव है। आत्मा जिंदा है, क्योंकि उसकी पांच इन्द्रियें, तीन बल, श्वासोश्वास और आयुष्यकर्म अपनेअपने कार्य कर रहे हैं इसलिए आत्मा जीव कहलाता है और जब तक उसमें थोड़ी-बहुत चेतना है द्रव्य और भाव प्राण हैं तब तक वह चेतन है अन्यथा अर्थात् पृथ्वी से लेकर देव तक के शरीर में से चेतना शक्ति की समाप्ति होनेसे वह मुर्दा कहलाता है, जो जड़ है।

(२) प्राण– श्वासोश्वास रूप प्राणों को धारण किया होनेसे वह प्राण भी कहलाता है।

(३) भूत-अपने मौलिक स्वभाव को कभी भी छोड़ता नहीं होनेसे

तीनों काल में जिसकी विद्यमानता होती है। इसलिए भूत कहा जाता है। सारांश यह कि हाट, हवेली, वस्त्री, घड़ी, छडी आदि पदार्थों की तरह जीव किसी भी पदार्थ से उत्पन्न होनेवाला नहीं; जिससे अनादि है और किसी से भी नष्ट नहीं होता इसलिये अनंत है।

(४) सत्त्व -जीव के अस्तित्व को कभी भी किसी से अड़चन नहीं हुई, होगी नहीं और हुई भी नहीं है, इसलिये सत्त्व कहलाता है।

(५) विज्ञ--चेतना शक्तिरहित जीव नहीं होता।

(६) चेत:--ज्ञानावरणीयादि कर्मों का चय करनेवाला होने से चेत: कहलाता है।

(७) आत्मा--ज्ञान से ज्ञेय पदार्थों को व्याप्त करनेवाला है।

(८) जेता--पुद्गलों को जीतनेवाला होने से जेता है।

(९) रंगण--राग से संबंधी होने से रंगण है।

(१०) हिंडुक--चारों गतिओं में फिरनेवाला होने से हिंडुक कहलाता है।

(११) पुद्गल--पुद्गलों का सहवासी होता है इसलिये जीव को भी पुद्गल कहा जाता है।

(१२) मानव--अनादि होने से नवीनतारहित है।

(१३) कर्ता--आगे के लिए कर्मों का कारक होता है।

(१५) जगत--८४ लाख जीवयोनि में उसकी उत्पत्ति होने से जगत कहलाता है।

(१६) स्वयंभू--अपने आप ही उत्पातादि क्रिया करता है।

(१७) अन्तरात्मा--सम्यग्दर्शनवाला होने से शरीर को आत्मा से अलग करनेवाला है।

इस तरह जीव के अनेक पर्याय जानना।

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! नीचे दिये हुए अनेक पर्यायों से पुद्गलास्तिकाय हैं। जैसे कि परमाणु पुद्गल, द्विप्रदेशिक, चतुःप्रदेशिक, यावत् संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रादेशिक तक के पर्याय जानना।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक २ पूर्ण ॥

शतक- २० वाँ : उद्देशक- ३

आत्मिक सुख यानि क्या ?

मेघ की आवाज सुनकर मयूर का, पानी से भरे हुए तालाब को देखकर तृषातुर मानव का, माता की आवाज सुनकर बालक का हृदय आनंदविभोर हो जाता है, उसी तरह अनंत संसार में अनंतबार कर्म की मार खाने के बाद, विरह वेदना भुगतने के बाद, रोग-शोक-संताप-आधि व्यधि में झूरने के बाद, किसी वक्त जीवात्मा को यह विचार जरूर आता है कि सब का अच्छा करने पर भी मुझे क्यों मार खानी पड़ती है ? पुत्र परिवार के लिए सब कुछ किया है, फिर भी संसार में कोई किसी का क्यों नहीं होता ? तो क्या अब तक मैं मानता था वह सच है कि, फिर सत्य तत्त्व कुछ और ही है ! मेरा माना हुआ यदि सच हो तो आधि व्याधि और वियोगादि दुःख मुझे क्यों भुगतने पड़े ?

इसलिए मेरा माना हुआ सच नहीं है, पर संसार में सुखी होने के लिए सत्यत्त्व कुछ और ही है। ऐसा विचार आते ही भूखा आदमी जिस तरह भोजन को, प्यासा पानी को और सर्दी से कंपता आदमी वस्त्र ढूंढ़ता है, उसी तरह वह भाग्यशाली भी सत्यतत्त्व को खोजने के लिए कटीबद्ध होगा। उसके बाद पंचमहाव्रतधारी, संसार के जीवमात्र के परममित्र, दया के सागर, अपराधिओं के अपराध को माफ करनेवाले मुनिराजों के चरण में आकर सत्यतत्त्व पाने के लिए नम्रातिनम्र बनकर उनके चरणों की सेवा करेगा।

मतिज्ञान और मतिअज्ञान में ज्ञानतत्व रहा होने पर भी एक में सत्यज्ञान है और दूसरे में मिथ्याज्ञान है। आदमी के जीवन में जब तक मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान रहा होता है तब तक उसकी आत्मा शक्तिसंपन्न नहीं बन सकती। क्योंकि आत्मा के लिए सम्यग्ज्ञान ही जबरदस्त शक्ति है। जिसके कारण अनादिकाल के कर्मों के कुसंस्कार का त्याग करता है और अच्छे संस्कारों में प्रवेश करना है, जो अनादिकाल में कभी नहीं हुआ है। मिथ्याज्ञान में आत्मा की शक्ति दुर्मार्ग पर गई होने से पाप, पाप के मार्ग जानने पर भी उसका त्याग नहीं हो सकता कसाईखाने में हजारों लाखों मूक प्राणीओं पर कसाई कर्म करनेवाले कसाई का आंतरमन किसी वक्त जरूर कबूल करता है कि मैं यह पापकर्म कर रहा हूं, शराबपान करनेवाला भी 'मैं शराब पीता हूं' यह कहने से शर्माता है गणिका भी समझती है कि हमारे पापोदय के कारण दुराचारमय जीवन मिला तथा मातापिता व शिक्षक भी वैसे मिले, जिसके पाप व निंदनीय कर्म करने पड़ते हैं। इत्यादिक प्रसंगों में मिथ्याज्ञान का जोर ज्यादा होने के कारण समझदारी होने पर भी पाप त्यागने के लिए वे समर्थ नहीं बनते।

सारांश यह कि ऐसे आदमी पूर्व के पापकर्मों का बोझ लेकर मनुष्यावतार में आते हैं और फिर से दुर्बुद्धिवश होकर पाप करते हैं, परिणाम

रुप भयंकर पापकर्म करके नरकावतार पाने की योग्यता धारण करने की फर्ज पड़ती हैं।

जबकि भाग्यशाली आत्मा प्रारंभ में थोड़ा कष्ट भुगतकर भी सत्यज्ञान का प्रकाश पाते ही पापों को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे समझते हैं कि जन्म और मरण प्राकृतिक धर्म होने से सर्वथा अनिवार्य हैं। यानि जन्मे हुए को मृत्यु सर्वथा अनिवार्य हैं, यह समझकर अपने आत्मा को दृढ़ करके सारे पाप, पाप के संस्कार, तथा उन संस्कारों की माया को लात मारके सदा के लिए पवित्र मार्ग पर आ जाते हैं।

जीवन में जब सम्यगज्ञान नहीं होता है, तब आत्मा की शक्ति इतनी दबी होती है कि जिसके कारण पापों की सजा भुगतते हैं, सर्वत्र अपमानित होते हैं, पुलिसों के डंडे खाते हैं, भरे बाजार में काला मुँह करवाते हैं फिर भी वे पापकर्मों को जान नहीं पाते, तो उन्हे छोड़ देने की बात क्या करनी? इस तरह उपर्युक्त दोनों तत्वांशों में सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञान में कितनी ताकत रही है यह साफ साफ दिखाई देता है।

कई बार ऐसा भी होता है कि 'संसार की माया मिली न हो, उसे भुगतने में अंतराय आये हुए हो अथवा भोक्ता के पास उन्हे भुगतने की शक्ति न हो तो संभव है कि, भाडुती वैराग्यवंत बनकर बाहर के मन से माया को छोड़ भी देता है, किन्तु आंतरजीवन में सम्यग्ज्ञान की पकड़ जोरदार न होने के कारण बाह्य दृष्टि से छोड़े हुए पापों को त्यागने के लिए आभ्यंतर मन की तैयारी नहीं होती है फलस्वरुप उसकी भोगैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा चुड़ैल बनकर वैरागी को संताप दिया करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि वैरागी के पास गुरुकुलवास थोड़ा भी न रहा हो, तथा स्वाध्याय बल भी न हो तो इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट हुआ वह साधक सच्चा साधक नहीं बन सकता।

शरीर में शक्ति होगी तो आत्मा में भी शक्ति आयेगी, यह समझकर

आत्मा का ख्याल रखे बिना शरीर के खोखे में जिन्दगी पसार करके उसकी आत्मा कभी भी शकत नहीं हुई हैं। आत्मा से शक्तिहीन हुए तथा जिन्हे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वैसे आत्माओं को इतना भी सत्यज्ञान नहीं होती है कि शरीर और आत्मा सर्वथा भिन्न हैं इसलिए केशरी दूध तथा माल मिष्टान्न से भरपूर रहे हुए शरीर से आत्मा में शक्ति कैसे आयेगी ? इस तरह अज्ञान के कारण सारी जिंदगी शरीर को पोषने पर भी आत्मा को सम्यग्ज्ञान से परिपुष्ट नहीं कर सकते, तब भाग्य में सिर्फ भोगैषणादि शेष रहने पाय उसमें क्या आश्चर्य है ?

भगवान महावीरस्वामी के समवसरण में उनकी वाणी सुनने के लिए लाखों करोड़ों की संख्या में मानव समुदाय एकाग्र होकर बैठा है, जिनमें कई ज्ञानी हैं, कई ज्ञानेच्छु हैं, और खास करके इस विषय में देवाधिदेव भगवंत क्या कहते हैं यह जानने की तमन्ना रखते हैं। भावदया से पूर्ण और जीवमात्र को सत्यज्ञान की प्रभावना कराने में दृढ़ प्रतिज्ञावाले गौतम-स्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! निम्नलिखित भाव क्या आत्मा से अतिरिक्त जड़ पदार्थ में परिणमित नहीं होते ? सारांश कि यह भाव जीव में भी रहते होंगे ? जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! इस संसार में चेतन और जड़ को छोड़कर और कोई तत्त्व नहीं है क्योंकि दोनों का मिश्रण ही संसार है। फिर भी दोनों के धर्म भिन्न होते हैं। चेतन के धर्म जड़ में नहीं होते और जड़ के धर्म चेतन में नहीं होते।

यहां फिर से आत्मा के लिए हम जान लें कि सत्यज्ञान के सद्भाव में आयंबील तपश्चर्या द्वारा रूखे सूखे भोजन करनेवाले, एकासणे द्वारा एक वक्त खानेवाले और उपवासादि द्वारा चारों प्रकार के आहार का त्याग करनेवालों की आत्मा दिनप्रतिदिन पवित्र बनती जाती है, जिससे अपने संयम काल में एक भी पाप करने की तथा किये हुए पापों को याद करने की इच्छा नहीं होती ! जिससे जैन सूत्रकारों ने कहा कि "सत्यज्ञान ही आत्मा की शक्ति है।"

१ से १८ प्राणातिपातादि पापस्थानक

(१९) औत्पातिकी बुद्धि– समय पर तात्कालिकी बुद्धि ।

(२०) वैनयिकी बुद्धि– वडीलों के विनय से उपार्जित बुद्धि ।

(२१) कार्मिणीबुद्धि– कार्य करते हुए जो बुद्धि हो वह ।

(२२) पारिणामिकी— वय की परिपक्वता से होती है ।

(२३) अवग्रह मतिज्ञान— सामने कुछ दिख रहा है, अर्थात् और कोई नहीं पर मानव है ।

(२४) इहामतिज्ञान— सामनेवाला आदमी पंजाबी होगा ।

(२५) अवायमतिज्ञान– दूसरे ज्ञान का परिहार होने से सामनेवाला पंजाबी है ।

(२६) धारणामतिज्ञान– मस्तिष्क में उन ज्ञान के संस्कार पड़े वह ।

(२७) उत्थान– आत्मा की विद्यमानता में काया का व्यापार ।

(२८) कर्म– भोक्तृत्व पद धारक आत्मा का व्यापार

(२९) बल– भोक्ता से प्रेरित होकर शरीर में प्रयत्न विशेष हो वह ।

(३०) वीर्य– वस्तु प्राप्ति के लिए आत्मा में पराक्रम विशेष ।

(३१) पुरूषाकार– पुरूषार्थ विशेष ।

(३२) नारकत्व– जिससे सातों नारकों की प्राप्ति हो ।

(३३) देवत्व– जिससे देवलोक की प्राप्ति हो ।

(३४) पांच स्थावर– जिस कर्म से स्थावरत्व प्राप्त हो ।

(३५) विकलेन्द्रियत्व– जिससे दो, तीन, चार इन्द्रियों की प्राप्ति हो ।

(३६) ज्ञानावरणीयादि आठों कर्म ।

(३७) कृष्णादि छः लेश्याएं ।

(३८) तीनों दृष्टि।

(३९) चारों दर्शन।

(४०) मतिज्ञानादि पांच ज्ञान।

(४१) तीन अज्ञान।

(४२) आहारादि चार संज्ञा।

(४३) औदारिकादि पांच शरीर, तीन योग, दो उपयोग। उपर्युक्त तथा उनके जैसे अन्य भाव चेतन में होते हैं, जड़ में नहीं होते।

चेतना शक्ति जिसमें बिलकुल नहीं, ऐसे जड़ पदार्थों में उपर्युक्त एक भी भाव नहीं होता। यह सारी बातें देवाधिदेव भगवान महावीर-स्वामी ने कही है। अन्य दर्शनवाले जो पुरुष और प्रकृति को मानते हैं, वे यह कहते हैं कि-पुरुष सर्वथा निर्दोष, निर्लेप अकर्ता और केवल द्रष्टा होने से कुछ भी नहीं करता, जब कि संसार की माया के नाटक जिसमें खाना, पीना, उठना बैठना, शादी करना आदि क्रियाएँ रही हुई हैं, यह सब प्रकृति करती है, जो जड़ है। किन्तु उपर की मान्यता इसलिए तथ्यपूर्ण नहीं है कि पुरुष से प्रेरित हुए बिना जड़ पदार्थ कुछ भी नहीं कर सकता, चेतना शक्ति जाने के बाद मृत शरीर को कुछ भी प्रवृत्ति करते हुए आपने देखा है? शरीर और आंख-कान-नाक-स्पर्श आदि सब पूर्ववत् होने पर भी सारा संसार एक अनुभव कर रहा है कि, जड़ प्रकृति सिर्फ साधन है जो परतंत्र होती है और जीवात्मा खुद स्वतंत्र होनेसे हरएक क्रिया का कर्ता है। सर्वकार्यों में क्रिया करनेवाला आत्मा सर्वथा स्वतंत्र होनेसे कर्ता है, जिसकी प्रेरणा बिना कर्म, करण, संप्रदान, अपादान व अधिकरणादि सर्वथा निष्क्रिय है।

दूसरी बात यह है कि प्रकृति को कर्ता मान लें तो अठारह पापों को प्रकृति करे और उनसे उपार्जित नरकादि के दुःख (फल) पुरुष आत्मा

भुगते यह कैसे हो सकता है ? और यदि हो तो संसार की सब व्यवस्था में गड़बड़ हो जायेगी। किन्तु अनादिकाल से चलते इस संसार के संचालन में किसीने भी गड़बड़ नहीं देखी और कोई कभी देख भी नहीं सकेगा। इस कारण से दिव्यज्ञान के स्वामी देवाधिदेव भगवान महावीर-स्वामी ने कहा कि आत्मा ही क्रिया करता है और भुगतता है और संसार के सारे कर्मों को निर्मूल करके निर्वाणपद आत्मा ही पाता है।

चींटी, कोटक, गाय, कुत्ते, कौआ और मानव आदि चेतनावंत होनेसे अपने जीवन-मरण-सुख तथा दुःख आदि में सतर्क रहते है। रेल गाडी की पटरी पर चींटीयां फिरती हो कि सर्प आदि फिरते हों और उसी वक्त गाड़ी के आने का वक्त हो तब पटरियां धमधम करती हो तब भयसंज्ञा से प्रेरित होकर अपने प्राण बचाने के लिए पटरी से नीचे उतरने का प्रयत्न करते हैं। जब कि रेलगाड़ी का इन्जिन चाहे लाखों टन वजन को ले जाता हो तो भी सर्वथा जड़ होनेसे उसे ज्ञान-अज्ञान उसमें उपयोग तथा संज्ञा आदि कुछ भी नहीं होता है, जिससे अपना निर्णय खुद कर सके। इसलिए जड़ पदार्थ सिर्फ पुरुष प्रेरित होकर गतिवंत बनता है, इसी कारण से इन्जिन में स्वाभाविकी गति नहीं पर प्रायोगिकी गति है और प्रयोग करके चलानेवाला ड्राइवर मानव होनेसे चेतनवंत है।

प्रश्न का सारांश यह है कि जीवात्मा को पुण्यपापादि नहीं है, तो फिर पौद्गलिक पदार्थों से दूसरे जीव का उपद्रवण, ताड़न, तर्जन, मारण, पीड़न, हनन, बंधन और आखिर प्राण वियोजन भी होता है, यद्यपि पुद्गलों के प्रयोग करनेवाले को जीव हिंसा है परन्तु पथ्थर से, लोहे के टुकड़े से या अन्य किसी शस्त्र से नुकसान हुआ है, माना कि पुद्गल जड़ होनेसे जीव हिंसा के मालिक नहीं बनते, फिर भी वह पथ्थर भूतकाल में किसी भी जीव का शेष रहा हुआ पुद्गल होनेसे अब वह जीव चाहे कोई भी हालत में होगा फिर भी उसे पाप लगे बिना नहीं रहेगा। इस तरह

दूसरे पुद्गल चाहे वह बंदूक तलवार, रीवाल्वर, बम, कुल्हाडी, लकड़ा, डंडा, चाकु, दातली दोरी, रस्सा तथा दंडासन भी हो, तो वह पुद्गल जितके शेष रहे होंगे उनके मालिक को पाप की असर लगती ही है; चाहे वह व्रतधारी हो, मुनि हो, प्रतिमाधारी हो, मंदिर के गभारे में परपात्माके समक्ष खड़ा हुआ वह भाग्यशाली क्यों न हो, उसे पाप लगकर रहेगा। गतभव में या दूसरे किसी भव में श्रीमंताई के साथ मृत्यु हुआ जीव अब जहां कहीं भी होगा वहां उस भव की शेष रही हुई श्रीमंताई द्वारा सेवे गये पापों का बोझा उसे लगेगा। अपने अनंत भवों की स्त्रियों या जिन्होंने ज्ञानवैराग्यपूर्वक त्याग नहीं किया है इसलिए उन स्त्रियों की आत्माएँ कहीं भी पापकर्म करेंगी तो उन स्त्री का त्याग नहीं करनेवाले पुरुष को भी पाप का थोड़ा हिस्सा लगता है।

अनंत संसार की अनंत माया में यही वैचित्र्य है कि जीवात्मा के सिर पर अनंत भवों के किये हुए पाप और शेष रहे हुए पुद्गल अब जो भी पाप करते होंगे उन सब पापों से जीव को मुक्ति नहीं मिलेगी। ऐसी स्थिती में आत्मकल्याण कितना महंगा है? और कितना सस्ता है? इसलिए पूजा के ढाल में वीरविजयजी महाराज ने कहा है :

'तुम आगम आरिसो जोवता रे लोल
दूर दिठुं छे शिवपुर शहेर रे'। मने संसार .....

आँखे बंद करके मंदिर में बैठे हो या कायोत्सर्ग में बैठे हो या. खड़े हो, तब जो जो औदयिक, वैकारिक, वैभाविक व तामसिक भाव अपने को सताकर ध्यान भग्न करते हो, तब उनके प्रति सूक्ष्म ज्ञान मात्रा हम रखे तो जान पायेंगे कि इस चालु भव की माया से भी भूतकाल में भोगी हुई माया कितनी जबरदस्त ताकतवाली होती है? कौन से भव की कौन सी बात पुद्गल, स्त्री, बालक, द्वेषी, रागी, वगैरह हमारी समझ या स्मृति में कौन से रुप में कहां से आ जाते हैं, जिसके कारण वीतराग के

मंदिरों में, पौषध व्रत में तथा कायोत्सर्ग में भी हम रागी और द्वेषी बनकर लिए हुए व्रत को प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए तैयार बनते हैं या तो फिर तोड़ देते हैं।

इस भव की गृहस्थाश्रमी में व्रतधारी बनकर और खास करके 'स्वस्त्री संतोष' की मर्यादा करने के बाद यदि किसी वक्त, किसी परिस्थिति और स्थान में मदमाती स्त्री को देखते हैं, तब उस स्त्री का शरीर पुद्गल इस भव में अपने विलास में आनेवाला नहीं है फिर भी रोमरोम में चंचलता कहाँ से? वह शायद पूर्व भव में राग संबंधी होगी? तो पक्षपात करने की तथा द्वेष संबंधी होगी? तो उसे तिरस्कृत करने की वृत्ति और प्रवृत्ति कहां से और कैसे हुई?

मन-वचन और काया का त्याग करने के बाद चौरासी आशातना का संपूर्ण खयाल है फिर भी देरासर में आने के बाद अमुक प्रसंग के कारण हम रागद्वेष में खिंचे जाते हैं, उस वक्त थोड़ा सोचेंगे तो पता चलेगा कि हमें मंदिर की सीढ़ी पर, रंगमंडप में गभारे में भी पौद्गलिक प्रसंग के कारण रोष क्यों आता है? प्रसंग पौद्गलिक का हो या चेतनावंत आदमी का हो फिर भी वे उस वक्त के लिए तुम्हें रोषित कर देते हैं और धर्म-ध्यान से भ्रष्ट कर के आर्तध्यान की ओर ले जाते हैं। माना कि तुम्हें पौद्गलिक प्रसंग के साथ व्यक्तिगत संबंध नहीं था, फिर भी आप को धर्मध्यान से चलित करानेवाले उन दोनों का आप के पूर्व भव के साथ कुछ न कुछ संबंध जरूर होना चाहिए।

इत्यादि अगणित कारणों को हम स्पष्ट रूप से न भी जाने, फिर भी आप का जीवन बिगाड़ने में निमित्त तो बनते ही हैं।

इन सब अगम्य कारणों के साक्षात्कार करनेवाले केवली भगवंत से भव आलोयणा की, बारबार मिच्छामि दुक्कड़म् की, किये हुए अपराधों

की माफी मांगने की और धीरे धीरे उन पापों को त्यागने की सिफारिश की है उपर्युक्त कारणों से सर्वथा सार्थक हो पाता है।

गर्भगत जीव को वर्णादि कितने ?

हे प्रभो ! गर्भ में रहे जीव को वर्ण, रस गंध और स्पर्श कितनी संख्या में होते हैं ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! गर्भगत जीव को पांच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श होते हैं हैं। क्योंकि कर्मों के कारण शरीर संबंध से जुड़े हुए जीव को शरीर लिए बिना और कोई चारा नहीं, उसके लिए उनके पास सब वर्णादि होते हैं। ज्यादा हकीकत बारहवें शतक के पांचवें उद्देशक में देखने को सिफारिश की है। यावत् जब तक कर्मों की वर्गणा और परंपरा है तब तक शरीर है।

भगवंत की वाणी सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि, हे प्रभो ! आप की वाणी सच है, हम उसे श्रद्धामय बनाते हैं।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ३ पूर्ण ॥

शतक- २० वाँ : उद्देशक- ४

इंन्द्रियों की वृद्धि के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवंत ने पांच प्रकार कहे हैं। वह इस तरह - श्रोत्रेन्द्रियोपचय, नेत्रेन्द्रियोपचय, रसनेन्द्रियोपचय, घ्राणेंद्रियोपचय और स्पर्शेन्द्रियोपचय शेष बात प्रज्ञापना सूत्र के १५ वे पद के दूसरे उद्देशक से जान लेने की सिफारिश की है। जिससे इन्द्रियों को योग्य पुद्गलों का ग्रहण हो वह इन्द्रियोपचक है। उपचय यानि वृद्धि। पूर्वभव में उपार्जन किये हुए इन्द्रिय पर्याप्ति नामकर्म के आधीन होकर तथा प्रति समय ग्रहण किये जाते इन्द्रिय पुद्गलों से उसका उपचय होता है।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ४ पूर्ण ॥

शतक २० वाँ : उद्देशक ५

परमाणु में वर्णादि कितने ?

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श यह चारों पुद्गलो में ही होते हैं। इससे गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभो ! पुद्गल परमाणु में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने होते हैं ? जवाब में भगवंत ने कहा कि हे गौतम ! पुद्गल के एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श अवश्यमेव रहे हुए हैं। इन सब के बीस भेद हैं। जिनमें से परमाणु में पांच गुण और स्कंध में बीस गुण की विद्यमानता जाननी। द्विप्रदेशिक से अनंत प्रदेशिक स्कंध जानने। यानि कि एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिले वह द्विप्रदेशिक। इस तरह अनंत परमाणु इकट्ठे हो वह अनंत प्रदेशिक कहलाते हैं।

शित, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष इन चार स्पर्श में से परमाणु में दो स्पर्श जानने हैं। शीत और उष्ण तथा स्निग्ध और रुक्ष परस्पर विरोधी होनेसे दोनों में से एक स्पर्श समझना। जैसे कि शीत और स्निग्ध, उष्ण और स्निग्ध, शीत और रुक्ष तथा उष्ण और रुक्ष।

परस्पर विरुद्ध दो परमाणु जब इकट्ठे हो तब उसे स्कंध कहते हैं, जिसकी चर्चा प्रथम और द्वितीय भाग में हो गई है।

इकट्ठे हुए परमाणु में कोई परमाणु श्याम, श्वेत, पीला, नीला और लाल इनमें से एक वर्ण का हो, पांच रसमें से एक रस का, दो गंध में से एक गंध का और चार स्पर्श में दो स्पर्श हो। इस तरह पांच गुण समझना।

परमाणु में कार्यत्व रहा होने से, स्कंध जिस वर्ण का होगा उससे

विभाजित हुए परमाणु में भी वही वर्ण रहेगा, जैसे कि काले रंग का स्कंध होगा तो उसका परमाणु भी उसी वर्ण का होगा। इसलिए वह परमाणु काले वर्णवाला कहलायेगा। इस तरह अन्य वर्ण के लिए भी जानना। पांच रस, दो गंध और स्पर्श में से कोई भी रस, गंध या स्पर्श होंगे, तो परमाणु में भी वही रसादि रहेंगे। स्पर्श में यदि स्निग्ध या रुक्ष इन दोनों वर्णों में एक स्पर्श के साथ शीत और उष्ण में से एक शेष रहनेसे दो स्पर्श और उपर के तीन गुण मिलने से पांच गुण परमाणु के समझने।

परमाणु में कारणत्व भी रहा होनेसे दो परमाणु जब इकट्ठे होंगे तब वे चाहे स्निग्ध होंगे या रुक्ष होंगे। पर दोनों परमाणु रुक्ष अथवा स्निग्ध हो तो बंध नहीं होता। और अकेला परमाणु संसार के लिए कुछ भी करने की क्षमता नहीं रखता। पर स्कंध तथा स्कंधों से संसार का व्यवहार चलता है। इन सब में वर्णादि की व्यवस्था नीचे दी गई है।

भगवंत ने फरमाया कि जब दो परमाणु इकट्ठे हो तब वे दोनों एक वर्ण के, एक रस के, एक गंध के हों और यदि स्पर्श भी एक समान हो तो द्विप्रदेशिक स्कंध भी एक वर्ण, एक गंध, एक रस और स्पर्श दो की संभावना समझनी है। किन्तु इकट्ठे होनेवाले दोनों परमाणु भिन्न भिन्न वर्ण के हो, जैसे कि एक परमाणु काला और दूसरा सफेद एक, तीखे रस का, दूसरा कडवे रस का,। एक सुगंधी, दूसरा दुर्गंधी। तब द्विप्रदेशिक स्कंध भी दो वर्ण, दो रस और दो गंध का कहलायेगा, स्पर्श दो–तीन या चार होते हैं। इसका स्पष्टार्थ इस तरह है। दूसरे परमाणु को मिलनेवाला यदि सफेद वर्ण का हो तो मिलनेवाला परमाणु पांच वर्ण में किसी भी वर्ण का हो सकता है। सामनेवाला तीखे रस का हो तो मिलनेवाला दूसरा परमाण रुक्ष होना चाहिए और शीत व उष्ण दोनों में से कोई भी हो तब स्कंध दो स्पर्शवाला कहलायेगा। जैसे शीत + स्निग्ध, शीत + रुक्ष, उष्ण + स्निग्ध, तथा उष्ण + रुक्ष।

द्विप्रदेशिक स्कंध में तीन स्पर्श नीचे दिये गये हैं। सर्वांशे वह दोनों परमाणु शीत हो तब एक देश में स्निग्ध और दूसरे देश में रूक्ष होनेसे तीन स्पर्श होंगे। चार स्पर्श इस तरह, एक देश शीत, दूसरा उष्ण और दोनों में से एक देश स्निग्ध और दूसरा रूक्ष होनेसे द्विप्रदेशिक स्कंध चार स्पर्शवाला भी होगा। शेष वर्णन मूल सूत्र से समझना त्रिप्रदेशिक स्कंध के लिए भगवंत ने कहा कि उनमें शायद एक दो या तीन वर्ण हो सकते हैं। मिलनेवाले तीनों परमाणु एक ही वर्ण के होने से त्रिप्रदेशिक स्कंध भी एक वर्ण का होगा एक परमाणु में एक वर्ण और मिलनेवाले दोनों परमाणु में दूसरी जात का एक ही वर्ण होनेसे दो वर्ण और तीन परमाणु भिन्न भिन्न वर्णों से तीन वर्ण का त्रिप्रदेशिक स्कंध बनेगा। इस तरह अनंत प्रदेशिक स्कंध के लिए भी जानना है, जो मूल पाठ में स्पष्ट है।

परमाणु कितने प्रकार से हैं ?

भगवंत ने निम्नलिखित चार परमाणु कहे है-द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु, भाव परमाणु।

द्रव्य परमाणु :- अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य रुपसे चार प्रकार के हैं।

क्षेत्र परमाणु :- अनर्घ समान संख्या का अभाव होने से परमाणु का आधा हिस्सा नहीं होता है।

अमध्य :- विषम संख्या का अभाव होनेसे उसमें मध्यभाग नहीं होता।

अप्रदेश :- एक प्रदेश से अतिरिक्त दूसरे का अभाव होनेसे वह अप्रदेशी है।

अविभागिम :- स्वयं एक प्रदेशिक होनेसे दूसरे प्रदेश का अभाव है।

काल परमाणु :- काल की अपेक्षा से अवर्ण, अगंध अरस और अस्पर्श होता है।

यद्यपि पामाणु वर्णादि से युक्त होते हैं; फिर भी उसकी विवक्षा यहां नहीं की है।

भाव परमाणु :- पूर्णादि सम्पन्न है

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ५ पूर्ण ॥

शतक २० वाँ : उद्देशक ६

पृथ्वीकायादि के उत्पाद की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! रत्न प्रभा तथा शर्कराप्रभा नरक पृथ्वी के बीच रहा हुआ पृथ्वीकायिक जीव मरण समुद्घात करके सौधर्म देवलोक में पृथ्वीकायिक रुपसे उत्पन्न होने के योग्य है ? उत्पन्नान्तर आहार करता है ? अथवा प्रथम आहार करके बाद में उत्पन्न होता है ?

जवाब में भगवंत ने कहा कि पहले आहार करता है, बाद में उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न होने के बाद आहार करता है।

अतितीव्र मरणांत दुःख से पीड़ित जीव अन्तमुहुर्त प्रमाण आयुष्य शेष रहे तब आत्मप्रदेशों से मुखादि छिद्रों को भर देता है, लंबाई और चौड़ाई अपने शरीर जितनी रखते हैं और लंबाई में जिस स्थान में उत्पन्न होना है, उतने क्षेत्र में अन्तर्मुहुर्त में मृत्यु होकर आयुष्य कर्म के कई पुद्गलों का नाश करते हैं उसे मरणांत समुद्घात कहते हैं। कोई एक जीव समुद्घात करके भवांतर में उत्पन्न होते है, बाद में आहार करते हैं तथा शरीर की रचना करते हैं। तथा दूसरा जीव समुद्घात करके वापिस अपने शरीर में आकर पुनः समुद्घात करके भवांतर में उत्पन्न होता है। जीवों का समुद्घात दो प्रकार से है। जब देश से समुद्घात करते हैं तब मरण समुद्घात से निवृत्त होकर, पहले के शरीर को छोड़कर गेंद की गती से जाते हैं। इसलिए प्रथम उत्पन्न होते है बाद में आहार करते हैं। किन्तु सर्व समुद्घात में इलिका गति से वहां जाते हैं फिर शरीर का त्याग करते है, इस कारण से पहले आहार करते हैं बाद में उत्पन्न होते हैं।

इस तरह रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा के बीच समुद्घात करता हुआ पृथ्वीकायिक ईशान कल्प में यावत् ईषत् प्रागभारा तक जानना। पृथ्वीकायिक जीव सौधर्म, ईशान्य, सनत्कुमार माहेन्द्र, कल्प के बीच मरण समुद्घात करके पहली भूमि में पृथ्वीकायिक रुपे उनकी उत्पति पहले की तरह समझनी, यावत् शर्कराप्रभा से सातवीं तक जानना है।

अपकायिक जीवों के लिए उपर की तरह तथा सातों पृथ्वीओं के वनोदधि और धनोदधि वलयों में भी पूर्ववत् समझना है।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ६ पूर्ण ॥

शतक २० वाँ उद्देशक – ७

बंध की विशेष वक्तव्यता :

हे प्रभो ! बंध के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवंत ने निम्नलिखित तीन बंध कहे हैं :

(१) जीव प्रयोग बंध :-- मन, वचन और कायाके सूक्ष्म या बादर व्यापारों से कर्म पुदगलों का आत्मा के साथ जो संबंध होता है वह जीव प्रयोग बंध है।

(२) अनंतर बंध :-- कर्म पुदगलों के बंध होने के बाद के वक्त जो बंध होता है वह अनंतर बंध है।

(३) परंपर बंध :-- और द्वितीयादि के वक्त होनेवाले बंध को परंपर बंध कहते हैं।

यह तीनों बंध २४ दंडको के लिए हैं।

नोंध :-- इस सूत्र से कर्मों का बंध जीवात्मा के मन, वचन और काया के व्यापार के आधीन है परंतु ईश्वर के आधीन नहीं इसलिए जीव स्वतंत्र है।

"ईश्वर सब से पहले मनुष्य की बुद्धि बिगाड़ता है, उसके बाद वह आदमी दुष्कृत्य करता है" यह सिद्धांत सच नहीं क्योंकि भवभवांतर में अपने किये हुए ज्ञानावरणीयादि के कारण आदमी दुर्बुद्धि का मालिक बनकर पुनः पुनः ज्ञानावरणीयादि कर्मों को बांधता है। क्योंकि उसके अवान्तर भेद में मतिज्ञानावरणीय कर्म भी समाहित होनेसे उनकी तीव्रता के कारण आदमी की बुद्धि मलिन, पापोन्मुखी, हिंसक, बैर - विरोध वर्धक और तामसिक होनेसे वह हमेशा दुर्बुद्धिमय रह पाता है।

चौबीस दंडकों में उदय प्राप्त ज्ञानावरणीयादि कर्म का बंध भी तीन प्रकार से है।

(१) उदय में आये हुए ज्ञानावरणीय कर्म का बंध पूर्वकाल की अपेक्षा से जानना।

(२) विपाक और प्रदेश इन दोनों रीत से ज्ञानावरणीय कर्म का वेदन होता है। यहां विपाकोदये वेदना लायक कर्म का बंध समझना है।

(३) ज्ञानावरणीय के उदय में जो कर्म बंधते हैं और वेदाते हैं उनका बंध जानना। (टीकाकार)

चौबीस दंडकों में उदय प्राप्त स्त्रीवेदना और उपचार से पुरुष तथा नपुंसक वेदना बंध यथायोग्य समझना।

तथैव दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, औदारिकादि शरीर, आहारादि संज्ञा, कृष्णादि लेश्या, सम्यगमिथ्या और मिश्रदृष्टि, मतिज्ञनादि ज्ञान, तीन अज्ञान आदि का बंध तीन प्रकार से पूर्ववत् जानना। यहां दृष्टि, अज्ञान, अपौद्गलिक है इसलिए इस सूत्र में बंध का अर्थ संबंध मात्र से विवक्षित जानना।

॥ शतक २० वां : उद्देशक ७ पूर्ण ॥

शतक २० वां : उद्देशक- ८

कर्मभूमि आदि की वक्तव्यता :

जवाब में भगवंत ने पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह रुप से पंद्रह कर्मभूमि कहीं हैं, जहां

(१) असि :- तलवार, चाकु, कुल्हाड़ी, तीर आदि शस्त्र विद्यमान होते हैं और उसको उपयोग में लानेवाले भी हैं।

(२) मसि :- लेखनादि के साधन होते हैं।

(३) कसि :- खेती, बाग, वाड़ी आदि होते हैं, उपर के तीनों कर्म होनेसे वह कर्मभूमि कहलाती हैं।

इस क्षेत्र में जन्मे हुए मानवों को राग है, द्वेष है, इसलिए कमा को बांधते हैं और जब संसार से उब जाते हैं तब वैराग्यवासित होकर कर्मों का हनन करते हैं। जहां राग द्वेष की प्रक्रिया होती है वहां वैराग्यादि की प्रार्दुभूति भी होती है।

जंबूद्वीप के छः पर्वतों के बीच सात क्षेत्र रहे हुए हैं उनमें से भरत, ऐरावत और महाविदेह को कर्मभूमि कही हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखंड और पुष्करावर्त में पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह की संख्या गिनते हुए पंद्रह भूमि होती है।

जहां उपरोक्त पदार्थ नहीं, हैमवत, हरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यक, देवकुरु तथा उतरकुरु, यह छः क्षेत्र भी पांच पांच की संख्या में होनेसे अकर्मभूमिओं की संख्या तीस की हुई है। जहां पुण्यकर्म की प्रचुरता होने से यह क्षेत्र भोगभूमि कहलाती है। महाविदेह क्षेत्र कर्मभूमि है फिर

भी तन्नस्थ देवकुरु और उत्तर कुरु नाम की दो अकर्मभूमि भी कही गई है। इनमें मनुष्यों के भेद में युगल जन्म लेते हैं, वे भोगप्रधान होने से अरिहंतों के धर्म की योगसाधना नहीं कर पाते। पुण्यकर्म की प्रचुरता के कारण कषाय भाव भी मंद होते हैं, इसलिए देवगति उनके लिए नियमा है। क्योंकि योग और भोग एक साथ नहीं रहते। फिर भी अपवादसे जुगार, मांस, भोजन, शराबपान आदि के कारण नरकभूमि भी नकारी नहीं जाती, तो फिर मनुष्यों के लिए क्या पूछना?

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की मर्यादा भरत और ऐरावत क्षेत्र के लिए है, जब कि महाविदेह क्षेत्र में सदैव चौथा आरा है।

महाविदेह क्षेत्र और पांच भरत तथा पांच ऐरावत क्षेत्र के बीच के बाईस तीर्थंकर, पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश नहीं करते। जब प्रथम और अंतिम तीर्थंकर पांच महाव्रत का उपदेश करते हैं और महाविदेह में चार व्रतों का धर्म है।

जंबूद्विप के भरतक्षेत्र में इस चालु अवसर्पिणी काल में ऋषभ, अजित संभव, अभिनंदन, सुमति, सुप्रभ, (पद्मप्रभु) सुपार्श्व, चंद्रप्रभु, पुष्पदंत (सुविधि) शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमी, पार्श्व और वर्धमान नाम के चौबीस तीर्थंकर हुए हैं।

उपर के चौबीस तीर्थंकरों के अंतरा तेईस जानने। जैसे ऋषभ और अजित का अंतर, अजित और संभव का तथा पार्श्व और वर्धमान का अंतर इनमें से ऋषभ से चंद्रप्रभ तक और शांतिनाथ से महावीरस्वामी तक आठ आठ अंतरा में कालिक श्रुत का विच्छेद नहीं हुआ। जब कि सुविधिनाथ धर्मनाथ तक के सात अंतरों में कालिक श्रुत का विच्छेद हुआ है। जिसका अध्ययन दिन और रात्रि के प्रथम तथा अंतिम प्रहर में हो वह आचारांगादि कहलाता है, और सब काल में जिसका अध्ययन हो वह दशवैका-

लिकादि उत्कालिक श्रुत है। जब दृष्टिवाद का विच्छेद सभी अंतरों में जानना है।

महावीरस्वामी का पूर्वगत श्रुत एक हजार साल तक रहेगा। और दूसरे तीर्थंकरों में से किसीके संख्याता और किसीके असंख्याता काले हैं।

महावीरस्वामी का शासन इक्कीस हजार साल तक रहेगा। और आनेवाली उत्सर्पिणी के अंतिम तीर्थंकर का शासन हजार साल तक न्यून एक लाख पूर्व का जानना। जैसे कि ८४ लाख पूर्व के आयुष्यवाले ऋषभदेव ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थाश्रम में रहकर आखिरी पूर्व में दीक्षा ली और हजार साल छद्मस्थ रहे उसके बाद केवलज्ञान हुआ।

अरिहंत नियमा तीर्थंकर होते हैं, पर तीर्थ नहीं होते। जब कि साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थ हैं। महाव्रतधारी की तरह अणुव्रतधारी भी तीर्थस्वरूप हैं।

अरिहंत नियमा प्रवचनी होते हैं, और आचारांगादि प्रवचन है।

उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वांकू, ज्ञान, कौरव्य कुल के क्षत्रिय यदि जैन शासन को मान्य करे तो सिद्ध बुद्ध यावत् निर्वाण होते हैं, और कई देवलोक में जाते हैं।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ८ पूर्ण ॥

शतक २० वाँ : उद्देशक ९

विद्या तथा चारणों की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! चारण कितने हैं

जवाब में भगवंत ने विद्याचारण तथा जंघाचारण यह दो प्रकार कहे हैं। अपनी लब्धि से आकाश मार्ग में सातिशय गमन करने की शक्ति विशेष के मालिक को चारण मुनि कहते हैं। उसमें पूर्वगत गमन करनेवाले को विद्याचारण और जंघा के व्यापार से गमन करनेवाले को जंघाचारण कहते हैं।

भगवंत ने फरमाया कि निरंतर छट्ठ (दो उपवास) की तपश्चर्या से और पूर्वगत श्रुतरुप विद्या द्वारा तपोलब्धि को प्राप्त किया हुआ मुनि विद्याचारण है। जिनकी आकाश में फिरने की शक्ति तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन की परिधिवाले जंबूद्वीप को कोई महार्द्धिक देव "यह करता हूँ" कह तत्काल तीन बार जंबूद्वीप की परिधि को गति द्वारा पूर्ण करता है। उनकी तिर्यग्गति एक उत्पात से मानुषोतर पर्वत पर स्थिर रहती है और वहां के चैत्य (जिनेश्वर देव के मंदिर) की वंदना करके दूसरे उत्पात में नंदीश्वर द्वीप के चैत्यों को, वाद के तीसरे उत्पात में वापिस लौटते हैं। आज का मानव एक फीट क्षेत्र में अपना पैर जमा सकता है जब सात्त्विक तप-जप-ज्ञान तथा पूर्वज्ञान आदि से लब्धि संपन्न मुनि एक पैर मानुषोतर दूसरा नंदीश्वर और तीसरा पैर अपने स्थान पर आकर जमा देता है।

एक उत्पात में नंदनवन, दूसरे में पांडुकवन और तीसरे में अपने स्थान पे आता है। शाश्वत-अशाश्वत जिन मंदिरों को प्रणाम करने के लिए लब्धिसंपन्न मुनि की यह गति है। इस तरह अरिहंत मंदिरों को वंदन, नमन, पवित्रानुष्ठान करने पर भी गमनागमन का यदि प्रतिक्रमण किया जाय तो वह आराधक है, अन्यथा आराधक नहीं होते, सारांश यह है कि अच्छे, शुद्धानुष्ठानों का भी प्रतिक्रमण आवश्यक है।

निरंतर अट्ठम अट्ठम (तीन उपवास) से जो लब्धि प्राप्त हो वह जंघा चारण है। विद्याचारण की लब्धि से जंघा चारण की लब्धि विशेष अधिक होती है, इसलिए देव की तीन पलक झपते ही यह मुनि २१ बार प्रदक्षिणा करते हैं। एक उत्पात से रुचकर द्वीप, दूसरे से नंदीश्वर द्वीप में और तीसरे उत्पात में अपने स्थान पर आ जाते हैं।

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक ९ पूर्ण ॥

शतक २० वाँ : उद्देशक १०

आयुष्यादि की वक्तव्यता :

हे प्रभो ! जीव सोपक्रम आयुष्यवाले हैं कि निरुपक्रम आयुष्यवाले हैं।

जवाब में भगवंत ने कहा कि, हे गौतम ! जीव दोनों प्रकार के आयुष्यबाले हैं।

नारक, देव, असंख्यात वर्ष के आयुष्यवाले तिर्यंच और मनुष्य उत्तम पुरुष और चरम शरीरवाले - निरुपक्रमी आयुष्यवाले होते है, शेष सारे जीव दोनों प्रकार के जानने।

समय पूर्ण होने के पहले शस्त्र, विष, पर्वत, से गिरना, नदी तालाब में पड़ना, सर्प, बाघ, सिंह आदि से मरना, ज्यादा भूख प्यास से मरना, आदि हो वह सोपक्रम अर्थात मरने के निमित्त मिले बगैरे बीच में जीवन-यात्रा सिमट लेना वह सोपक्रम आयुष्य को आभारी है।

नारक, नरक में आत्मोपक्रम, परोपक्रम और निरुपक्रम द्वारा उत्पन्न होते हैं।

अपनेअपने पूर्वभव के आयुष्य कम करके जो उत्पन्न होते हैं वह आत्मोपक्रय कहलाते हैं।

दूसरों द्वारा पूर्वभव का आयुष्य कम करके जो उत्पन्न हो वह परोपक्रम और आयुष्य को कम नहीं करके जो उत्पन्न होते हैं वह निरुपक्रम है।

नारक नरक में से सिर्फ निरुपक्रम द्वारा उद्वर्णित होते हैं। पर अपने आप या परायों से उनके आयुष्य का क्षय नहीं होता। देवों के लिए भी जानना है।

जब पृथ्वीकायिक से लेकर मनुष्य तक के जीव तीन प्रकार से उद्वर्तित होते हैं।

नारक कति संचित, अकति संचित और अव्यक्त संचित होते हैं।

दूसरी गति में से आकर एक ही वक्त संख्याता उत्पन्न हो वह अकति संचित और एक ही उत्पन्न हो वह अव्यक्त संचित, जिनमें दो संख्या से शीर्ष पहेलिका तक गिनती हो वह संख्याता कहलाता है, और उसके बाद असंख्याता।

नारक तीन प्रकार के हैं, क्योंकि एक ही वक्त एक से लेकर असंख्याता तक के जीव नरक में जानेवाले होते हैं।

पृथ्वीकायिकादि पांच दंडक अकतिसंचित हैं। क्योंकि एक ही वक्त में असंख्याता उत्पन्न होते हैं और वनस्पतिकायिक अनंत हैं।

सिद्धात्मा अकति संचित नहीं, क्योंकि एक ही वक्त एक से लेकर संख्यात तक के जीव सिद्ध होते हैं।

ऋषभदेव के निर्वाण के वक्त १०८ की संख्या में सिद्ध हुए हैं, जय हो सिद्ध भगवंतों का! और केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले पुण्यात्माओं का!

॥ शतक २० वाँ : उद्देशक १० पूर्ण ॥

* समाप्ति वचन *

अज्ञानिओं के अज्ञानांधकार को दूर करने में देदीप्यमान सूर्य जैसे, संयम और ब्रम्हचर्य की साधना से प्रज्वलित शुक्र के तारे जैसे, उपदेशामृत से जीवात्माओं के कषाय को शान्त करने में चन्द्र जैसे, जर्मन, फ्रांस, इटली, अमरीका, योरोप आदि देशों के विद्वानों को जैन धर्म का परिचय करवाने में ब्रम्हा जैसे।

स्याद्वाद-नयादि तत्व द्वारा भारतीय विद्वानों की रक्षा करने में विष्णु जैसे, और अज्ञान-मिथ्याभ्रम तथा रुढीवाद को हटाने में शंकर जैसे शास्त्र-विशारद, जैनाचार्य १००८ श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज, देवाधिदेव, भगवान महावीरस्वामी की ७४ वीं पाटपरंपरा को देदीप्यमान करके जगत में अमर हुए हैं। उनके बहुत से शिष्यों में शासनदीपक, स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज अपनी साहित्य रचना, वक्तृत्वकला आदि सद्गुणों से जैन जैनेतरों में प्रसिद्ध हुए हैं। उनके शिष्य न्याय व्याकरण, काव्यतीर्थ पन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमारश्रमण) ने अपने श्रुतज्ञान के अभ्यास के लिए, मतिज्ञान के विकास के लिए और स्वाध्याय की वृद्धि के लिये भगवतीसूत्र जैसे आगम ग्रंथ पर यथामति विवेचना की है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्।
सर्वे जीवा अहिंसा तत्त्व प्राप्नुयुः॥

भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग तीसरा

❀ समाप्त ❀

सं. २०२५, अक्षय तृतिया, बम्बई सान्ताक्रुझ (वेस्ट) के उपाश्रय में यह गुजराती प्रस्तुत पुस्तक संपन्न हुआ।

जब. २०३९ आषाढी पूर्णिमा को हिन्दी अनुवाद बरली के उपाश्रय में सम्पन्न हुआ।

लेखक के अन्यान्य ग्रन्थ

गुजराती भाषा के चारों भाग में भगवतीसूत्र की समाप्ति है।

(१)	भाग–३	१०–००
(२)	भाग–४	१०–००

भगवतीसूत्र हिन्दी :

भाग–१	१०–००
भाग–२	१०–००
भाग–३	१५–००

प्राप्तिस्थान :

(१) पं० पूर्णानन्द विजय
त० संभवनाथ जैन देरासर,
पंकज मेन्शन, B, बुद्ध मंदिर के पीछे,
वरली, बम्बई–०० ०१८.

जगजीवनदास कस्तूरचंद संघवी
[illegible] (साबरकांठा),
जग३८३३४०

४२७०